मधुर

दिव्य श्रीराधा-माधव-प्रेम की झाँकी



हनुमानप्रसाद पोद्दार

गीताप्रेस, गोरखपुर

दो शब्द

भगवान् श्रीराधा-माधवकी दिव्यातिदिव्य परम मधुर लीला अप्राकृत जगत्में नित्य-निरन्तर चलती रहती है। उसका कहीं न आदि है, न अन्त। जिस प्रकार श्रीराधा-माधव नित्य सच्चिदानन्दमय हैं, उसी प्रकार उनकी लीला भी नित्य सच्चिदानन्दस्वरूपा है। वह देश और कालकी सीमासे परे है। श्रीराधा-माधवकी विशेष कृपासे ही किसी विरले भाग्यवान् भागवत-जनके मानस-पटलपर उन नित्य-नवीन, नित्य-वर्धन-शील, नित्य-सरस लीलाओंका यत्किञ्चित् प्रकाश होता है। वे लीलाएँ इतनी मधुर हैं कि वाणीद्वारा उनका वर्णन सम्भव ही नहीं। उनका माधुर्य मूकास्वादनवत् केवल अनुभवगम्य है। हृदय उस दिव्य रसमें सराबोर होकर स्वयं रसमय बन जाता है। परंतु जिस प्रकार समुद्रकी तरङ्गें समय-समयपर कूलसे टकराती हैं और उस समय वे मुखरित होती हैं तथा तटवर्ती जनोंको उनका गम्भीर शब्द सुनायी देता है, उसी प्रकार जिनका हृदय प्रेम-पयोनिधिकी उत्ताल तरङ्गोंका क्रीडास्थल बन जाता है, उनकी वे भावतरङ्गें भी कूलसे टकराकर कभी-कभी मुखरित हो उठती हैं और जगत्के बहिर्मुख लोगोंको भी उनके दिव्य उद्गारोंके रूपमें उनके उस हृदय-स्थित रसके कतिपय सीकर उपलब्ध करनेका सौभाग्य प्राप्त हो जाता है और उनका अन्तःकरण क्षणभरके लिये उस रससे आविष्ट होकर रसमयताका अनुभव करने लगता है। प्रस्तुत प्रकाशन ऐसे ही कतिपय सीकरोंका संग्रह है, जो समय-समयपर 'कल्याण'के माध्यमसे 'मधुर' शीर्षकसे उसके भाग्यवान् पाठक-पाठिकाओंको प्राप्त हुए हैं। जो महानुभाव इन सीकरोंका एक साथ आस्वादन करना चाहते हैं, उनके सौकर्यके लिये इन वाङ्मय सीकरोंका पुस्तकरूपमें संग्रह किया गया है।' इस मधुमय संग्रहको प्रेमी पाठकोंकी सेवामें प्रस्तुत कर यह क्षुद्रजन अपनेको धन्य मानता है।

प्रेमीजनोंकी चरणरज—चिम्मनलाल गोस्वामी

7

नम्र निवेदन

'मधुर' शीर्षकसे 'कल्याण'में बहुत समयसे भगवान् श्रीकृष्ण, उनकी अभिन्नस्वरूपा श्रीराधाजी एवं महाभागा गोपाङ्गनाओंके दिव्य त्यागमय प्रेमकी उनके पारस्परिक उद्गारोंके रूपमें झाँकियाँ प्रकाशित होती रही हैं; उन्हींमेंसे ७२ झाँकियोंका 'मधुर'के नामसे ही यह पुस्तकरूपमें प्रकाशन है। इनमें कुछ खड़ी बोलीके पद हैं, कुछ व्रजभाषाके और कुछ मिश्रित। इसीके अनुसार तालव्य 'श' 'ण' पञ्चम वर्ण आदिकी वर्तनीमें भेद है। पवित्रहृदय भावुक पाठक-पाठिकागण इन 'मधुर' झाँकियोंके श्रद्धापूत हृदयके दिव्य नेत्रोंसे दर्शन कर इन्हें हृदयमें उतारें और इनमें दीखनेवाले एक ही नित्य-सत्य दिव्य चिन्मय मधुरातिमधुर मधुरको प्राप्त करनेमें—जो जीवनका परम पुरुषार्थ है—सफल हों, यह श्रीराधा-माधव-मधुरसे प्रार्थना है।

—प्रकाशक

झाँकियोंमें आये पदोंकी सूची



शृगार : मर्यादित

मधुर

[दिव्य राधा-माधव-प्रेमकी मधुर झाँकी]

झाँकी १

(प्रेममूलक त्याग या गोपीभाव)

त्यागकी बड़ी महत्ता है, त्यागसे ही जीवनका यथार्थ विकास होता है, त्यागसे ही शान्ति प्राप्त होती है; परंतु त्यागका ठीक-ठीक स्वरूप समझना आवश्यक है। 'भोगमूलक त्याग' वास्तविक त्याग नहीं होता, 'प्रेममूलक त्याग' ही त्याग होता है। प्रेममूलक त्यागमें निम्नलिखित बातें होती हैं, जो भोगमूलक त्यागमें नहीं होतीं—

(१) त्यागके अभिमानका अभाव।

(२) त्याग करके किसीपर अहसान न करना, त्यागके द्वारा किसीको कृतज्ञ बनानेका भाव न होना।

(३) त्यागमें कठिनताका बोध न होना।

(४) त्यागमें सुखका अनुभव।

(५) त्यागमें प्रदर्शनका अभाव।

(६) त्यागका कोई बदला या फल न चाहना।

(७) त्याग किये बिना सहज ही रहा न जाना। त्यागमें महत्त्व-बोधका अभाव।

वात्सल्य-स्नेहमयी माता अपनी प्रिय सन्तानके लिये त्याग करती है। रातको छोटे शिशुने बिछौनेमें मूत दिया, बिछौना गीला

हो गया, जाड़के दिन हैं, माँको पता लगते ही वह स्वयं गीलेमें सो जाती है, बच्चेको सूखेमें सुला देती है। ऐसा करके न तो माँ कोई अभिमान करती है, न बच्चेपर अहसान करती है, न उसे कठिनताका बोध होता है, ऐसा करनेमें उसे सहज सुख मिलता है, वह इसे किसीको दिखानेके लिये नहीं करती, न कोई बदला या मान-बड़ाई चाहती है, वरं स्नेहवश उससे ऐसा किये बिना रहा ही नहीं जाता। इसी प्रकार प्रेम-प्रतिमा प्रेयसी अपने प्राणप्रियतमके लिये त्याग करती है; उसमें कहीं भी कोई उपर्युक्त दोष नहीं आ सकते। विशुद्ध अनुरागसे ही उसे त्यागकी सहज प्रेरणा मिलती है और विशुद्ध अनुराग या प्रेमकी प्राप्ति या वृद्धि ही उसका फल भी होता है।

इसके विपरीत जिस त्यागमें—'मैंने त्याग किया' यह अभिमान होता है, 'मैंने उसके लिये त्याग किया है, उसे मेरा अहसान मानना चाहिये—कृतज्ञ होना चाहिये'—यह भाव होता है, जिस त्यागमें बहुत कठिनाईका अनुभव होता है, जो त्याग करना पड़ता है, जिसमें सुखकी अनुभूति नहीं होती, जो त्याग दिखावेके लिये होता है, जिसका लोक-परलोकमें विशेष फल, बदला या मान-बड़ाईकी चाह होती है और जो त्याग किसी कारणसे होता है, किसी कर्तव्यबुद्धिसे होता है। ऐसा नहीं होता, जिसके किये बिना चैन ही न पड़े। ये बातें जिस त्यागमें हों, वह त्याग न्यूनाधिक भावसे भोगमूलक ही होता है। भोगमूलक त्याग भी बुरा नहीं है, परंतु वह भावोंके तारतम्यके अनुसार बहुत ही निम्न श्रेणीका होता है,

उसे वास्तविक त्याग नहीं कहा जा सकता। ऐसा त्याग भोगप्राप्तिमें हेतु होता है, उसमें पद-पदपर भोगका अनुसंधान बना रहता है और भोग न मिलनेपर दुःखकी अनुभूति होती है। ऐसे त्यागपर त्यागीको पश्चात्ताप भी हो सकता है। यह एक प्रकारका व्यापार होता है। इसमें विशुद्ध प्रेमका अभाव होता है।

इसके विपरीत यथार्थ त्याग विशुद्ध प्रेमकी विशेष वृद्धि करता है और विशुद्ध प्रेमसे त्याग भी विशेष रूपसे होता है और जहाँ विशुद्ध प्रेमका उदय हो जाता है, वहाँ त्याग ही जीवनका स्वरूप बन जाता है। 'स्व' की सर्वथा विस्मृति होकर केवल प्रियतम ही रह जाते हैं, उनका सुख ही अपना सुख बन जाता है। फिर वहाँ यदि भोग भी करने रहते हैं तो वे त्यागपूरक ही रहते हैं, यही 'गोपीभाव' है। गोपी किसी स्त्रीका नाम नहीं है, जिसमें सर्वथा त्यागपूर्ण प्रेम है, जिसका प्रत्येक विचार, जिसकी प्रत्येक चेष्टा, प्रत्येक क्रिया सहज ही अपने प्रियतम श्रीश्यामसुन्दरके लिये होती है, वही गोपी है। गोपीका संसार, गोपीके मन-प्राण क्रिया सभी एकमात्र प्रियतम श्रीकृष्णके लिये हैं। उसका खाना-पहनना, साज-शृङ्गार करना, सोना-जागना, कर्म करना या कर्म त्याग करना, जीना-मरना—सभी प्रियतम श्रीकृष्णके मनके अनुसार श्रीकृष्णके सुखके लिये ही होता है। उसके त्याग और भोग—दोनोंमें ही भगवत्प्रेम भरा है। मीराने कहा—

> **कहो तो मोतियन माँग भरावाँ, कहो तो मूँड मुँडावाँ।**
> **कहो तो कसूमल चुनरि रँगावाँ, भगवाँ भेस बणावाँ॥**

जिसमें प्रियतमको सुख, जो प्रियतमको रुचिकर, उसी

प्रियतमकी इच्छा, वही प्रेमीका स्वभाव । उसे न किसी त्यागके बाहरी रूपसे सम्बन्ध है, न भोगसे । उसका सम्बन्ध है केवल प्रियतमसे । उसका त्याग भी विशुद्ध प्रेममूलक और उसका भोग भी विशुद्ध प्रेममूलक—अतएव त्याग और भोग दोनों ही परम विशुद्ध त्यागमय हैं ।

एक उच्च भावमयी नवीन गोपी साधिकाने—'प्रेमका कैसा रूप होता है, विशुद्ध प्रेम-राज्यमें भोग-त्यागका कैसा भाव होता है, उन परम प्रेयसी गोपियोंके कैसे भाव-आचरण हैं'—इसके सम्बन्धमें एक गोपीसे पूछा । तब उसे त्यागमय परमानुरागकी अधिकारिणी समझकर उस गोपीने कहा कि 'हमलोगोंको नित्यनिकुञ्जेश्वरी महाभावरूपा श्रीश्यामसुन्दरकी अन्तरात्मा श्रीराधिकाजीने जो स्वरूप बतलाया था, वह इस प्रकार है—

श्याम हमारे वस्त्राभूषण, श्याम हमारे भोजन-पान ।
श्याम हमारे घर, घरके सब, श्याम हमारे ममता-मान ॥
श्याम हमारे भोग्य, सुभोक्ता, श्याम हमारे कर्त्ता, कर्म ।
श्याम हमारे तन-मन-धन सब, श्याम हमारे केवल धर्म ॥
श्याम हमारे त्याग, भोग सब, श्याम हमारे श्वासोच्छ्वास ।
श्याम हमारे स्व-पर सभी कुछ, श्याम हमारे सब अभिलाष ॥
श्याम हमारे परम गुप्त निधि, श्याम हमारे प्रकट विभूति ।
श्याम हमारे भूत, भविष्यत, वर्तमानकी वाञ्छित भूति ॥
श्याम लोक-परलोक हमारे, बन्धन-मोक्ष हमारे श्याम ।
श्याम हमारे चरम परम गति, श्याम हमारे चिन्मय धाम ॥
श्याम-प्रीति-रुचि-सुख ही केवल एक हमारा सहज सुरूप ।
श्याम-सुखार्थ सभी कुछ होता रहता उनके मन-अनुरूप ॥

श्याम करावें पूर्ण त्याग, या खूब करावें इन्द्रिय-भोग।
श्याम रखें सब भाँति स्वस्थ या दे दें चाहे कठिन कुरोग॥
श्याम कहें तो प्राण त्याग दें सुखपूर्वक अति मन उत्साह।
श्याम कहें तो अमर रहें हम, पूरी हो प्रियतमकी चाह॥
श्याम भले अपमान करावें, करें, करावें या सम्मान।
श्याम सुखी हों जिससे, केवल वही हमारा सच्चा मान॥
श्याम मिले नित रहें, एक पल भी न हमें छोड़ें, रख राग।
श्याम कभी भी मिलें न हमसे, जीवनमें निज भरें विराग॥
श्याम सुखी हों, जैसे हो, है हमें उसीमें परमानन्द।
श्याम-चित्त-विपरीत न रहता मनमें कभी कहीं आनन्द॥
श्याम-सुखार्थ त्याग यदि होता, उसका रहता हमें न भान।
श्याम-प्रेमसे ही सब होता सहज, सरल, सुखमय, गत मान॥
श्याम-प्रीतिसे भरा हृदय तब कौन करे कैसा अभिमान।
श्याम बन रहे जीवन ही तब किसपर कौन करे अहसान॥
श्याम-प्रेम-फल प्राप्त सर्वथा, कौन परम फल अब अवशेष।
श्याम हेतु सब काम, त्यागका कौन महत्त्व यथा अब शेष॥
श्याम हमारे हैं सब कुछ, हम सदा श्यामकी सुख-साधन।
श्याम स्वयं हमसे करवाते रहते निज-सुख आराधन॥

'प्रियतम प्राणप्राण श्रीश्यामसुन्दर ही हमारे कपड़े-गहने हैं, वे ही हमारे भोजन-पान हैं। वे श्यामसुन्दर ही हमारे घर हैं, सब घरके हैं, श्यामसुन्दर ही हमारे ममता और मान हैं। श्यामसुन्दर हमारे भोग्य हैं। (जब स्वयं भोग्य बनकर सुखी होना चाहते हैं, तब हमें भोक्ता बना लेते हैं।) वे ही हमारे सुन्दर भोक्ता हैं। श्यामसुन्दर ही कर्त्ता हैं और वे ही हमारे कर्म हैं। श्यामसुन्दर ही

हमारे तन-मन-धन सब कुछ हैं और केवल श्यामसुन्दर ही हमारे धर्म हैं। (हमारे समस्त धर्म एकमात्र श्यामसुन्दरमें ही आकर समा गये हैं।) श्यामसुन्दर ही हमारे सब त्याग हैं और वे ही हमारे समस्त भोग हैं। श्यामसुन्दर ही हमारे श्वास-प्रश्वास—प्राण हैं। श्यामसुन्दर ही हमारे अपने हैं और वे ही पराये हैं, सब कुछ वे ही हैं। श्यामसुन्दर ही हमारे मनके सारे मनोरथ हैं। श्यामसुन्दर ही हमारे सबसे अधिक—सबसे श्रेष्ठ छिपे खजाने हैं और श्यामसुन्दर ही हमारे प्रकट वैभव हैं। श्यामसुन्दर ही हमारे भूत, भविष्यत्, वर्तमानकी वाञ्छित विभूति (ऐश्वर्य) हैं। श्यामसुन्दर ही हमारा यह लोक और परलोक हैं और श्यामसुन्दर ही हमारे बन्धन हैं तथा वे ही हमारे मोक्ष हैं। श्यामसुन्दर ही हमारी अन्तिम और परम गति हैं एवं श्यामसुन्दर ही हमारे सच्चिदानन्दमय धाम हैं।'

'श्यामसुन्दरकी प्रीति, उनकी रुचि और उनका सुख ही हमारा एकमात्र सहज सुन्दर रूप है। श्यामसुन्दरके सुखके लिये हमलोगोंके द्वारा उनके मनके अनुकूल सभी कुछ होता रहता है। श्यामसुन्दर चाहे हमसे प्रेम-सेवा करावें या मात्र इन्द्रिय-भोग करावें, श्यामसुन्दर हमें सब प्रकारसे स्वस्थ रखें या चाहे तो हमें कठिन कुरोग प्रदान कर दें। श्यामसुन्दर कहें तो मनमें अत्यन्त उत्साह भरकर हम प्राण त्याग दें अथवा श्यामसुन्दर कहें तो हम अमर रहें। उन प्रियतमकी बात पूरी हो।'

'श्यामसुन्दर चाहे हमारा अपमान करावें अथवा सम्मान करें-

करावें। बस, श्यामसुन्दर जिससे सुखी हों, केवल वही हमारा सच्चा मान है। श्यामसुन्दर सदा सर्वदा हमसे मिले रहें, एक पलके लिये भी हमारा त्याग न करें, हममें आसक्त रहें अथवा वे श्यामसुन्दर हमसे कभी भी न मिलें, अपने जीवनको वैराग्यसे भर दें। बस, श्यामसुन्दर जैसे सुखी हों, उसीमें हमें परम आनन्द है। श्यामसुन्दरके चित्तसे विपरीत हमारे मनमें कहीं भी किसी भी आनन्दको स्थान नहीं है। श्यामसुन्दरके सुखके लिये हमारे जीवनमें कभी यदि कोई त्याग होता हो तो उसका हमें कभी पता ही नहीं रहता, जो कुछ त्याग होता है—वह श्यामसुन्दरके प्रेमसे अपने आप ही, बिना किसी भी कठिनाईके, सरलताके साथ, सुखमय तथा अभिमानरहित होता है। जब श्यामसुन्दरकी प्रीतिसे हृदय पूर्ण है, तब कौन कैसा अभिमान करे? जब श्यामसुन्दर हमारे जीवन ही बन रहे हैं, तब किसपर कौन अहसान करे? जब श्यामसुन्दरका प्रेमरूप फल सर्वथा प्राप्त है, तब फिर कौन सा परम फल अवशेष रह गया? जब श्यामसुन्दरके लिये सब काम सहज ही होते हैं, तब त्यागका कौन-सा महत्त्व शेष बच रहा है? श्यामसुन्दर हमारे सब कुछ हैं और हम सदा केवल श्यामसुन्दरके सुखकी साधन हैं। वे श्यामसुन्दर स्वयं ही हमारे द्वारा सदा-सर्वदा अपनी सुखाराधना कराते रहते हैं।'

यह है गोपीका स्वरूप। यह भाव जहाँ जिसमें जितना प्रस्फुटित है, उसमें वहाँ उतना ही गोपीभावका विकास है।



झाँकी २

भगवत्प्रेमी कभी संसारके भोगोंकी आसक्तिमें नहीं फँसता; किसी भी प्राणी-पदार्थमें ममता नहीं करता, किसी भी सुखकी कामना नहीं करता और अपने अशुद्ध अहंकारको भगवत्प्रेममें विलीन करके भगवत्सेवा तथा भगवत्प्रेमस्वरूप बन जाता है। इसलिये वह जगत्के बन्धनसे सर्वथा मुक्त हो जाता है तथा अपनी सारी आसक्ति एवं सम्पूर्ण ममताको भगवान्में लगाकर उन्हें विशुद्ध प्रेम-स्वरूप ममताके रज्जुसे बाँध लेता है। उसका वह प्रेम शरीरकी मृत्युके साथ मरता नहीं, न वह मुक्तिके साथ मुक्त हो जाता है। वह नित्य जीवन बना रहकर अनन्त कालतक उत्तरोत्तर बढ़ता रहता है, उसका कहीं अन्त होता ही नहीं। ऐसे ही प्रेमीजनोंके प्रेमरसका मधुर आस्वादन करनेके लिये परम प्रेमास्पद भगवान् अपना प्रेममय स्वरूप सदा सुरक्षित रखते हैं तथा प्रेमियोंके प्रेमास्पद बने और उनको अपना प्रेमास्पद बनाये नित्य-नव मधुर लीलाओंके रूपमें प्रकट होकर लीला-विलास करते रहते हैं। व्रजकी एक महाभावरूपा श्यामसुन्दरकी प्रेम-मूर्ति महाभागा गोपाङ्गनाके उद्गार हैं—

होय पद-कंज-प्रीति स्वच्छन्द।
करत रहै रसपान नित्य मम मन-मधुकर मकरंद॥
हानि-लाभ, निंदा-स्तुति, अति अपमान महा सनमान।
प्रेम-पगे जीवन में इन को रहै न कछु मन भान॥
रसना रटै नाम प्रिय पिय कौ, हिय हो लीलाधाम।
परसै प्रभु के अंग अंग दृग निरखैं रूप ललाम॥
मिटै मोह-तम, जनम-मरन की रहै न कछु परवाह।
पल-पल बाढ़ै प्रीति अहैतुक, पल-पल रस की चाह॥
डर न रहै परलोक-लोक कौ, बाढ़ै प्रेम अबाध।
जनम-जनम मैं बनी रहै तव पावन प्रेम अगाध॥
मिटिबे, घटिबे, थमिबे कौ नहिं होय कबहुँ संकल्प।
उमगत रहै प्रेम-रस-सरिता प्रतिपल बिना विकल्प॥
काहु लोक मैं, कहूँ जाय जौ जीव करम आधीन।
बसौ रहै पिय-प्रेम-सरित मैं, जिमि जल-सरिता मीन॥
चहौं न दुरलभ इंद्र-ब्रह्म-पद, चहौं न गति निरबान।
प्रीतम-पद-पंकज मैं अनुदिन बाढ़ै प्रेम महान॥
नरक-प्राप्ति, नीची गति तै मैं डरौं न रंचक मान।
रहौं प्रेम-मद मैं मतवारी, तज मति कौ अभिमान॥

वह कहती है—'मेरी श्रीश्यामसुन्दरके चरणकमलोंमें स्वच्छन्द प्रीति हो जाय। मेरा मनरूपी भ्रमर चरण-कमलोंके मकरन्द-रसका निरन्तर पान करता रहे। मेरे प्रेम-परिपूर्ण जीवनमें सांसारिक हानि-लाभ, निन्दा-स्तुति, घोर अपमान और महान् सम्मानका कुछ भान ही न रहे। मेरी जिह्वा प्रियतमके नामको रटती रहे; मेरा हृदय उनकी लीलाका धाम ही बन जाय—सदा-सर्वदा उसमें श्रीश्यामसुन्दरकी लीला ही चलती रहे; मेरे समस्त अङ्ग प्र

अङ्गोंका सुख-स्पर्श-सौभाग्य प्राप्त करते रहें और मेरी आँखें उनके ललित रूप-सौन्दर्यको देखती रहें। मेरे मोहका सारा अन्धकार मिट जाय; अतएव जन्म-मृत्युकी कुछ भी परवा न रहे। पल-पलमें अहैतुक प्रेम बढ़ता रहे और पल-पलमें रसकी चाह बढ़ती रहे। लोक-परलोकका—इस लोकके बिगड़नेका या परलोककी दुर्गतिका कोई भय न रहे। हर अवस्थामें प्रेम बाधारहित होकर बढ़ता रहे; कितने ही जन्म हों, प्रत्येक जन्ममें तुम्हारा अगाध विशुद्ध प्रेम बना रहे। उस पवित्र प्रेमके कभी मिटने, कम होने या रुकनेकी कल्पना ही न हो। प्रेमकी वह नदी प्रतिपल बिना विकल्पके उमड़ती ही रहे। यह जीव किसी भी लोकमें, कहीं भी—किसी भी योनिमें जाय, सदा प्रियतमकी प्रेम-नदीमें ही—नदी-जलमें मछलीकी ॅाँति बसा रहे। जैसे मछली जलके बिना क्षणभर भी नहीं रह सकती, वैसे ही प्रियतमके प्रेम बिना क्षणभर न रहे। मैं न दुर्लभ इन्द्रपद चाहती हूँ, न ब्रह्माका पद और न निर्वाण—कैवल्य-मुक्ति ही; मैं चाहती हूँ प्रियतमके चरण-कमलोंमें मेरा महान् प्रेम दिनोंदिन बढ़ता ही चला जाय। नरकोंकी प्राप्ति या नीची गतिका मुझे तनिकभर भी भय नहीं है। बुद्धिका सारा अभिमान छोड़कर मैं सदा प्रेममदमें मतवाली ही बनी रहूँ।'

कैसी श्रेष्ठ प्रेमकामना है! ऐसे प्रेमीका प्रेम एक जन्मतक ही सीमित नहीं रहता, वह तो सनातन, अनन्त प्रभुके नित्य स्वरूपकी भाँति ही सनातन, अनन्त, नित्य रहता है।



झाँकी २

सच्चा प्रेम न गुण देखता है, न व्यवहार। वह तो समर्पणमय होता है, इसीसे वह कहती है—

हो चाहे तुम सर्वदोषमय, दोषरहित, गुणमय, गुणहीन।
निर्मल मन अति हो चाहे, हो चाहे मन अत्यन्त मलीन॥
प्यार करो, चाहे ठुकराओ, आदर दो, चाहे दुत्कार।
तुम ही मेरे एक प्राणधन, तुम ही मेरे प्राणाधार॥

'तुम चाहे सारे दोषोंसे भरे हो या सर्वथा दोषरहित हो; गुणरूप हो या गुणोंसे रहित हो; अत्यन्त निर्मल मनवाले हो या अत्यन्त मलिन-मन हो; मुझे प्यार करो या ठोकर मार दो, आदर दो चाहे दुत्कारो! पर मेरे तो एकमात्र तुम्हीं प्राणधन हो और एकमात्र तुम्हीं मेरे प्राणोंके आधार हो।

कोटि गुना हो कोई तुमसे बढ़कर सुघड़ रूप-गुणधाम।
मैं तो नित्य तुम्हारी ही हूँ, नहीं किसीसे कुछ भी काम॥
फूट जायँ वे पापिनि आँखें, बहरे हो जायँ वे कान।
देखें सुनें भूलकर भी जो अन्य किसीका रूप, बखान॥

'कोई चाहे कितना ही गुना अधिक तुमसे सुन्दर हो, रूपवान् हो तथा गुणोंका निवास हो, मुझे किसीसे भी कुछ काम नहीं है; मैं तो बस, नित्य एक तुम्हारी ही हूँ।

अङ्गोंका सुख-स्पर्श-सौभाग्य प्राप्त करते रहें और मेरी आँखें उनके ललित रूप-सौन्दर्यको देखती रहें। मेरे मोहका सारा अन्धकार मिट जाय; अतएव जन्म-मृत्युकी कुछ भी परवा न रहे। पल-पलमें अहैतुक प्रेम बढ़ता रहे और पल-पलमें रसकी चाह बढ़ती रहे। लोक-परलोकका—इस लोकके बिगड़नेका या परलोककी दुर्गतिका कोई भय न रहे। हर अवस्थामें प्रेम आधाररहित होकर बढ़ता रहे; कितने ही जन्म हों, प्रत्येक जन्ममें तुम्हारा अगाध विशुद्ध प्रेम बना रहे। उस पवित्र प्रेमके कभी मिटने, कम होने या रुकनेकी कल्पना ही न हो। प्रेमकी वह नदी प्रतिपल बिना विकल्पके उमड़ती ही रहे। यह जीव किसी भी लोकमें, कहीं भी—किसी भी योनिमें जाय, सदा प्रियतमकी प्रेम-नदीमें ही—नदी-जलमें मछलीकी भाँति बसा रहे। जैसे मछली जलके बिना क्षणभर भी नहीं रह सकती, वैसे ही प्रियतमके प्रेम बिना क्षणभर न रहे। मैं न दुर्लभ इन्द्रपद चाहती हूँ, न ब्रह्माका पद और न निर्वाण—कैवल्य-मुक्ति ही; मैं चाहती हूँ प्रियतमके चरण-कमलोंमें मेरा महान् प्रेम दिनोंदिन बढ़ता ही चला जाय। नरकोंकी प्राप्ति या नीची गतिका मुझे तनिकभर भी भय नहीं है। बुद्धिका सारा अभिमान छोड़कर मैं सदा प्रेममदमें मतवाली ही बनी रहूँ।'

कैसी श्रेष्ठ प्रेमकामना है! ऐसे प्रेमीका प्रेम एक जन्मतक ही सीमित नहीं रहता, वह तो सनातन, अनन्त प्रभुके नित्य स्वरूपकी भाँति ही सनातन, अनन्त, नित्य रहता है।



झाँकी ३

सच्चा प्रेम न गुण देखता है, न व्यवहार। वह तो समर्पणमय होता है, इसीसे वह कहती है—

हो चाहे तुम सर्वदोषमय, दोषरहित, गुणमय, गुणहीन।
निर्मल मन अति हो चाहे, हो चाहे मन अत्यन्त मलीन॥
प्यार करो, चाहे ठुकराओ, आदर दो, चाहे दुत्कार।
तुम ही मेरे एक प्राणधन, तुम ही मेरे प्राणाधार॥

'तुम चाहे सारे दोषोंसे भरे हो या सर्वथा दोषरहित हो; गुणरूप हो या गुणोंसे रहित हो; अत्यन्त निर्मल मनवाले हो या अत्यन्त मलिन-मन हो; मुझे प्यार करो या ठोकर मार दो, आदर दो चाहे दुत्कारो! पर मेरे तो एकमात्र तुम्हीं प्राणधन हो और एकमात्र तुम्हीं मेरे प्राणोंके आधार हो।

कोटि गुना हो कोई तुमसे बढ़कर सुघड़ रूप-गुणधाम।
मैं तो नित्य तुम्हारी ही हूँ, नहीं किसीसे कुछ भी काम॥
फूट जायँ वे पापिनि आँखें, बहरे हो जायँ वे कान।
देखें सुनें भूलकर भी जो अन्य किसीका रूप, बखान॥

'कोई चाहे कितना ही गुना अधिक तुमसे सुन्दर हो, रूपवान् हो तथा गुणोंका निवास हो, मुझे किसीसे भी कुछ भी काम नहीं है; मैं तो बस, नित्य एक तुम्हारी ही हूँ। वे पापिनी

आँखें फूट जायँ जो भूलकर भी दूसरे किसी रूपको देखें और वे कान बहरे हो जायँ जो भूलकर भी किसी दूसरेका वर्णन सुनें।

निन्दा करो पेटभर चाहे, मैं नित तुम्हें सराहूँगी।
दारुण दुःख सदा दो तो भी मैं तुमहीको चाहूँगी॥
बदतरसे बदतर हालतमें भी तुमको न उलाहूँगी।
मरकर भी तुमको पाऊँग, संतत प्रेम निबाहूँगी॥

'तुम चाहे पेटभर मेरी निन्दा करो पर मैं तो नित्य तुम्हारी सराहना ही करूँगी (क्योंकि मुझको तुममें कभी कोई दोष-दुर्गुण दीखता ही नहीं); तुम भले ही मुझे दारुण दुःख दो, पर मैं तो सदा केवल तुमको ही चाहूँगी। बुरी-से-बुरी हालतमें भी मैं तुमको कभी उलाहना नहीं दूँगी (क्योंकि मुझे उसमें भी तुम्हारा प्रेम-दान ही दिखायी देगा)। मैं मरकर भी तुम्हींको प्राप्त करूँगी और यों प्रेमको अचल बनाये रक्खूँगी।

नहीं कभी उपजेगी मेरे मनमें अन्य किसीकी चाह।
नरकोंकी, दुर्गतिकी कुछ भी मुझे नहीं होगी परवाह॥
एक तुम्हारा ही बस होगा मुझपर सदा पूर्ण अधिकार।
एक तुम्हीं बस नित्य रहोगे मेरे परम जीवनाधार॥

'मेरे मनमें कभी भी दूसरे किसीकी भी चाह नहीं उत्पन्न होगी। न मुझे नरकोंकी तथा दुर्गतिकी ही कुछ भी परवा होगी। मुझपर सदा-सर्वदा बस, एक तुम्हारा ही पूर्ण अधिकार होगा और एकमात्र तुम्हीं बस, नित्य-निरन्तर मेरे जीवनके परम आधार रहोगे।'

यह है समर्पणमय प्रेमका आदर्श!

आँखें फूट जायँ जो भूलकर भी दूसरे किसी रूपको देखें और वे कान बहरे हो जायँ जो भूलकर भी किसी दूसरेका वर्णन सुनें ।

निन्दा करो पेटभर चाहे, मैं नित तुम्हें सराहूँगी ।
दारुण दुःख सदा दो तो भी मैं तुमहीको चाहूँगी ॥
बदतरसे बदतर हालतमें भी तुमको न उलाहूँगी ।
मरकर भी तुमको पाऊँग, संतत प्रेम निबाहूँगी ॥

'तुम चाहे पेटभर मेरी निन्दा करो पर मैं तो नित्य तुम्हारी सराहना ही करूँगी (क्योंकि मुझको तुममें कभी कोई दोष-दुर्गुण दीखता ही नहीं); तुम भले ही मुझे दारुण दुःख दो, पर मैं तो सदा केवल तुमको ही चाहूँगी । बुरी-से-बुरी हालतमें भी मैं तुमको कभी उलाहना नहीं दूँगी (क्योंकि मुझे उसमें भी तुम्हारा प्रेम-दान ही दिखायी देगा) । मैं मरकर भी तुम्हींको प्राप्त करूँगी और यों निरन्तर प्रेमको अचल बनाये रक्खूँगी ।

नहीं कभी उपजेगी मेरे मनमें अन्य किसीकी चाह ।
नरकोंकी, दुर्गतिकी कुछ भी मुझे नहीं होगी परवाह ॥
एक तुम्हारा ही बस होगा मुझपर सदा पूर्ण अधिकार ।
एक तुम्हीं बस नित्य रहोगे मेरे परम जीवनाधार ॥

'मेरे मनमें कभी भी दूसरे किसीकी भी चाह नहीं उत्पन्न होगी । न मुझे नरकोंकी तथा दुर्गतिकी ही कुछ भी परवा होगी । मुझपर सदा-सर्वदा बस, एक तुम्हारा ही पूर्ण अधिकार होगा और एकमात्र तुम्हीं बस, नित्य-निरन्तर मेरे जीवनके परम आधार रहोगे ।'

यह है समर्पणमय प्रेमका आदर्श !

झाँकी ४

दिव्य प्रेमकी परमोज्ज्वल चिदानन्दमयी मूर्ति श्रीराधाजी श्यामसुन्दरसे कहती हैं—

देख रही, सुन रही सभी, जो सुनने और देखने योग्य।
पर मैं जुदी सदा ही तुमसे, भोक्ता तुम्हीं, तुम्हीं सब भोग्य॥
मेरा दर्शन, श्रवण हो रहा सभी सहज तुममें संन्यस्त।
मुझे बना माध्यम तुम रमते नित सेवा-लीलामें व्यस्त॥
सुनना, कहना तथा देखना, करना सब चलता अश्रान्त।
होने पर देते न कभी तुम उनसे श्रान्त तथा आक्रान्त॥

कर तुम रहे विविध लीला सब बना नगण्य मुझे आधार।
नित्य दिव्य बल कला शक्ति निजसे करते लीला विस्तार॥

'मेरे श्यामसुन्दर! जो कुछ भी यहाँ सुनने और देखनेयो
है, वह सभी मैं सुन ही रही हूँ और देख भी रही हूँ। पर वस्तुत
अन्तरसे तो सदा-सर्वदा ही केवल तुम्हींसे जुड़ी हूँ, यथार्थमें तुम्हीं
भोक्ता हो और सारे भोग्य भी तुम्हीं हो। देखने-सुननेवाले भी
तुम्हीं हो और देखने-सुननेके सारे पदार्थ भी तुम्हीं हो। मेरा
देखना और मेरा सुनना—सभी सहज ही केवल तुम्हींमें संन्यस्त
हो रहा है। मुझे माध्यम बनाकर तुम्हीं मुझे नित्य सेवा-लीलामें
संलग्न रखते हो। इसीसे सुनना, देखना, कहना और
करना—यहाँ सभी कुछ निरन्तर चल रहा है। पर इस सुनने-देखने
आदिसे मुझे न तो कभी तुम भ्रममें पड़ने देते हो और न वे
क्रियाएँ मुझपर कोई भी प्रभाव ही डाल सकती हैं। तुम मुझे
कभी इस भ्रममें नहीं पड़ने देते कि मेरी इन्द्रियाँ, मेरे सुखके लिये
विषयोंमें लगी हैं और न कभी इन्द्रिय तथा उनके कोई भी विषय
मुझपर आक्रमण करके मुझे अपने वशमें कर सकते हैं। वस्तुतः
मुझ नगण्यको आधार बनाकर तुम्हीं विविध प्रकारकी समस्त लीलाएँ
कर रहे हो। इन लीलाओंमें जो दिव्यता है, वह तुम्हारी ही है।
तुम ही अपने दिव्य बल, दिव्य कला और दिव्यशक्तिसे नित्य-निरन्तर
लीला विस्तार कर रहे हो।

चरण तुम्हारे पावनमें आ बसी पूर्ण मेरी आसक्ति।
... राग मिट गया, हुई प्राणोंकी तुममें ही अनुरक्ति

नहिं छोड़ने देते ममता मुझे, छोड़ते कभी न आप।
एकमात्र ममतास्पद मेरे तुम्हीं बने रहते केवल ॥
सब कर्मोंका प्रेरक है अब केवल यह ममता-संबन्ध।
बँधी इसीमें मैं, तुमने भी है स्वीकार किया यह बन्ध ॥
तुम बँधे ममतामें, मुझको बाँध लिया मायासे मुक्त।
रहे देख यों मुझे, देखते भोगोंको ज्यों विषयासक्त ॥

'श्यामसुन्दर! मेरी सारी आसक्ति पूर्णरूपसे केवल तुम्हारे पावन चरणोंमें ही आकर स्थायी टिकी बन गयी है। लोक-परलोकके भोगोंका सारा अनुराग नष्ट हो गया है। मेरे प्राणोंकी केवल तुम्हींमें आसक्ति हो गयी है। तुमने मेरी सारी ममताको केवल अपनेमें ही लगा लिया है, उस ममताको मुझे कभी छोड़ने देते ही नहीं। केवल तुम्हीं एकमात्र 'मेरे' हो, यह अनुभव कभी तनिक भी हटता ही नहीं और न तुम ही मेरे प्रति अपनी ममताका त्याग करते हो—सदा मुझे केवल अपनी ही वस्तु मानते हो। प्रियतम! केवल तुम्हीं एकमात्र सदा-सर्वदा मेरे परिमाणरहित ममतास्पद बने रहते हो। मेरे सारे कर्मोंका यदि कोई प्रेरक है तो वह केवल यह अनन्य ममताका सम्बन्ध ही है। मैं सदा इसीसे बँधी हूँ और तुमने भी इस पवित्र ममताके बन्धनको स्वीकार कर लिया है। मुझे मायासे मुक्त करके तुमने अपनी अनन्य ममतासे बाँध लिया है और स्वयं तुम भी मेरी ममतामें बँध गये हो और इसलिये मेरी ओर यों ललचायी दृष्टिसे देखते रहते हो जैसे विषयासक्त मनुष्य विषयभोगोंकी ओर देखता रहता है।'

झाँकी ५

प्रेमके विशुद्ध स्वरूपमें अभिमानको स्थान नहीं है और दैन्य आभूषणरूपमें नित्य सुशोभित है। भगवान् श्रीकृष्णकी अन्तरङ्गा प्रेमप्रतिमा श्रीराधाजीके अचिन्त्यानन्त विचित्र भाव हैं; परंतु सभीमें उनके त्याग तथा दैन्य, प्रियतम श्रीश्यामसुन्दरकी महत्ता और उनकी दीनताके मङ्गलदर्शन होते हैं। एक बार अपनी एक सखीको राधाजीने अपना अनुभव सुनाया। वे बोलीं—एक बार मेरे मनमें आयी कि मैं प्राणवल्लभ श्रीश्यामसुन्दरके समीप जाकर उनके चरणोंमें पड़ जाऊँ और उनकी पवित्र चरणरजसे अपनेको पवित्र करूँ। पर मनमें तुरंत यह विचार आया—

मधुर मनोहर नीलश्याम-तन अनुपम छविमय।
कोटि कोटि मन्मथ-मन्मथ सौन्दर्य सुधामय॥
कहाँ दिव्य गुण-रूप-राशि वह मुनि-मन-हारिणि।
कहाँ कुरूपा मैं अति कुत्सित तन-मन-धारिणि॥

'वे नील-श्याम-कलेवर मधुर मनोहर अनुपम शोभामय हैं, उनका सुधामय सौन्दर्य करोड़ों-करोड़ों कामदेवोंके मनका मन्थन करनेवाला है । कहाँ तो श्यामसुन्दरकी वह मुनियोंके मनको हरण करनेवाली दिव्य गुणों और रूपोंकी महान् राशि और कहाँ मैं अत्यन्त कुत्सित मन और शरीरको धारण करनेवाली कुरूपवती नारी !

यद्यपि बाहर नहीं दीखते चिन्ह बुरे अति।
पर चल रही अहं-क्षतधारा हृदय तीव्र गति॥
ममता मनमें भरी, नहीं समता है किञ्चित्।
सदा रागमें रँगी, रागसे संतत सिञ्चित॥
दीख रही ऊपर छायी ठंढक सुखव्यापिनि।
भीतर जलती अग्नि कामनाकी संतापिनि॥
सहज हृदयका क्रोध छा रहा भीतर-बाहर।
क्षोभ हृदयमें भरा कर्म करवाता दुखभर॥

'(मेरा बाहरी रूप भी बहुत कुत्सित था । ये जगह-जगह शीतलाके दागके समान कुरूपताके चिह्न थे, पर वे तो किसी तरह छिप गये इसलिये) बाहरसे कोई भी कुत्सित चिह्न अब नहीं दिखायी देते, पर भीतर तो अहंकारके घावोंकी तीव्र वेदना-धारा नित्य-निरन्तर चल रही है । मनमें मेरे ममता भरी है, तनिक-सी भी समता नहीं है । मैं सदा ही राग (आसक्ति) से रँगी रहती हूँ और रागसे ही सदा सींची जाती हूँ । मुझमें बाहर सुखसे व्याप्त ठंढक छायी दीखती है; परंतु अंदर संताप देनेवाली कामनाकी आग जल रही है । मेरे हृदयका सहज क्रोध बाहर-भीतर सर्वत्र छा रहा है ।

हृदयमें लोभ भरा है, जो सदा दुःखदायी कर्म करवाता रहता है।

हुए प्रकट सब दोष भयानक मेरे सम्मुख।
काँपी, डरी, निराशा-सी छायी मेरे मुख॥
किस साहससे प्रियतमके समीप मैं जाऊँ?
तन-मन मलिन अपार किस तरह मुख दिखलाऊँ?
किस मुख उनसे कहूँ, मुझे दो पदपङ्कज प्रिय!
शुचि पद-रज दे, मुझे बना दो शुद्ध सत्त्वमय॥

('श्रीराधाजी कह रही हैं—यों सोचते-सोचते) मेरे सारे दोष भयानक रूपमें मूर्तिमान् होकर मेरे सामने प्रकट हो गये। मैं उनको देखकर काँप उठी, डर गयी और मेरे मुखपर निराशा-सी छा गयी। (मैं सोचने लगी—हा! इतने भयानक दोष, इतने घोर पाप!) मैं किस साहससे प्रियतम श्रीश्यामसुन्दरके समीप जाऊँ? मेरा मन और मेरा शरीर इतना मलिन है कि जिसका पार ही नहीं है, (मैं वहाँ जाकर) किस प्रकार मुख दिखलाऊँ? और किस मुखसे उनसे कहूँ कि 'प्रियतम! अपने चरणकमल मुझे प्रदान करो और अपनी पवित्र चरण-रज देकर मुझे विशुद्ध सत्त्वमय बना दो।'

मान नहीं मन रहा किंतु, मचला वह अतिशय।
चलो चलो प्रियकी संनिधिमें, छोड़ो भ्रम-भय॥
उठने लगी, गिरी फिर अपनी ओर देखकर।
घृणित दोषसे पूर्ण हाय! मैं जाऊँ क्योंकर?
रूप-शील-सौन्दर्य-सद्गुणोंके वे सागर।
अतुलनीय अनुपम सब विधि प्रियतम नटनागर॥

मेरे सदृश न कोई पामर नीच घृणित जन।
मिलनेच्छाका त्याग तदपि करता न हठी मन॥
तम-घन इच्छा करे सूर्यसे मिलनेकी ज्यों।
मेरा मन भी श्याम-मिलन-इच्छा करता त्यों॥
पर साहस न जुटा पायी, स्थिति हुई भयानक।
मर्मव्यथा अति असहनीय जग उठी अचानक॥

'(मैं बुद्धिसे यह सब विचार कर रही थी) परंतु मन इसे मान नहीं रहा था, वह अत्यन्त मचल उठा (और उसने कहा—) "चलो, चलो प्रियतमके समीप। (वे बड़े उदार हैं—) डर और भ्रमको छोड़ दो।" (मनकी बात सुनकर) मैं उठने लगी, परंतु अपनी ओर देखकर—अपनी गुण-रूप-हीनता और दोषागारताको देखकर गिर पड़ी। हाय! मैं घृणित दोषोंसे भरी, कैसे उनके समीप जाऊँ! वे रूप, शील, सौन्दर्य और सद्गुणोंके समुद्र हैं। वे मेरे प्रियतम नटनागर सब प्रकारसे अतुलनीय और अनुपमेय हैं। इधर मेरे समान पामर, नीच और घृणित व्यक्ति कोई भी नहीं है। इतनेपर भी, मेरा आग्रही—हठी मन उनसे मिलनेकी इच्छाका त्याग नहीं करता। मेरे मनकी यह श्यामसुन्दरसे मिलनेकी इच्छा वैसी ही है, जैसी घोर अन्धकारकी प्रकाशमय सूर्यसे मिलनेकी इच्छा हो। (सूर्यके प्रकाशसे मिलते ही अन्धकारका स्वतन्त्र अस्तित्व नष्ट हो जाता है। अतः अन्धकारके रूपमें वह कभी प्रकाशसे मिल ही नहीं सकता। तद्रूप होकर ही मिलता है। ऐसे ही भगवान्से मिलनेवाला भी तद्रूप हो जाता है!) (मिलनेकी इच्छा होनेपर भी) मैं साहसका संग्रह नहीं कर सकी, परंतु स्थिति बड़ी भयानक हो

हृदयमें लोभ भरा है, जो सदा दुःखदायी कर्म करवाता रहता है।

हुए प्रकट सब दोष भयानक मेरे सम्मुख।
काँपी, डरी, निराशा-सी छायी मेरे मुख॥
किस साहससे प्रियतमके समीप मैं जाऊँ?
तन-मन मलिन अपार किस तरह मुख दिखलाऊँ?
किस मुख उनसे कहूँ, मुझे दो पदपङ्कज प्रिय!
शुचि पद-रज दे, मुझे बना दो शुद्ध सत्त्वमय॥

('श्रीराधाजी कह रही हैं—यों सोचते-सोचते) मेरे सारे दोष भयानक रूपमें मूर्तिमान् होकर मेरे सामने प्रकट हो गये। मैं उनको देखकर काँप उठी, डर गयी और मेरे मुखपर निराशा-सी छा गयी। (मैं सोचने लगी—हा! इतने भयानक दोष, इतने घोर पाप!) मैं किस साहससे प्रियतम श्रीश्यामसुन्दरके समीप जाऊँ? मेरा मन और मेरा शरीर इतना मलिन है कि जिसका पार ही नहीं है, (मैं वहाँ जाकर) किस प्रकार मुख दिखलाऊँ? और किस मुखसे उनसे कहूँ कि 'प्रियतम! अपने चरणकमल मुझे प्रदान करो और अपनी पवित्र चरण-रज देकर मुझे विशुद्ध सत्त्वमय बना दो।'

मान नहीं मन रहा किंतु, मचला वह अतिशय।
चलो चलो प्रियकी संनिधिमें, छोड़ो भ्रम-भय॥
उठने लगी, गिरी फिर अपनी ओर देखकर।
घृणित दोषसे पूर्ण हाय! मैं जाऊँ क्योंकर?
रूप-शील-सौन्दर्य-सद्गुणोंके वे सागर।
अतुलनीय अनुपम सब विधि प्रियतम नटनागर॥

मेरे सदृश न कोई पामर नीच घृणित जन।
मिलनेच्छाका त्याग तदपि करता न हठी मन॥
तम-घन इच्छा करे सूर्यसे मिलनेकी ज्यों।
मेरा मन भी श्याम-मिलन-इच्छा करता त्यों॥
पर साहस न जुटा पायी, स्थिति हुई भयानक।
मर्मव्यथा अति असहनीय जग उठी अचानक॥

'(मैं बुद्धिसे यह सब विचार कर रही थी) परंतु मन इसे मान नहीं रहा था, वह अत्यन्त मचल उठा (और उसने कहा—) "चलो, चलो प्रियतमके समीप। (वे बड़े उदार हैं—) डर और भ्रमको छोड़ दो।' (मनकी बात सुनकर) मैं उठने लगी, परंतु अपनी ओर देखकर—अपनी गुण-रूप-हीनता और दोषागारताको देखकर गिर पड़ी। हाय ! मैं घृणित दोषोंसे भरी, कैसे उनके समीप जाऊँ ! वे रूप, शील, सौन्दर्य और सद्गुणोंके समुद्र हैं। वे मेरे प्रियतम नटनागर सब प्रकारसे अतुलनीय और अनुपमेय हैं। इधर मेरे समान पामर, नीच और घृणित व्यक्ति कोई भी नहीं है। इतनेपर भी, मेरा आग्रही–हठी मन उनसे मिलनेकी इच्छाका त्याग नहीं करता। मेरे मनकी यह श्यामसुन्दरसे मिलनेकी इच्छा वैसी ही है, जैसी घोर अन्धकारकी प्रकाशमय सूर्यसे मिलनेकी इच्छा हो। (सूर्यके प्रकाशसे मिलते ही अन्धकारका स्वतन्त्र अस्तित्व नष्ट हो जाता है। अतः अन्धकारके रूपमें वह कभी प्रकाशसे मिल ही नहीं सकता। तद्रूप होकर ही मिलता है। ऐसे ही भगवान्‌से मिलनेवाला भी तद्रूप हो जाता है !) (मिलनेकी इच्छा होनेपर भी) मैं साहसका संग्रह नहीं कर सकी, परंतु स्थिति बड़ी भयानक हो

हृदयमें लोभ भरा है, जो सदा दुःखदायी कर्म करवाता रहता है।

हुए प्रकट सब दोष भयानक मेरे सम्मुख।
काँपी, डरी, निराशा-सी छायी मेरे मुख॥
किस साहससे प्रियतमके समीप मैं जाऊँ?
तन-मन मलिन अपार किस तरह मुख दिखलाऊँ?
किस मुख उनसे कहूँ, मुझे दो पदपङ्कज प्रिय!
शुचि पद-रज दे, मुझे बना दो शुद्ध सत्त्वमय॥

('श्रीराधाजी कह रही हैं—यों सोचते-सोचते) मेरे सारे दोष भयानक रूपमें मूर्तिमान् होकर मेरे सामने प्रकट हो गये। मैं उनको देखकर काँप उठी, डर गयी और मेरे मुखपर निराशा-सी छा गयी। (मैं सोचने लगी—हा! इतने भयानक दोष, इतने घोर पाप!) मैं किस साहससे प्रियतम श्रीश्यामसुन्दरके समीप जाऊँ? मेरा मन और मेरा शरीर इतना मलिन है कि जिसका पार ही नहीं है, (मैं वहाँ जाकर) किस प्रकार मुख दिखलाऊँ? और किस मुखसे उनसे कहूँ कि 'प्रियतम! अपने चरणकमल मुझे प्रदान करो और अपनी पवित्र चरण-रज देकर मुझे विशुद्ध सत्त्वमय बना दो।'

मान नहीं मन रहा किंतु, मचला वह अतिशय।
चलो चलो प्रियकी संनिधिमें, छोड़ो भ्रम-भय॥
उठने लगी, गिरी फिर अपनी ओर देखकर।
घृणित दोषसे पूर्ण हाय! मैं जाऊँ क्योंकर?
रूप-शील-सौन्दर्य-सद्गुणोंके वे सागर।
अतुलनीय अनुपम सब विधि प्रियतम नटनागर॥

मेरे सदृश न कोई पामर नीच घृणित जन।
मिलनेच्छाका त्याग तदपि करता न हठी मन॥
तम-घन इच्छा करे सूर्यसे मिलनेकी ज्यों।
मेरा मन भी श्याम-मिलन-इच्छा करता त्यों॥
पर साहस न जुटा पायी, स्थिति हुई भयानक।
मर्मव्यथा अति असहनीय जग उठी अचानक॥

'(मैं बुद्धिसे यह सब विचार कर रही थी) परंतु मन इसे मान नहीं रहा था, वह अत्यन्त मचल उठा (और उसने कहा—) "चलो, चलो प्रियतमके समीप। (वे बड़े उदार हैं—) डर और भ्रमको छोड़ दो।' (मनकी बात सुनकर) मैं उठने लगी, परंतु अपनी ओर देखकर—अपनी गुण-रूप-हीनता और दोषागारताको देखकर गिर पड़ी। हाय! मैं घृणित दोषोंसे भरी, कैसे उनके समीप जाऊँ! वे रूप, शील, सौन्दर्य और सद्गुणोंके समुद्र हैं। वे मेरे प्रियतम नटनागर सब प्रकारसे अतुलनीय और अनुपमेय हैं। इधर मेरे समान पामर, नीच और घृणित व्यक्ति कोई भी नहीं है। इतनेपर भी, मेरा आग्रही-हठी मन उनसे मिलनेकी इच्छाका त्याग नहीं करता। मेरे मनकी यह श्यामसुन्दरसे मिलनेकी इच्छा वैसी ही है, जैसी घोर अन्धकारकी प्रकाशमय सूर्यसे मिलनेकी इच्छा हो। (सूर्यके प्रकाशसे मिलते ही अन्धकारका स्वतन्त्र अस्तित्व नष्ट हो जाता है। अतः अन्धकारके रूपमें वह कभी प्रकाशसे मिल ही नहीं सकता। तद्रूप होकर ही मिलता है। ऐसे ही भगवान्से मिलनेवाला भी तद्रूप हो जाता है!) (मिलनेकी इच्छा होनेपर भी) मैं साहसका संग्रह नहीं कर सकी, परंतु स्थिति बड़ी भयानक हो

गयी और अचानक मेरे हृदयमें अत्यन्त असह्य पीड़ा जाग उठी।

बाह्य चेतना गयी, पड़ी अब सुध-बुध खोकर।
अंदर प्रकटे श्याम रूप-गुण-निधि मुनिमनहर॥
करने लगे दुलार सहज मनुहार अपरिमित।
नहलाने बस, लगे प्रेमधारामें अविरत॥

'मेरी बाह्य चेतना लुप्त हो गयी। (मैं बेहोश होकर) सारी बाहरी सुध-बुध खोकर गिर पड़ी। इतनेमें ही मुनि-मनका हरण करनेवाले दिव्य रूप-गुणके निधि श्यामसुन्दर अंदर प्रकट हो गये और मुझसे प्यार-दुलार करने लगे, सहज ही मेरी इतनी मनुहार करने लगे कि जिसकी कोई सीमा नहीं और बस, वे मुझको अपनी प्रेम-रस-सुधा-धारामें (अपने हाथों) नहलाने लगे!

कहने लगे—तुम्हारे जो कुछ बाहर-भीतर—
है, होता है,—छिपा न है मुझसे रत्ती भर॥
अहं, ममत्व सुराग, कामना, क्रोध, क्षोभ सब।
है नित मेरे लिये, नहीं कुछ उनमें तव अब॥
किंतु तुम्हारा प्रेम शील निज-गुण न मानकर।
गुणमें करता दोष-बुद्धि नित सत्य जानकर॥
प्रिये! तुम्हारा दैन्य सहज पावन अति सुखकर।
अतः नित्य रहता मैं सुख-सम्पादन-तत्पर॥

'(और) कहने लगे—राधिके! तुम्हारे बाहर-भीतर जो कुछ होता या हो रहा है, वह मुझसे रत्तीभर भी छिपा नहीं है। (मैं उसके असली रूपको जानता-देखता हूँ।) तुम्हारा अहंकार

(मुझे प्रियतम माननेके रूपमें), तुम्हारी ममता (मुझे ही एकमात्र अपना माननेके रूपमें), तुम्हारा सुन्दर राग (मुझमें अनन्य आसक्तिके रूपमें है और इसी (मेरे) राग-सुधा-रसके द्वारा तुम सदैव सिञ्चित हो), तुम्हारी कामना (एकमात्र मुझे सुखी देखनेके रूपमें), तुम्हारा क्रोध (सेवामें त्रुटि मानकर क्षुब्ध होनेके रूपमें) और तुम्हारा लोभ (अपने प्रेममें सहज कमी देखकर उसे बढ़ानेके रूपमें)—ये सब नित्य मेरे लिये हैं । (सदासे हैं, सदा रहेंगे) इनमें तब या अब नहीं है । परंतु तुम्हारा प्रेम-शील ऐसा है कि तुम अपने गुणोंको गुण न मानकर उन गुणोंमें सदा ही सचमुच ही दोषबुद्धि रखती हो । प्रियतमे ! यह तुम्हारा (अपने गुणोंमें भी दोष दिखानेवाला स्वाभाविक) सहज दैन्य अत्यन्त पवित्रकारी है और मुझे अत्यन्त सुख देनेवाला है । इसीसे मैं नित्य-निरन्तर तुम्हारे सुख सम्पादनमें ही लगा रहता हूँ ।

अन्तर्धान हुए सहसा शुचि रस वर्षा कर ।
खुले नेत्र अविलम्ब, चेतना आयी सत्वर ॥
देखा खड़े सामने मृदु मुसकाते प्रियवर ।
हुई कृतार्थ विशुद्ध रसभरी पद-रज पाकर ॥

'इस प्रकार पवित्र रसकी विशद वर्षा करके प्रियतम सहसा अन्तर्धान हो गये । उनके अन्तर्धान होते ही तुरंत मेरी आँखें खुल गयीं और उसी क्षण बाह्य चेतना लौट आयी । मैंने देखा कि मेरे प्रियतम सामने खड़े मन्द मृदु मुसकुरा रहे हैं । (मैं चरणोंमें गिर पड़ी और) विशुद्ध रसमयी चरणरजको प्राप्त करके कृतार्थ हो गयी ।'

झाँकी ६

वृषभानुनन्दिनी प्रेममूर्ति श्रीराधाजी प्रियतम श्रीकृष्णसे मधुर-मधुर स्वरोंमें कह रही हैं—

चाह कुचाह मिट गयी सारी, रही एक यह 'प्यारी चाह'।
मधुर तुम्हारे स्मृति-सागरमें डूबी रहूँ, न पाऊँ थाह॥
मेरे सब कुछ एक तुम्हीं हो, सारी ममताके आधार।
मैं भी एक तुम्हारी ही हूँ, ममता मुझपर नित्य अपार॥
तुम्हें छोड़कर नहीं दीखता कभी कहीं भी कोई और।
एक तुम्हीं करते, विहार नित मधुर मनोहर सब ही ठौर॥
नहीं दीखता मुझमें मेरा कुछ भी भला-बुरा गुण-दोष।

नित्य कर रहे तुम ये लीला, जिनसे तुम पाते परितोष ॥
क्या मैं कहूँ, करूँ कैसे कुछ और ? बताओ प्रियतम श्याम ।
जब कि तुम्हीं बाहर-भीतर कर रहे नित्य लीला अभिराम ॥
करते रहो सदा तुम लीला यों ही मनमानी स्वच्छन्द ।
अङ्ग अङ्ग, मन, मति आत्मा सब देते रहें तुम्हें आनन्द ॥

'प्रियतम श्रीकृष्ण ! मेरी अच्छी-बुरी सभी चाहें मिट गयीं, अब तो बस, यह एक ही 'प्यारी चाह' रह गयी है कि मैं तुम्हारी स्मृतिके मधुर समुद्रमें निरन्तर डूबी रहूँ, कभी थाह ही न पाऊँ। प्रियतम ! मेरे सब कुछ तथा मेरी सारी ममताके आधार एकमात्र तुम्हीं हो, मैं भी एकमात्र तुम्हारी ही हूँ और मुझपर तुम्हारी नित्य अपार ममता है। प्यारे ! तुम्हारे अतिरिक्त, मुझे कभी कहीं भी कोई दूसरा नहीं दिखायी देता। सर्वत्र सभी जगह एकमात्र तुम्हीं नित्य मधुर मनोहर विहार करते दीख पड़ते हो। मुझे मेरे अंदर भी मेरी अपनी कुछ भी भली-बुरी वस्तु या गुण दोष नहीं दिखायी देता। मैं तो देखती हूँ कि सदा-सर्वदा तुम्हीं वे सब लीलाएँ कर रहे हो, जिनमें तुमको सुख मिलता है, अब तुम्हीं बताओ मेरे प्रियतम श्यामसुन्दर ! मैं अब और क्या कहूँ तथा कैसे कुछ और करूँ ? जब कि मेरे बाहर-भीतर सर्वत्र तुम ही नित्य निरन्तर सुन्दर लीला कर रहे हो। बस; यों ही तुम सदा अपनी मनमानी स्वच्छन्द लीला करते रहो और मेरे अङ्ग-अङ्ग, मन-बुद्धि-आत्मा सब सदा तुम्हें आनन्द देते रहें'।'

व्रजेन्द्रनन्दन श्यामसुन्दर प्रियतमा श्रीराधिकासे गद्गद स्वरोंमें कहते हैं—

जिससे मुझ 'आनन्दरूप' को मिलता है अति परमानन्द।
सदा खिला जिससे खिल उठता है वह मधुर कौन-सा छन्द ?॥
जिससे नित्य तृप्त मुझमें जग उठती सहज अतृप्ति अपार।
मचला नित रहता मन मेरा जिसके लिये अमन अविकार॥
मैं रस-रूप स्वयं जिसके रस-आस्वादनको बना अधीर।
रहते नित्य देखते मेरे नेत्र अतृप्त बहाते नीर॥
राधे ! एक तुम्हीं हो मेरी वही मधुरतम मन्जुल मूर्ति।
हो सकती न कदापि किसीसे रञ्चक मात्र तुम्हारी पूर्ति॥
नहीं बजारू सौदा हो तुम या न लेन-देन व्यापार।
शुद्ध प्रेमका मधुर उछलता हो अनन्त रस-पारावार॥

'मुझ स्वयं 'आनन्द-स्वरूप'को जिससे अत्यन्त परम आनन्द मिलता है; मैं जो सदा ही खिला रहनेवाला, जिसे पाकर और भी खिल उठता हूँ, वह कौन-सा छन्द है ! जिससे मुझ नित्य तृप्तमें भी सहज ही अपार अतृप्तिका उदय हो जाता है; जिसके लिये मेरा अमनरूप निर्विकार मन नित्य मचला रहता है; मैं स्वयं 'रसरूप' जिसके रसका आस्वादन करनेके लिये सदा अधीर बना रहता हूँ; और मेरे नेत्र जिसको सदा ही अतृप्तरूपसे देखते हुए आँसू बहाते रहते हैं—हे मेरी प्रियतमे राधिके ! मेरी वह मधुरतम मञ्जुल मूर्ति तुम्हीं हो। तुम्हारी पूर्ति कभी भी किसीसे भी रञ्चकमात्र भी नहीं हो सकती। तुम न तो बाजारू सौदा हो, न तो तुम लेन-देनरूप व्यापार ही हो, तुम तो विशुद्ध प्रेमरसका उछलता हुआ अनन्त समुद्र हो !'



झाँकी ७

एक दिन वृषभानुनन्दिनी श्रीराधारानीने अपनी एक अन्तरङ्ग सखीको अपना यह अनुभव सुनाया—

मेरे हे जीवन-जीवन ! मेरे हे जीवनके रस ।
मेरे हे भीतर-बाहर ! मेरे हे केवल सरबस !
मैं नहीं जानती कुछ भी अतिरिक्त तुम्हारे प्रियतम !
मैं नहीं मानती कुछ भी धन, तुम्हें छोड़कर प्रियतम !
हट सभी पृथकता, मेरे रह गये एक तुम ही तुम ।
कर आत्मसात् 'मैं मेरा' सब कुछ अपनेमें हा ! तुम ॥
अब तुम्हीं सोचते-करते सब 'मैं' 'मेरा' मुझमें बन ।
नित तुम्हीं खेलते रहते बन मेरे चित्त-बुद्धि-मन ॥
आनन्द मुझे तुम देते नित बने पृथक् लीलामय !
अपनेमें अपनेसे ही तुम होते प्रकट कभी [illegible] ॥

नित मिलन विरहकी लीला चलती यों सतत अपरिमित ।
होते सब खेल अनोखे नित सुखवान्छासे विरहित ॥
मैं कहूँ अलग क्या प्रियतम ! कहते हो तुम ही सब कुछ ।
सुनते भी तुम ही हो सब, तुम ही हो, मैं हूँ जो कुछ ॥
बैठी निकुञ्जमें आली ! थी ध्यानमग्न सब कुछ तज ।
एकान्त हृदयमन्दिरमें यों थी मैं रही उन्हें भज ॥
मेरे मनकी ये बातें सुनकर वे प्यारे मोहन ।
हो गये प्रकट यमुना-तटकी उस निकुञ्जमें सोहन ॥
उरसे अन्तर्हित सहसा हो गये प्राण जीवनधन ।
व्याकुलता उदय हुई अति, खुल गये नेत्र बस, तत्क्षण ॥
वे देख रहे थे मुझको रसभरे दृगोंसे अपलक ।
मिलनेकी उठी हृदयमें अत्यन्त तीव्रतम सु-ललक ॥
बस, मुझे लगा ली उरसे निज स्वयं भुजाओंमें भर ।
रसभरे दृगोंसे आँसू बह चले प्रेमके झर-झर ॥

'हे मेरे जीवन ! हे मेरे जीवनके रस ! मेरे बाहर-भीतर (के रूपमें प्रकट) ! हे मेरे एकमात्र सर्वस्व ! हे प्रियतम ! मैं तुम्हारे अतिरिक्त और कुछ भी नहीं जानती । हे प्रियतम ! एक तुमको छोड़कर बस, मैं और किसीकी भी सत्ता नहीं मानती । मेरी सारी पृथकता हरण करके एकमात्र तुम-ही-तुम रह गये हो । मेरे सारे 'अहं' और 'मम'—'मैं-मेरे'को अपनेमें ही तुमने लीन कर लिया है । अब जो कुछ सोचना-करना होता है, सो सब मुझमें 'मैं-मेरा' बनकर तुम्हीं सोचते-करते हो । मेरे चित्त-बुद्धि-मन बनकर तुम्हीं नित्य खेल खेलते रहते हो । किंतु हे लीलामय ! तुम ही नित्य ही

पृथक् बने रहकर मुझे आनन्द प्रदान करते हो। तुम अपनेमें ही अपनेसे ही कभी प्रकट हो जाते हो, कभी लय हो जाते हो। यों नित्य-निरन्तर अपरिमित प्रकारोंसे तुम्हारी यह संयोग और वियोगकी—मिलन और विरहकी लीला चलती रहती है। बड़े विलक्षण-विलक्षण खेल होते रहते हैं, परंतु सभी निज-सुखकी इच्छासे रहित (केवल सुख देनेके लिये ही) होते हैं। प्रियतम ! मैं अलग क्या कहूँ ! सब कुछ तुम्हीं तो कहते हो और सुनते भी सब तुम्हीं हो। मैं जो कुछ हूँ सो तुम्हीं हो।'

'प्यारी सखी ! मैं सब कुछ त्याग कर निभृत निकुञ्जमें ध्यान-मग्न बैठी हुई एकान्त हृदय-मन्दिरमें यों प्रियतमसे बात करनेके रूपमें उनको भज रही थी कि मेरी ये मनकी बातें सुनकर वे मेरे प्रियतम मोहन उस यमुना-तटकी निकुञ्जमें सहज प्रकट होकर सुशोभित हो गये। इसीके साथ मेरे हृदयसे वे मेरे प्राण-जीवनधन सहसा अन्तर्धान हो गये। उनके अन्तर्धान होते ही मेरे हृदयमें अत्यन्त तीव्र व्याकुलता उत्पन्न हो गयी और बस, उसी क्षण मेरे नेत्र खुल गये। नेत्र खुलते ही मैंने देखा—वे प्राणप्रियतम रसपूर्ण नेत्रोंसे निर्निमेष मेरी ओर टकटकी लगाये देख रहे हैं। मेरे हृदयमें भी तुरंत उनसे मिलनेकी अत्यन्त तीव्रतम इच्छा जाग उठी। बस, उन्होंने अपनी भुजाओंमें भरकर मुझे हृदयसे लगा लिया और उनके रसभरे नेत्रोंसे झर-झर प्रेमाश्रु बहने लगे।'

कैसा विचित्र त्यागपूर्ण अनन्य प्रेम है !

नहीं हुई । इस दिव्य रूपसमुद्रमें डूबनेपर विकारका जगना तो दूर रहा—सहज स्वाभाविक ही चित्त आत्यन्तिक निर्विकार-स्थितिको प्राप्त हो गया । (अनन्त रूप-सौन्दर्य, चित्तको निर्विकार करनेवाला !) मेरी उसीमें तन्मयता हो गयी । शरीरका बाह्यज्ञान तनिक-सा भी नहीं रहा । संसारका प्रलय नहीं हुआ; पर उसकी सारी रचना मिट गयी, सारा भान नष्ट हो गया !

'इतनेमें अचानक वह दिव्य रूप मेरी आँखोंसे ओझल हो गया—अन्तर्धान हो गया । उसके अदर्शनसे सहसा एक वियोग-व्यथाकी भयानक अग्नि जल उठी और वह बड़े विशाल रूपमें बढ़ गयी । परंतु वह थी अनुपम—(क्योंकि वह शान्ति प्रदान करनेवाली थी) । अत्यन्त आश्चर्यकी बात है कि उस विरह-दावानलमें प्रियतम श्यामसुन्दरकी मधुर मनोहर स्मृति अखण्ड बनी थी और वह थी असंख्य शीतल चन्द्रमाओंकी सुधामयी शीतलताको साथ लिये हुए । अतः उस घोर तापमें—भयानक जलनमें भी एक विचित्र उपमारहित शीतलताकी अनुभूति हो रही थी । इस प्रकार एक अद्भुत आशयको लिये सहज ही परस्पर-विरोधी धर्म-गुण एक ही साथ प्रकट हो रहे थे ।

'सखी ! मैं अपने उन प्रियतमके प्रतिदिनके इन परमानन्दमय आचारोंका कैसे वर्णन करूँ ? वे मेरे प्रियतम जैसे सदा स्वच्छन्द हैं, वैसे ही उनकी लीलाएँ भी स्वच्छन्द हैं ।'



झाँकी ६

अनोखी राधा-माधव-प्रीति ।
नहीं कामना तनिक, एक-रस, प्रियतम-सुख-रस-रीति ॥
नहिं भ्रम, नहीं मोह, नहिं बंधन, नहीं मुक्ति की चाह ।
नहीं पाप, नहिं पुन्य, पुन्य-रस-सागर भरयौ अथाह ॥
जीवन की नहिं हेतु अन्य कछु, नहिं मरजादा-सेतु ।
फहरि रह्यौ नित अमित प्रेम को पावन मंगल-केतु ॥
सुद्ध सुभाव अनन्य प्रीति-रस, नहिं बिभिचारी भाव ।
नित्य मिलन में नित्य मिलन की सुचि सुख, सुचितम चाव ॥
नित्य नवीन विमल गुन-दरसन, निरगुन रति निष्काम ।
नित नव चित बित्तहर, बाढ़त सुचि लावन्य ललाम ॥
नहीं भोग, नहिं त्याग, नहीं कछु राग, नहीं बैराग ।
दोउन में दोउन के सुखहित छाय रह्यौ अनुराग ॥
दोउ प्रवीन, दोउन के मन की जानत दोऊ बात ।
दोउ सेवत नित, सेवाहित नित दोऊ नित ललचात ॥
नित्य एकरस, एकप्रान दोउ, नित्य एक ही टेक ।
नित्य मिलन कौं आतुर, नित मिलि रहे न न्यारे नेक ॥

'श्रीराधा-माधवका (प्रियतम-प्रेमास्पद श्रीभगवान् और प्रेमी भक्तका) प्रेम विलक्षण है। उसमें कहीं भी तनिक भी किसी प्रकारकी कोई वासना नहीं है। वह तो बस, एकमात्र प्रेमास्पदको तथा प्रेमीको सुख प्राप्त करानेकी रसमयी रीति है। उस पवित्र प्रेममें न कहीं कोई भ्रम या संदेह है, न किसी भी प्रकारका मोह है, न कोई मायाका बन्धन है और न मुक्तिकी चाह है। न वहाँ पाप है न पुण्य है (अपने लिये अपना कोई धर्म ही नहीं है), वहाँ तो बस, एक दिव्य प्रेमरसका अपार समुद्र भरा है। (उस अथाह पवित्र प्रेमसमुद्रमें स्व

कुछ डूबकर पवित्र प्रेमस्वरूप बन गया है ।) वहाँ न तो कर्तव्य-पालन और अकर्तव्य-त्याग अथवा भुक्ति-मुक्तिरूप जीवनका कोई दूसरा हेतु है और न किसी मर्यादाका सेतु (विधि-विधानका बन्धन) ही है । वहाँ तो बस, अपरिमित पवित्रकारी प्रेमका नित्य-निरन्तर मङ्गलमय ध्वज फहरा रहा है । वहाँ शुद्ध सुन्दर भावमय अनन्य प्रेम-रस है, कोई भी व्यभिचारी भाव नहीं है । वहाँ नित्य मिलनका नित्य पवित्र सुख है और उस नित्य-मिलनमें ही नित्य-मिलनका पवित्रतम चाव (लालसा) है । वहाँ परस्पर नित्य नवीन निर्मल गुण दिखायी देता है, तथापि वह प्रेम नित्य निर्गुण है—गुणरहित, गुणकी अपेक्षासे शून्य है । वह निष्काम है—उसमें किसी प्रकारकी भी कामनाकी लेश-गन्ध-कल्पना नहीं है । उस पवित्र प्रेममें प्रेमास्पदका, प्रेमीका तथा प्रेमका पवित्रतम सौन्दर्य नित्य नया-नया बढ़ता ही रहता है, जो परस्पर चित्तरूपी धनका अपहरण करनेवाला है । वहाँ न भोग है और न त्याग है; न किसी प्राणी-पदार्थमें राग है और न किसीमें वैराग्य है । वहाँ तो, बस, दोनोंमें दोनोंको सुख पहुँचानेके लिये एक पवित्रतम अनुराग छाया है । दोनों ही बड़े चतुर हैं, दोनों ही दोनोंके मनकी बात जानते हैं । (दोनोंके मन एक ही हैं ।) दोनों ही नित्य दोनोंकी सेवा करते हैं और दोनों ही नित्य सेवाके लिये नित्य ललचाते रहते हैं । दोनों नित्य एक-रस हैं, दोनों नित्य एकप्राण हैं, दोनोंकी नित्य एक ही टेक है, दोनों ही नित्य मिलनके लिये आतुर हैं और दोनों ही नित्य मिल रहे हैं—कभी तनिक भी, तनिक-से कालके लिये भी किसी भी भावसे न्यारे (पृथक्) नहीं हैं ।'

झाँकी १०

पवित्र प्रेमके महान् समुद्रमें सतत विचित्र तरंगें उठा करती हैं । वे सभी अत्यन्त पवित्र तथा मधुर होती हैं । श्रीराधाजी वही पवित्र प्रेमका लहराता हुआ महान् समुद्र हैं । वे नित्य-निरन्तर प्रियतम श्यामसुन्दरके प्रेममें निमग्न रहती हैं । एक दिन एक सखीसे उनकी कुछ बातचीत होती है, उसीकी सांकेतिक झाँकी देखिये ।

श्रीराधाजीको प्रियतम भगवान् श्रीकृष्णकी रूप-माधुरीकी स्मृति होती है—एक विचित्र लहर उठती है उनके हृदयमें । आँखें प्रेमके आँसुओंसे छलछला जाती हैं । शरीर शिथिल हो जाता है । वे अवश-सी—अलसानी-सी हो जाती हैं । तब सखियाँ सब विस्मित होकर इसका कारण पूछती हैं । इसपर वे कहती हैं —

मेरौ मन रूप समुद्र परयौ ।
बदन-सुधानिधि इकटक निरखत नैकहु नायँ टरयौ ॥
नैंन बिसाल रसाल बस्यौ मन छिनहु नायँ निसरयौ ।
अमल अधर मृदु हास मधुर छवि आनँद अमित भरयौ ॥
अलक-झलक मधुकर-मदहारी लखि निज सुधि बिसरयौ ।
अंग-अंग नख-सिखकी माधुरे, बरबस रहत हरयौ ॥

'सखि ! मेरा मन श्यामसुन्दरके रूप-समुद्रमें गिर पड़ा है । यह मेरा मन सुन्दर अमृतके भण्डार श्रीमुखको एकटक निरख रहा है, एक क्षणके लिये वहाँसे नहीं हटता । यह मेरा मन श्यामसुन्दरके रसपूर्ण विशाल नेत्रोंमें जाकर बस गया है; क्षणभर भी वहाँसे नहीं निकलता । यह मेरा मन श्यामसुन्दरके अधरोंपर छायी हुई मन्द मुसुकानकी निर्मल मधुर छविपर मुग्ध होकर अपरिमित आनन्दसे भर रहा है । यह मेरा मन श्यामसुन्दरकी घुँघराली केश-राशिकी झलक—जो भ्रमरोंके चमकते हुए कृष्णवर्णके मदका हरण कर रही है—को देखकर अपने-आपको भूल गया है । क्या कहूँ सखी ! श्यामसुन्दरके नखसे लेकर शिखातक अङ्ग-अङ्गकी माधुरीने इस मेरे मनको बरबस हरण कर लिया है ।'

श्रीराधाकिशोरीजीकी सखियाँ भी उन्हींकी काय-व्यूहरूपा थीं, अतः प्रेमसमुद्रकी ही लहरें थीं । एक सखीने रसकी वृद्धिके लिये कहा—'ओ राधा ! जरा विवेक करो—मनको वहाँसे निकालनेकी चेष्टा करो ।' तब राधाजी बोलीं—

मेरौ मन मोहन-छबि पै अटक्यौ ।
लाग्यौ अति आनंद जबहिं तें रूप-सुधा-रस गटक्यौ ॥

जगके हास-विलास त्रास ते रहत सदा ही सटक्यौ।
स्वर्ग-मोक्षकी मिटी कल्पना, रूप डोर-मन लटक्यौ॥
तड़फड़ात दरसन हित निसिदिन नेकु न मानत हटक्यौ।
नित नव-नव उत्कंठा जागत रहत सदा ही खटक्यौ॥

'सखी ! हटाऊँ—निकाऊँ कैसे, मेरा मन तो मोहनकी मोहिनी छबिपर जाकर अटक गया। जिस क्षण इसने श्यामके रूपामृत-रसका भरपूर पान किया, उसी क्षणसे उसपर अनन्त आनन्द छाया रहता है। जगत्के न तो हास-विलास इसे खींच सकते हैं, न जगत्की भय-विभीषिका ही। यह हास-विलास-त्रास सबसे सदा ही दूर हटा रहता है। इस लोकके ही नहीं, परलोकके स्वर्ग-सुख, यहाँतक कि मोक्षतककी कल्पना मिट गयी है। यह मेरा मन तो बस रूप-रज्जुमें बँधा लटक रहा है। पर जब कभी तन्मयता हो जाती है, रूप-सुधाका पान तिरोहित-सा हो जाता है तब तो फिर यह मेरा मन रात-दिन रूप-दर्शनके लिये तड़पा करता है, किसी भी रोक-थामको जरा भी नहीं मानता। फिर जब रूप-दर्शन होने लगता है तब मेरे इस मनमें नित्य नयी नयी रूप-दर्शनकी उत्कण्ठा जगने लगती है और यह नित्य नये नखरे किया करता है।'

सखियाँ मुग्ध हो गयीं राधारानीकी रूपदर्शनानन्दकी स्थितिका अनुभव करके। एक राधा-मानस-मर्मज्ञा सखीने रसभरी वाणीसे कहा—'राधा ! देखो—तुम्हारी इस प्रेम-लीलासे तुम्हारी कितनी अकीर्ति होती है, लोग तरह-तरहका कलङ्क लगाते हैं, तुम्हें दुःखी करना चाहते हैं, अपमान करते हैं—अतएव तुम यह सब छोड़ क्यों नहीं देती ?' राधाजी बोलीं—'सखी ! तुम जानती हो—मेरा

सुख क्या है, प्राणप्रियतमका सुख ही मेरा परम सुख है, वे मेरी इस प्रेमलीलासे सुखी होते हैं, अतः मुझे तो यही करना है—

बरजी मैं काहू की न रहूँ।
जा तें सुखी होयँ जीवन-धन सोई पंथ गहूँ॥
कीरति-जस सब नसैं अबहि, मैं घोर कलंक लहूँ।
सगरो मान जाय मन प्रमुदित मैं अपमान सहूँ॥
मन की बात मनहि में राखूँ काहू तें न कहूँ।
प्रियतम प्यारे तें मैं कबहूँ निज-सुख नायँ चहूँ॥
कैसी हूँ स्थिति होय न मन में जगै छोभ कबहूँ।
एकमात्र प्यारे के बल, मैं निबहि बहुरि निबहूँ॥

'सखी! मैं किसीका बरजना नहीं मानूँगी। मेरे जीवनधन जिससे सुखी होते हैं, उसी पथका अनुसरण करूँगी। सारा कीर्ति-यश अभी नाश हो जाय। मैं घोर कलङ्कका वरण करूँगी। सारा मान चला जाय, मैं अत्यन्त प्रसन्न मनसे अपमान सहन करूँगी और अपने मनकी यह बात अपने मनमें ही रक्खूँगी, किसीसे कहूँगी भी नहीं। मैं अपने प्रिय प्रियतमसे कभी भी अपना भिन्न सुख नहीं चाहूँगी। कैसी भी अनुकूल या प्रतिकूल स्थिति हो, मेरे इस मनमें (हर्ष या उद्वेगजनित) क्षोभ कभी नहीं उत्पन्न होगा। इसमें भी मेरा कोई साधन नहीं है, एकमात्र प्रियतमके बलसे ही अबतक मेरे इस प्रेमव्रतका निर्वाह हुआ है और उन्हींके बलसे आगे भी मैं इसका पूर्ण पालन करूँगी।'

इसके बाद उनका भाव बदला—नयी भाव-तरङ्गका उदय हो गया। वे अनुभव करने लगीं—'मैं सुख देनेवाली कौन, क्या मैं

प्रियतमसे पृथक् हूँ। नहीं-नहीं, हम दोनों एक ही हैं।' इसी भावमें वे समाधिस्थ-सी हो गयीं। कुछ देर बाद बाह्य चेतना आनेपर सखियोंके पूछनेपर उन्होंने बताया—

सुनो सखि! यह अनुभव की बात।
घुली-मिली मैं रहूँ स्याम प्रियतम सों सब दिन-रात॥
मन मति इन्द्रिय धन्य होत नित करत स्याम संस्पर्स।
जग के सब मिटि गये दुःख-सुख द्वन्द्व बिषाद प्रहर्ष॥
मैं हूँ अथवा हैं पे प्यारे, रह्यौ न तनिकहु ग्यान।
'मैं तू' की मिटि गयी कल्पना, रह्यौ न निज-पर भान॥
करिबे वारी रही न अब मैं, न्यारी तिन सों नेक।
कौन कहा सुख दें अब का कौं भये निरंतर एक॥

'सखी! मेरी यह अनुभवकी बात सुनो! मैं समस्त रात दिन स्यामसुन्दर प्रियतमके साथ घुली-मिली रहती हूँ। मेरा मन, मेरी बुद्धि, मेरी इन्द्रियाँ—नित्य स्यामसुन्दरका दुर्लभ संस्पर्श प्राप्त करके धन्य होती रहती हैं। जगत्‌के दुःख-सुख, विषाद-हर्ष आदि सारे द्वन्द्व नष्ट हो गये हैं। यहाँतक कि मैं हूँ अथवा वे मेरे प्रियतम ही हैं, इसका भी तनिक ज्ञान नहीं रहा। 'मैं', 'तुम'की कल्पना भी मिट गयी। अपने-परायेका भान ही नष्ट हो गया। अब मैं अपने प्रियतमसे पृथक् जरा भी कुछ भी करनेवाली ही नहीं रह गयी। तब कौन किसको क्या सुख दे, जब दो न रहकर निरन्तर एक ही हो चुके।'

श्रीराधाके साथ ही सखियाँ भी सब प्रेमानन्द-समुद्रमें निमग्न हो गयीं।

झाँकी ११

श्रीराधारानीको अपने प्राणवल्लभ श्रीश्यामसुन्दरसे प्रातःकाल सूर्योदयके कुछ ही पश्चात् प्रकृति-सुसज्जित काननकी कुञ्जकुटीरमें मिलनेका संकेत मिला था । तदनुसार वे वहाँ जानेवाली थीं और श्रीश्यामसुन्दर तो ठीक समयपर वहाँ पहुँच ही गये थे । पर राधारानी प्रातःकाल स्नान करके नित्यकी भाँति ज्यों ही प्रियतम श्यामसुन्दरकी मानस-पूजा करने लगीं कि उनका चित्त श्यामसुन्दरके सौन्दर्य-माधुर्य-रसमें लीन हो गया । वे बाह्यज्ञानशून्य हो गयीं और चौबीस घंटे उसी अवस्थामें बीत गये । वे आभ्यन्तरिक प्रेमराज्यमें श्रीश्यामसुन्दरके सौन्दर्य-माधुर्यका रसास्वादन करती रहीं । अतः संकेतके अनुसार नियत समयपर कुञ्जकुटीरपर नहीं पहुँच सकीं । दूसरे दिन बाह्यज्ञान होनेपर भी उन्हें यही स्मरण रहा कि आज ही वह संकेत-दिवस है और यही समय है । अतएव वे अपनी अन्तरङ्ग सखियोंके साथ प्रसन्नतासे कुञ्जकुटीर पधारीं । वहाँ जानेके बाद सखियोंके बतलानेपर उन्हें पूर्ण ज्ञान हुआ । तब उनकी सखियोंसे जो बातचीत हुई और तदनन्तर रससागरमें कैसी-कैसी लहरें आयीं, इसीका यहाँ अतिसंक्षिप्त वर्णन दिया जा रहा है—

मलयज पवन, उल्लसित पुलकित लता-गुल्म-तरु शुभ्र विशाल ।
कानन कलित सुशोभित, पिक-शुक-कूजित, मुकुलित मधुर रसाल ॥
निर्मल जलपूरित सर-सरिता करती शीतलता संचार ।
कुञ्जकुटीर कुसुम नव-पल्लव, करते अलि-कुल मधुर गुँजार ॥

आयी अतिशय प्रमुदित राधा अन्तरङ्ग सखियोंके साथ ।
हँस-हँस थी कर रही मधुर आलाप हिलाती कोमल हाथ ॥
बता रही थी कैसे वह कल आ न सकी थी कुञ्जकुटीर ।
कैसे बेसुध थी, कैसे था रहा अचेतन स्थूल शरीर ॥
प्रियतम-ध्यान-जनित-सुखसागरमें वह कैसे रही निमग्न ।
रहा न था कुछ भी, थी वह बस, केवल प्रियतमसे संलग्न ॥
बाह्यज्ञान-विरहित, बरबस, वह याद न रख पायी संकेत ।
इसीलिये वह यहाँ देख न पायी प्रिय आनन्दनिकेत ॥

मलयका सुगन्धित पवन बह रहा था, छोटे-बड़े लता, गुल्म, वृक्ष—सभी पुष्पित थे, उल्लासमें भरे थे । वन सुसज्जित था, सुशोभित था, कोकिला-शुक आदि पक्षियोंकी मधुर ध्वनि सर्वत्र छा रही थी । मधुर आमपर मौर निकले हुए थे । निर्मल जलसे पूर्ण सरोवर और नदियाँ शीतलताका संचार कर रही थीं । कुञ्जकुटीर नवीन पल्लवों और पुष्पोंसे अलंकृत थी । उनपर भ्रमरोंका समुदाय मधुर गुंजार कर रहा था । राधा अपनी अन्तरंग सखियोंको साथ लिये वहाँ कुञ्जकुटीरपर अत्यन्त प्रसन्नताके साथ आयी और हँस-हँसकर उनके साथ मधुर वार्तालाप कर रही थीं एवं बातोंके अनुकूल अपना हस्तकमल भी हिला-डुला रही थीं । वह यह बतला रही थीं कि गत कल वे कुञ्जकुटीरमें क्यों नहीं आ सकीं, कैसे बेसुध हो गयी थीं और कैसे उनका स्थूल शरीर चेतनाहीन हो रहा था । वे कैसे अपने प्रियतम श्यामसुन्दरके ध्यानजनित सुखके समुद्रमें डूब रही थीं । वहाँ अन्य कुछ भी नहीं रह गया था, वे बस केवल प्रियतमके साथ नित्य-मिलन-सुख ले रही थीं । बाह्यज्ञान न रहनेके कारण वे विवश थीं और इसीसे कल यहाँ आनेका संकेत वे स्मृतिमें नहीं रख सकी थीं और इसीलिये वे

झाँकी ११

श्रीराधारानीको अपने प्राणवल्लभ श्रीश्यामसुन्दरसे प्रातःकाल सूर्योदयके कुछ ही पश्चात् प्रकृति-सुसज्जित काननकी कुञ्जकुटीरमें मिलनेका संकेत मिला था। तदनुसार वे वहाँ जानेवाली थीं और श्रीश्यामसुन्दर तो ठीक समयपर वहाँ पहुँच ही गये थे। पर राधारानी प्रातःकाल स्नान करके नित्यकी भाँति ज्यों ही प्रियतम श्यामसुन्दरकी मानस-पूजा करने लगीं कि उनका चित्त श्यामसुन्दरके सौन्दर्य-माधुर्य-रसमें लीन हो गया। वे बाह्यज्ञानशून्य हो गयीं और चौबीस घंटे उसी अवस्थामें बीत गये। वे आभ्यन्तरिक प्रेमराज्यमें श्रीश्यामसुन्दरके सौन्दर्य-माधुर्यका रसास्वादन करती रहीं। अतः संकेतके अनुसार नियत समयपर कुञ्जकुटीरपर नहीं पहुँच सकीं। दूसरे दिन बाह्यज्ञान होनेपर भी उन्हें यही स्मरण रहा कि आज ही वह संकेत-दिवस है और यही समय है। अतएव वे अपनी अन्तरङ्ग सखियोंके साथ प्रसन्नतासे कुञ्जकुटीर पधारीं। वहाँ जानेके बाद सखियोंके बतलानेपर उन्हें पूर्ण ज्ञान हुआ। तब उनकी सखियोंसे जो बातचीत हुई और तदनन्तर रससागरमें कैसी-कैसी लहरें आयीं, इसीका यहाँ अतिसंक्षिप्त वर्णन किया जा रहा है—

मलयज पवन, उल्लसित पुलकित लता-गुल्म-तरु क्षुद्र विशाल।
कानन कलित सुशोभित, पिक-शुक-कूजित, मुकुलित मधुर रसाल॥
निर्मल जलपूरित सर-सरिता करती शीतलता संचार।
कुञ्जकुटीर कुसुम नव-पल्लव, करते अलि-कुल मधुर गुँजार॥

आयी अतिशय प्रमुदित राधा अन्तरङ्ग सखियाँ के साथ।
हँस-हँस थी कर रही मधुर आलाप हिलाती कोमल हाथ॥
बता रही थी कैसे वह कल आ न सकी थी कुञ्जकुटीर।
कैसे बेसुध थी, कैसे था रहा अचेतन स्थूल शरीर॥
प्रियतम-ध्यान-जनित-सुखसागरमें वह कैसे रही निमग्न।
रहा न था कुछ भी, थी वह बस, केवल प्रियतमसे संलग्न॥
बाह्यज्ञान-विरहित, परवश, वह याद न रख पायी सङ्केत।
इसीलिये वह बाहर देख न पायी प्रिय आनन्दनिकेत॥

मलयका सुगन्धित पवन बह रहा था, छोटे-बडे लता, गुल्म, वृक्ष—सभी पुलकित थे, उल्लासमें भरे थे। वन सुसज्जित था, सुशोभित था, कोकिला-शुक आदि पक्षियोंकी मधुर ध्वनि सर्वत्र छा रही थी। मधुर आमपर मौर निकले हुए थे। निर्मल जलसे पूर्ण सरोवर और नदियाँ शीतलताका संचार कर रही थीं। कुञ्जकुटीर नवीन पल्लवों और पुष्पोंसे अलंकृत थी। उनपर भ्रमरोंका समुदाय मधुर गुंजार कर रहा था। राधा अपनी अन्तरंग सखियोंको साथ लिये वहाँ कुञ्जकुटीरपर अत्यन्त प्रसन्नताके साथ आयीं और हँस-हँसकर उनके साथ मधुर वार्तालाप कर रही थीं एवं बातोंके अनुकूल अपना हस्तकमल भी हिला-डुला रही थीं। वह यह बतला रही थीं कि गत कल वे कुञ्जकुटीरमें क्यों नहीं आ सकीं, कैसे बेसुध हो गयी थीं और कैसे उनका स्थूल शरीर चेतनाहीन हो रहा था। वे कैसे अपने प्रियतम श्यामसुन्दरके ध्यानजनित सुखके समुद्रमें डूब रही थीं। वहाँ अन्य कुछ भी नहीं रह गया था, वे बस केवल प्रियतमके साथ मिलन-सुख ले रही थीं। बाह्यज्ञान न रहनेके कारण वे विवश थीं और इसीसे कल वहाँ आनेका संकेत वे स्मृतिमें नहीं रख सकी थीं और इसीलिये वे

बाहर अपने प्रियतम आनन्दनिकेतन श्रीश्यामसुन्दरके दर्शन नहीं कर पायी थीं ।'

सखियोंसे कह रही लाड़िली थी यों इसी बीच शुचि एक ।
श्याम-सखी आ बोली—'राधा ! सुनो बात मेरी सविवेक ॥
अखिल-रसामृत-सिन्धु रसिक-प्रिय यहाँ पधारे थे कल श्याम ।
बड़ी मधुर आशा ले मनमें तुमसे मिलनेकी अभिराम ॥
पर न प्राप्त कर तुम्हें, हुए अति कातर दुखी स्वयं सुखधाम ।
भूल अन्न-जल-निद्रा, रहे प्रतीक्षामें आतुर वसु-याम ॥
अन्तरङ्ग सखियोंने प्रातः देखा, पड़े अचेत उदास ।
किसी तरह ले गयीं उठा वे इनको सत्वर कुञ्जविलास ॥
छिड़क गुलाब कराया चेतन, मनमें भरे विषाद अपार ।
हा राधे ! हा प्राणवल्लभे ! प्रिये ! तभीसे रहे पुकार ॥

''इस प्रकार लाड़िली श्रीराधाजी कह ही रही थीं कि इसी बीच श्यामसुन्दरकी एक पवित्र सखी आकर कहने लगी—'राधा ! विवेकके साथ मेरी बात सुनो । अखिल रसामृतके सागर रसिकशिरोमणि प्रियतम श्यामसुन्दर कल यहाँ पधारे थे । वे तुम्हारे मनोहर मिलनकी बड़ी मधुर अभिलाषा लेकर आये थे, पर तुम उनको नहीं मिलीं । इससे वे स्वयं सुखके धाम भगवान् अत्यन्त कातर और दुखी हो गये तथा अन्न-जल और नींदको भुलाकर आठ पहरतक तुम्हारी आर्त होकर प्रतीक्षा करते रहे । तुम न आयी । प्रातःकाल अन्तरंग सखियोंने जाकर देखा श्यामसुन्दर उदास-मुख अचेत पड़े हुए हैं, तब वे किसी तरह उन्हें उठाकर तुरंत 'विलासकुञ्ज'में ले गयीं । वहाँ गुलाबजल छिड़ककर उन्हें चेत तो करा दिया, पर वे तभीसे मनमें

धार विषादभरे 'हा राधे ! हा प्राणवल्लभे ! हा प्रिये !' पुकार रहे हैं !"

श्याम-सखीसे सुनते ही दुःख-प्रद समाचार यह घोर।
अधोमुखी हो सुधामुखी श्रीराधा हुई विषाद-विभोर॥
राधा-हृदय-विषाद क्षणोंमें निकला, फैला चारों ओर।
मुरझाये तरु-लता, हो गये अति विषण्ण शुक-पिक-अलि-मोर॥
मलिन हुई सब वन्य-प्रकृति अति छाया सभी ओर अनुताप।
तुरत जल उठा बड़वानल-सा सर-सरिता-जल अपने-आप॥

'श्यामसुन्दरकी सखीके मुखसे यह घोर दुःखदायी समाचार सुनते ही अमृतमुखी श्रीराधा मुख नीचे करके विषादमें डूब गयीं। राधाके हृदयका विषाद क्षणोंमें ही (ह्लादिनीशक्तिके विषाद-ग्रस्त होते ही) बाहर निकलकर वनमें चारों ओर फैल गया। वनकी बेलें और वृक्ष मुरझा गये और शुक, कोकिला, मयूर तथा भ्रमर सब अत्यन्त दुखी हो गये। वनकी सारी ही प्रकृति अत्यन्त मलिन हो गयी। सभी ओरसे मानो वन जलने लगा। यहाँतक कि सरोवर और नदियोंका जल भी समुद्रकी अग्निकी तरह अपने-आप ही उबल उठा।'

हो व्याकुल अर्धोन्मत्त-सी उठी, न तनकी तनिक सँभाल।
नेत्रोंसे बह चली उष्ण धारा, था मन चञ्चल बेहाल॥
दिव्य सुकोमल काँप उठा सुकुमार मधुर वह स्वर्ण शरीर।
करने लगी करुण क्रन्दन वह सिसक-सिसककर बनी अधीर॥
हूँ मैं कैसी नीच पापिनी, हुई ध्यान-सुखमें जो लीन।
भूली प्रियतम-सुख, मैं बनकर स्व-सुख-वासना-जलकी मीन॥

दुःख-हेतु मैं हूँ प्रियतमकी नीच स्वार्थमें सनी असार।
ऐसे पतित घृणित जीवनको बार बार अतिशय धिक्कार॥
मेरे लिये प्राणवल्लभको सहना पड़ा घोर संताप।
भूखे-प्यासे रहे, न सोये, किया भयानक मैंने पाप॥
प्रेम-नामको किया कलङ्कित काम-पापसे मैं भरपूर।
प्रियतम-सुखघातिनि मैं दुःखविधायिनि, सदा मोह-मद चूर॥
कैसे क्या मैं करूँ घोर इस पातकका अब प्रायश्चित्त।
नहीं त्याग, तप शुचिता मुझमें नहीं तनिक भी साधन-वित्त॥
डूबी रहूँ दुःखसागरमें नित्य निरन्तर काल अनन्त।
यदि इस पातक-बीज स्वसुख अभिलाषा-पातकका हो अन्त॥

'राधा व्याकुल होकर अर्ध-उन्मत्तकी तरह उठकर खड़ी हो गयीं। उन्हें अपने शरीरकी तनिक भी सुधि नहीं थी। उनके नेत्रोंसे गरम-गरम आँसुओंकी धारा बह चली। मन चञ्चल था। सब तरहसे बुरा हाल था। राधाका वह अत्यन्त कोमल दिव्य मधुर सुकुमार स्वर्ण-सा शरीर काँप उठा और वे अधीर बनी हुई सिसक-सिसककर करुण क्रन्दन करने लगीं। बोलीं—'मैं कैसी नीच पापिनी हूँ, जो ध्यानजनित सुखमें लीन हो गयी। मैं अपने सुखकी वासनारूपी जलकी मछली बन गयी। अपने सुखमें ही लगी रही और प्रियतमके सुखको भूल गयी। मैं सारहीन नीच स्वार्थमें सनी हुई प्रियतमके दुःखका कारण बनी। ऐसे मेरे पतित और घृणित जीवनको बार-बार अत्यन्त धिक्कार है। मेरे लिये प्राणप्रियतमको कितना घो

संताप सहना पड़ा । वे भूखे रहे, प्यासे रहे और सोये तक नहीं । मैंने यह कितना भयानक पाप किया । मैंने प्रेमके पवित्र नामको कलङ्कित कर दिया; क्योंकि मैं निज सुख-कामनारूप पापसे भरी-पूरी हूँ । मैं प्रियतमके सुखका नाश करनेवाली और दुःखका विधान करनेवाली हूँ । मैं सदा ही मोह और मदमें चूर रहती हूँ । हाय ! अब मैं इस घोर पापका कैसे क्या प्रायश्चित्त करूँ ? मुझमें न तो त्याग है, न तप और न पवित्रता ही है एवं न तनिक-सी भी साधन-सम्पत्ति है । अतएव यदि मेरे पापोंके बीज इस निज-सुखकामनारूप पापका अन्त हो जाय तो मैं नित्य-निरन्तर अनन्तकालतक दुःखसागरमें डूबी रहनेको प्रस्तुत हूँ ।'

प्रभो ! कृपाकर करो आज तुम मुझे वरद हे ! यह वर दान ।
कभी नहीं छोड़ूँ प्रियतमको करूँ न कभी भूलकर ध्यान ॥
जहाँ बुलावें जब जो चाहें, जाऊँ, करूँ वही मैं काम ।
मनको छोड़ सभी मैं चिपटी रहूँ चरण-युग आठों याम ॥

फिर बोलीं—'हे प्रभो ! हे वरदायक ! मुझपर कृपा करके आज तुम मुझे यह वर प्रदान करो कि मैं कभी प्रियतमको न छोड़ूँ । कभी भूलकर भी उनका ध्यान न करूँ (क्योंकि ध्यानजनित निज सुखमें निमग्न होकर मैं उनके सुखको भूल जाती हूँ) । वे मुझे जहाँ बुलावें, वहीं जाऊँ; जब जो चाहें—वही काम करूँ । अपने मनको सब तरह छोड़कर मैं केवल उनके चरणयुगलमें ही चिपटी रहूँ ।'

इतना कह पड़ गयी धरणिपर अकस्मात् होकर अज्ञान।
प्रकट हुए वे प्रेमरसार्णव प्रियतम तुरत स्वयं भगवान॥
उठा, भुजा भर ले निजाङ्कमें किया भाल कोमल कर-स्पर्श।
जगी चेतना देख प्राण-प्रियतमको हर्षित, उमड़ा हर्ष॥
उठी, पार्श्वमें बैठी, दोनों लगे देखने अपलक नैन।
फिर बरसाने लगे नेत्र दोनोंके शीतल रस-सुख-ऐन॥
लगे परस्पर क्षमा माँगने—दोनों दोनोंके आराध्य।
धन्य प्रेम! हो जाता जिसमें साध्य सुसाधक साधक साध्य॥

'इतना कहकर श्रीराधा अकस्मात् अचेतन होकर पृथ्वीपर गिर पड़ीं। इतनेमें वे प्रेमरस-समुद्र प्रियतम स्वयं भगवान् तुरंत प्रकट हो गये और अपनी भुजाओंसे भरकर उन्होंने राधाको उठाकर अपने अङ्कमें ले लिया तथा उनके भालपर अपने कोमल करसे स्पर्श किया। प्रियतमके करकमलका स्पर्श पाते ही राधाकी चेतना जाग उठी और सहसा प्राणप्रियतमको अपने समीप हर्षित देखकर उनका भी हर्ष उमड़ आया। वे उठकर बगलमें बैठ गयीं और दोनों दोनोंको निर्निमेष नेत्रोंसे देखने लगे। तदनन्तर दोनोंके नेत्र सुख-अयन सुशीतल रसकी वर्षा करने लगे। दोनों ही दोनोंसे परस्पर क्षमा माँगने लगे। दोनों ही दोनोंके आराध्य हैं। इस प्रेमको धन्य है—जिसमें 'साध्य' 'सुन्दर साधक' बन जाता है और 'साधक' 'साध्य' बन जाता है।'

झाँकी १२

उदय हुए जब श्रीवृन्दावन-चन्द्र पूर्णतम चन्द्रस्वरूप।
उज्ज्वल स्निग्ध सुधामयि शीतल किरणें लहरा उठीं अनूप॥
पूर्ण पूर्णिमा प्रगटी पावन, हुआ अविद्या-तमका नाश।
प्रेम-प्रभा हुई उद्भासित, छाया शुद्ध मदन-उल्लास॥
पावन यमुना-पुलिन प्रकट हो, छेड़ी मोहिनि मुरली-तान।
किया श्यामने प्रेममूर्ति व्रजसुन्दरियोंका प्रिय आह्वान॥
भूल गयीं अग-जगको, भूलीं देह-गेहका सारा भान।
जो जैसे थीं, वैसे ही चल पड़ीं छोड़ लज्जा, भय, मान॥

'जब परिपूर्ण चन्द्रमास्वरूप श्रीवृन्दावनचन्द्र कृष्णचन्द्र प्रकट हुए, तब उनकी उज्ज्वल, स्निग्ध, अमृतमयी शीतल अनुपम किरणें सब ओर लहराने लगीं। आज मनको पवित्र करनेवाली पूरी पूर्णिमा प्रकट हो गयी, अविद्या-अन्धकारका नाश हो गया। प्रेमकी प्रभा उद्भासित हो उठी और मदन विशुद्ध मदनमन उल्लास छा गया। जब यमुना-तटपर प्रकट होकर श्यामसुन्दरने मुरलीकी मोहिनी तान छेड़ी और उसके द्वारा प्रेममूर्ति व्रजसुन्दरियोंका प्रिय आह्वान किया, तब उसे सुनते ही वे सब अग-जगको भूल गयीं। वे अपने घर-शरीरका सारा भान भूल गयीं और जो जहाँ जैसे जिस अवस्थामें थी, वह वहींसे वैसे ही उसी अवस्थामें सारी लज्जा, भय और मान छोड़कर चल पड़ी।'

होता उदय मधुर रस नव-नव ज्योंमें जब हृल्लानन्द।
रह पाता न पाप प्रेमीका सब रस-कौतुक मन स्वच्छन्द॥

नहीं खींच पाता फिर उसको भुक्ति-मुक्तिका कोई राग।
प्रेम-सुधा-रस-मत्त दौड़ पड़ता, वह सहज सभी कुछ त्याग॥
प्रियतमके प्रिय मधुर-नाम-गुण-लीला-कथा सुधा-रस मग्न।
सर्व समर्पित होता उसका होता सहज मोह-भ्रम भग्न॥

'जब मधुर-मधुर कृष्णानन्द-रस नये-नये रूपोंमें प्रकट हो उठता है, तब प्रेमीजनका उस रसका लोभी स्वच्छन्द मन एक पल भी रुक नहीं पाता। फिर उस प्रेमीको भोग-मोक्षका कोई भी राग खींच नहीं सकता और वह प्रेम-सुधा-रसमें मत्त प्रेमी सहज ही सभी कुछ त्यागकर दौड़ पड़ता है। वह प्रियतमके प्रिय मधुर नाम-गुण-लीला-कथा-सुधा-रसमें निमग्न हो जाता है, फिर उसका सहज ही सारा मोह-भ्रम भङ्ग हो जाता है और सर्वस्व प्रियतमके समर्पित हो जाता है।'

राधामुख्या भावमयी सब व्रजसुन्दरियाँ कर अभिसार।
पहुँची तुरत श्याम-चरणोंमें उन्मादिनि हो मधुर उदार॥
किया समर्पण परम मुदित मन, सहज अखिल जीवन आचार।
बनीं सर्वथा एकमात्र वे प्रियतम सुख-मूरति साकार॥

'अतएव राधा जिनमें मुख्य हैं, वे सब व्रजसुन्दरियाँ—गोपरमणियाँ उन्मादिनी होकर प्रियतमके लिये निकल पड़ीं। और तुरंत ही मधुर एवं उदार प्रियतमके चरणोंमें जा पहुँचीं। वहाँ पहुँचते ही उन्होंने अत्यन्त प्रमुदित मनसे सहज ही अपना जीवन तथा जीवनके अखिल आचार—प्रियतमके प्रति समर्पण कर दिये और वे सब सर्वथा एकमात्र प्रियतमके सुखकी साकार मूर्ति बन गयीं।'

सहज अमित सौन्दर्य, परम माधुर्य, अतुल ऐश्वर्य, निधान ।
पूर्णकाम निष्काम सहज जो आत्माराम स्वयं भगवान ॥
गोपीके उस त्यागशुद्ध रस मधुर दिव्यका करने पान ।
लालायित हो उठे परम आतुर हो रसदाता रसखान ॥

'जो सहज ही अपरिमित परम अतुलनीय सौन्दर्य, माधुर्य और ऐश्वर्यके निधान हैं, जो सहज ही पूर्णकाम, निष्काम और आत्मारामस्वरूप स्वयं भगवान् हैं, वे सबको रस प्रदान करनेवाले, रसके खान आज गोपीके उस त्यागके द्वारा विशुद्ध हुए दिव्य मधुर रसका पान करनेके लिये परम आतुर होकर लालायित हो उठे ।'

प्रेमीजन-मन-रञ्जन प्रभुने किया उन्हें सादर स्वीकार ।
आत्मारामभयी रसक्रीडा विविध विचित्र रची सुखसार ॥
किया कराया दिव्य परम रस-दान-पान अति कर सम्मान ।
प्रति गोपीको दिया परम सुख धर अनन्त वपु दिव्य महान ॥

'उन प्रेमीजनोंके मनका रञ्जन करनेवाले प्रभुने उन श्रीगोपाङ्गनाओंको आदरपूर्वक स्वीकार किया और सुखकी साररूपा आत्मारामभयी विविध विचित्र रस-क्रीडाओंकी रचना की । अत्यन्त सम्मान करके उनको दिव्य परम रसका दान किया और स्वयं पान किया तथा अनन्त दिव्य महान् स्वरूप प्रकट करके प्रत्येक गोपीको परम सुख प्रदान किया ।'

प्रेमभिक्षु बन स्वयं किया गोपी-प्रदत्त सुख अङ्गीकार ।
बोले—प्रेमरसमयियो ! यह निरुपम तुम्हारा रस-व्यवहार ॥
घरकी मोह अटूट बेड़ियाँ तुमने तोड़ीं सभी अविकार ।
सदा चढ़ा ही रहेगा यह सुन्दर सुखमय ऋणका भार ॥

नहीं चुका सकता मैं बदला इसका देव-आयु—चिरकाल ।
तुम्हीं स्व साधुतासे कर सकतीं मुझे कभी ऋणमुक्त निहाल ॥

'अखिललोकमहेश्वर स्वयं भगवान्‌ने प्रेमभिखारी बनकर गोपियोंके दिये हुए सुखको अङ्गीकार किया। फिर वे बोले -'प्रेमसुन्दरियो ! तुम्हारा यह विशुद्ध प्रेम-रसका व्यवहार जो तुमने घरकी अटूट शृङ्खलाओंको तोड़कर मेरा निर्विकार (स्वसुखवाञ्छारहित) भजन किया है, मुझपर सदा ही सुखमय ऋणका भार बढ़ाता रहेगा। (प्रेमी भक्तके प्रेम-ऋणका बढ़ता हुआ बोझ प्रेमास्पद अनन्त सुखस्वरूप भगवान्‌के लिये बड़ा सुखमय होता है।) मैं देवताकी आयुमें भी चिरकालतक तुम्हारे इस ऋणका बदला नहीं चुका सकता, तुम्हीं चाहो तो अपनी साधुतासे मुझे कभी ऋणमुक्त करके कृतार्थ कर सकती हो।

राधा आदि गोपरमणी सब सुनकर प्रियतमकी यह बात ।
हुईं चकित वे लगीं देखने अपलक बन प्रिय-[illegible]-जलजात ॥
देते दिव्य अनन्त परम सुख, निजको [illegible] आप ।
कैसा शील स्वभाव विलक्षण, कैसा [illegible]

'श्रीराधा आदि [illegible] सब [illegible]
चकित हो गयीं [illegible]
निहारने लगीं।
परम सुख देते
प्रियतमका कैसा
हृदय है ?'

झाँकी १२

महामनोहर शरत्पूर्णिमाकी उज्ज्वल ज्योत्स्नामयी मधुर रात्रि है। सुन्दर यमुनातट है। प्रेमनिधि श्रीकृष्ण आज स्वयं ही प्रेम पाशमें बँधना चाहते हैं। वे यमुना-पुलिनपर पधारकर त्रिभुवनको विस्मरण करा देनेवाले सुमधुर मुरली-सङ्गीतके द्वारा व्रजदेवियोंका आवाहन करते हैं। व्रजदेवियाँ आती हैं। वे व्रजदेवियाँ कैसी हैं। और वहाँ क्या होता है:

परम प्रेममयी श्रीराधा गोपीजन सब कायव्यूह।
कृष्णप्रेम-परिपूर्ण हृदय सब दिव्य पूर्ण रस भाव-समूह॥
काम क्रोध, सुख दुःख, प्रशंसा निन्दा मान-लोभ अपमान।
जीवन-मृत्यु, विराग राग, सुधि स्वार्थ-भाग सब ज्ञानाज्ञान॥
शान्ति-अशान्ति विवेक-भाव सब, हास्य रुदन, गर्वाडम्बर।
सभी श्याम निजपनको देकर एकमात्र सुधि कर्म-विचार॥

नव-नीरद-नीलाभ श्यामघन मानो दामिनि दलमें आज।
घन दामिनि, दामिनि घन अगणित बीच बीचमें रहे विराज॥
दिव्य मिलनका उनको करके दुर्लभ दिव्यानन्द प्रदान।
करने लगे स्वयं उस दिव्य रसामृतका सुचि सादर पान॥

वे सब गोपाङ्गनाएँ श्रीकृष्ण प्रेम-रस-भावित-मति थीं और सभीके प्राण श्रीकृष्णके मिलनके लिये सदा व्याकुल रहते थे। इस लोक और परलोकके समस्त विषय, सुख तथा भोगोंका आत्यन्तिक त्याग करके वे सब कृष्णप्रेम-मतवाली गोपाङ्गनाएँ प्रियतम श्रीकृष्णके प्रेमकी मूर्तिमान् स्वरूप थीं। आज वे महाभाग्यवती व्रजसुन्दरियाँ उन रसमय रसराज अगाध अखण्ड रस-समुद्र-स्वरूपको प्राप्त कर अनुपम सुख-शोभासे सम्पन्न हो गयीं। इसीसे सच्चिदानन्द पूर्ण परात्पर भगवान् श्रीकृष्ण अपनी सारी भगवत्ताको भूलकर रसिकचूडामणि, रसशिरोमणि रसराज बनकर प्रेमवश स्वेच्छासे ही प्रकट रूपमें शृंगार करके उन गोपसुन्दरियोंका रसमय आदर-सत्कार करने लगे और उन गोपाङ्गनाओंके मधुर दिव्य रसको पानकर स्वयं भगवान् उसीके लिये ललचा उठे एवं वे अभिनव नव रस-लोभी बनकर रसकी याचना करने लगे। वे भगवान् नव नीरद-नीलाभ श्यामसुन्दर मानो आज मेघरूपसे गोपिकारूप अगणित बिजलियोंके बीचमें एक-एक बिजलीके साथ एक-एक मेघ रूपमें अलग विभाजित हो गये। तदनन्तर उन गोपसुन्दरियोंको अपने दिव्य मिलनका दिव्यानन्द प्रदान करके आप उस पवित्र दिव्य रस-सुधाका आदरके साथ आस्वादन-पान करने लगे।

झाँकी १४

स्याम सरोज बदन सुचि सुंदर नयन-जुगल चंचल सुविसाल ।
भ्रुकुटि कुटिल आकर्षति मुनि-मन मृगमद-कुंकुम तिलक सुभाल॥
झूमि रहीं अलकावलि कारी घुँघुरारी घन रुचिर विचित्र ।
कानन कुंडल ज्योति छिटक रहि कलित कपोलनि रचना चित्र ॥
सीस मुकुट मनि-मोर-सिखाजुत लसत मंजु बर विनु उपमान ।
अरुन अधर विकसित दसनावलि छाई मंद मधुर मुसुकान ॥
उर विसाल सोभित मुक्तामनि सुरभित कुसुम-तुलसिका हार ।
कटि किंकिनि रव सुमधुर बाजत झनकत पग नूपुर झनकार ॥

रूप अनूप अपार अलौकिक धरे चले रहे मारग स्याम।
राधा निरखि रही अपलक दृग बैठि झरोखे बदन ललाम॥
नेत्र अतृप्त निरखि सुंदरता आनँदसागर उर न समात।
बही दृगन धारा अबाध गति प्लावित कर सुचि सुख-जलजात॥

श्यामवर्णका जिनका पवित्र सुन्दर वदन-कमल है, जिनके दोनों नेत्र सुन्दर विशाल और चपल हैं, जिनकी टेढ़ी भौंहें मुनियोंके मनको खींच रही हैं, जिनके सुन्दर भालपर कस्तूरी-केसरका तिलक सुशोभित हो रहा है। जिनके सिरपर परम सुन्दर चिकनी काली घनी घुँघराली अलकावली झूल रही है, चित्रोंकी रचनासे युक्त कल्पित कपोलोंपर जिनके कानोंके कुण्डलोंकी ज्योति छिटक रही है, जिनके सिरपर मणियोंका मयूरपिच्छ-संयुक्त ऐसा परम मनोहर श्रेष्ठ मुकुट सुशोभित है कि जिसकी उपमाके योग्य कहीं कोई नहीं है। जिनके लाल-लाल अधरोंपर मन्द मधुर मुसकान छायी है, जिससे उनकी दन्तपंक्ति विकसित हो रही है। जिनके विशाल वक्षःस्थलपर मुक्ता, मणि तथा सुगन्धित पुष्पोंके और तुलसीके हार सुशोभित हैं। जिनके कटिप्रदेशमें करधनीके घुँघरुओंकी सुमधुर ध्वनि बज रही है और जिनके पैरोंमें नूपुरोंकी झंकार झनक रही है। ऐसे अनुपम अपार अलौकिक दिव्यरूपको धारण किये श्यामसुन्दर मार्गसे जा रहे हैं। श्रीराधाजी झरोखेमें बैठी उनके परम सुन्दर वदनको अपलक नेत्रोंसे निरख रही हैं। श्यामसुन्दरके सौन्दर्यको निरखकर राधाके नेत्र तृप्त नहीं हो रहे हैं, हृदयमें आनन्दका सागर उमड़ पड़ा है, वह समा नहीं रहा है और उस [illegible] पवित्र

रसधारा (नेत्रोंके द्वारा) अत्यन्त अबाध गतिसे पवित्र मुखकमलको प्लावित करके बहने लगी है ।

देखि राधिका मुखससि सुखमय हरषि भये मोहन रसमग्न ।
सहसा एक नयो भय उपज्यौ तातें भयो स्याम सुख भग्न ॥
'देखि मोहि प्रियतमा राधिका कितनी सुखी भई एहि काल ।
आँखिन ओझल होत अदरसन तें कैसी होगी बेहाल ॥
महि पावैगी कैसे राधा हृदय-विदारक सो उर-सूल ।'
हाय पुकार रो उठे मोहन सहसा गये सकल सुख भूल ॥

श्रीराधाके मुखचन्द्रको सुखमय देखकर श्रीश्याम-सुन्दर मोहन हर्षित होकर प्रेम-रसमें निमग्न हो गये । पर अचानक उनके हृदयसे एक नया भय उत्पन्न हो आया, जिसके कारण श्यामसुन्दरकी वह सुखकी स्थिति टूट गयी । वे सोचने लगे—'प्रियतमा राधिका इस समय मुझे देखकर कितनी सुखी हो रही है, पर मैं जब चला जाऊँगा, तब आँखोंसे ओझल होते ही मुझे न देखकर इसकी कैसी दुर्दशा होगी । मेरे अदर्शनसे इसके हृदयमें जो हृदयको विदीर्ण कर देनेवाला शूल उत्पन्न होगा, उसे यह राधा कैसे सहन कर सकेगी ?' इतना सोचते ही श्यामसुन्दर 'हाय ! हाय !' पुकार सहसा रोने लगे । वे अपना सारा सुख भूल गये ।

देखि विषाद भर्यो प्रियतम-मुख काँपि उठ्यौ राधा तन धीर ।
उठी हृदय तें हूक बिंधि गयौ मानों विषम विषबुझ्यौ तीर ॥
निज सुख हेतु स्याम मनसुख मैं आई क्यौं अपराधिनि आज ?
जो सुख, स्याम-दुःखकौ कारन ता पर परी क्यों नहीं गाज ?

नहीं आवती जो सन्मुख मैं होती नहिं आनँदबिभोर।
मेरी भावी दुख-संका तें तो न दुखी होते चितचोर॥
मेरे दुख दुखी ये प्रियतम मेरे सुख तें सुखी अमान।
तिनहूँ नित्य दुखी मैं करती निज-सुख इच्छामें बेभान॥
कबहुँ न मैं देखूँ अब तिनहूँ, देखहु पाऊँ रहूँ सचेत।
सुख-लहरी आवै न बदनपर प्रगट न होवै सुख संकेत॥

इस प्रकार प्रियतम श्यामसुन्दरका मुख विषादसे भरा देखकर धैर्यवती राधाका शरीर काँप उठा। उनके हृदयमें हूक उठ गयी हुई, मानो भयानक विषका बुझा तीर हृदयमें बिंध गया हो। वे सोचने लगीं—मैं अपने सुखके लिये आज क्यों श्यामसुन्दरके सामने आयी? मैं अपराधिनी हूँ। मेरा जो सुख, प्रियतम श्यामसुन्दरके दुःखका कारण हो, उसका दमन क्यों नहीं हो गया? मैं आज यदि सम्मुख न आयी होती और श्यामसुन्दरको देखकर आनन्दमें विभोर न हुई होती तो मेरे भावी दुःखकी आशङ्कासे ये मेरे चित्तचोर दुखी नहीं होते। ये मेरे प्रियतम मेरे दुःखसे दुखी हैं और मेरे सुखसे ही ये अपार सुखी होते हैं। पर मैं अपने सुखकी इच्छासे अचेत होकर सदा उन्हें दुखी ही करती रहती हूँ। किंतु अब तो मैं यही चाहती हूँ कि मैं उनको कभी न देखूँ और यदि कभी देख भी पाऊँ तो इतनी सावधान रहूँ कि न तो मेरे मुखपर सुखकी कोई रेखा आवे, न सामने ही कभी सुख दिखायी दे।

झाँकी १५

लता-वल्लरी रही प्रफुल्लित, श्याम-तमाल सुशोभित कुञ्ज।
सुमन-समूह सौरभित सुन्दर, मँडरा रहा मुग्ध अलिपुञ्ज॥
मत्त मयूरी नृत्य कर रहीं; शुक-सारिका निरत कल गान।
कालिन्दी कल्लोल कर रहीं मत्त वही जा रही उजान॥
मधुर मुरलि मुखरित नभमण्डल सकल पूर्ण रसभरित निनाद।
दिग् दिगन्त आनन्द मत्त अति, हटे मिटे भय, शोक, विषाद॥

श्रीवृन्दावनकी अतुलनीय शोभा है—लता-वेल सब फूल रही हैं, कुञ्जें श्याम तमालसे सुशोभित हैं, सुन्दर पुष्प-समूह सुगन्ध फैला रहा है, उसपर भ्रमरोंका समूह मँडराया करता है। मत्त मयूरी नृत्य कर रही है, शुक-सारिका सुन्दर गान कर रही हैं। कालिन्दी (श्रीयमुनाजी) मतवाली हुई कल्लोल करती प्रतिकूल वही जा रही हैं। सारा आकाश-मण्डल मधुर मुरलीस्वरसे मुखरित है, सब ओर रसभरा निनाद परिपूर्ण हो रहा है। सभी दिशा-विदिशाएँ अत्यन्त आनन्दमग्न हो रही हैं, सारे भय-शोक-विषाद हट-मिट गये हैं।

प्रेम-रस भरी, भानुनन्दिनी सब कुछ छोड़ चली अभिसार ।
कौन ? कहाँ मैं चली जा रही ? क्यों ? सब भूल गयी संसार ॥
पहुँची प्रियतम पद पद्मोंमें, देख रूप हो गयी विभोर ।
अधर मधुर मृदु हास्य सुशोभित, नवल श्यामघन मन धन चोर ॥

इसी समय प्रेमरससे भरी हुई श्रीवृषभानुनन्दिनी राधाजी सब कुछ त्यागकर प्रियतम श्रीकृष्णसे मिलनेके लिये अभिसार करके चल दीं। मैं कौन हूँ ? कहाँ चली जा रही हूँ ? क्यों जा रही हूँ—इन्हें इसका पता नहीं है। वे सारे संसारको ही भूल गयी हैं।

चलती चलती वे प्रियतम श्रीकृष्णके चरणकमलोंके समीप जा पहुँची हैं और उनके रूप-सौन्दर्यको देखते ही बेसुध हो गयी हैं। उन मनरूपी धनके चोर नित्य नवीन श्यामघन श्रीश्यामसुन्दरके अधरोंपर मधुर मृदु-मुसकान शोभा पा रही है।

अगणित शारद इन्दु-मद हारी, वदन इन्दु वर विमल विभास ।
दृग विशाल मद भरे मनोहर, प्रमीजन मन नयन विलास ॥
सर्वाकर्षक, सर्वाह्लादक, महारसायन, रस भरपूर ।
सौन्दर्यामृतसिन्धु तरङ्गित, लज्जा चित्त शयन-दूर ॥
अङ्ग-सुगन्ध दिव्य दशौ निज घ्राणेन्द्रियको सुख स्वच्छन्द ।
भाल विशाल, केश घुँघराले, मुकुट मयूर पिच्छ सुछन्द ॥

निर्मल प्रभासे पूर्ण श्यामसुन्दरका श्रेष्ठ मुखचन्द्र अगणित शरदीय चन्द्रमाओंका मद हरण कर रहा है। श्यामसुन्दरके प्रेममदसे पूर्ण मनोहर विशाल नेत्र प्रमीजनोंके मन तथा नेत्रोंके लिये विलासरूप हैं। वे सबका आकर्षण करनेवाले हैं, सबको आह्लादित

करनेवाले हैं, महान् रसायन हैं और रससे भरपूर हैं। उनके सौन्दर्यसुधासागरमें विविध तरङ्गें उठ रही हैं, जो ललनाओंके चित्तको बहा ले जानेमें अति शूरवीर हैं। उनकी दिव्य अङ्ग-सुगन्ध नित्य घ्राणेन्द्रियको स्वच्छन्दतासे सुख दे रही है। उनका विशाल मस्तक है, घुँघराली अलकावली है और सिरपर सुखका कन्द मयूरपिच्छका मुकुट सुशोभित है।

मुग्धा राधा बोल न पायीं, वाणी सहज हुई अवरुद्ध।
चला परस्पर सुखद सरसतम भाव-तरङ्गोंका शुचि युद्ध॥
हृदय द्रवित हो, उमड़ा दिव्यामृत रस-सागर अमित अथाह।
धैर्य-कूल कर भङ्ग बह चला राधा दृगसे अश्रु-प्रवाह॥
हुए क्षणोंमें ही प्रक्षालित चरण-युगल अतिशय अभिराम।
जिनकी नखचन्द्रद्युति ही है—परब्रह्म सच्चित् सुखधाम॥

राधा मुग्ध हो गयीं, वे कुछ बोल नहीं पा रही हैं। उनकी वाणी सहज ही रुक गयी है। उनके हृदयमें सरस-शिरोमणि सुखप्रद पवित्र भावतरङ्गोंका युद्ध होने लगा। उनका हृदय द्रवित हो गया। उनका अपरिमित अथाह दिव्य अमृत-रस-समुद्र उमड़ उठा और वह धैर्यरूप तटको तोड़कर राधाजीकी आँखोंसे आँसुओंके प्रवाहके रूपमें बह चला तथा उस प्रवाहने कुछ ही क्षणोंमें श्रीश्यामसुन्दरके उन अत्यन्त अभिराम चरण-युगलोंको धो दिया, जिनके नखचन्द्रकी द्युति ही सच्चिदानन्दस्वरूप परब्रह्म है।

सहसा देख प्रियतमाको, उनकी इस लीलाको सुखसार।
विह्वल हुए श्याम दृग आँसू बहे, उठा ली भुजा पसार॥

कहने लगे--'तुम्हारा ही प्रियतमे ! कर रहा था मैं ध्यान।
डूब रहा था मैं अगाध सौन्दर्य-सिंधुमें शुचि निर्मान॥
इतनेमें ही मिला तुम्हारा मुझको अकस्मात् संस्पर्श।
खुले नेत्र, सहसा दीखी तुम ! भरा तुरंत हृदय अति हर्ष॥

सहसा प्रियतमा श्रीराधाको और अश्रुओंसे अपने चरण प्रक्षालन करने आदिकी उनकी सुखसार लीलाओंको देखकर श्यामसुन्दर आनन्द-विह्वल हो गये, उनके नेत्रोंसे आँसू बहने लगे और उन्होंने अपनी भुजाएँ पसारकर राधाको उठा लिया। फिर कहने लगे—'प्रियतमे ! मैं तुम्हारा ही ध्यान कर रहा था, तुम्हारे पवित्र और परिमाणरहित अगाध सौन्दर्य-समुद्रमें मैं डूब रहा था। इसी बीच मुझको अकस्मात् तुम्हारा संस्पर्श प्राप्त हुआ, मेरे नेत्र खुल गये, अचानक तुम दिखायी दी और मेरा हृदय अत्यन्त हर्षसे तुरंत भर गया।'

वचनसुधा रमणीय दिव्य कर पान राधिका भूली भान।
दशा 'प्रेमवैचित्य' उदय हो उठी मिट गया बाह्यज्ञान॥
प्रियतमने संनिधिमें लेकर रक्खा शुचि मस्तक निज अङ्क।
अपलक लगे देखने वल्लभ सुधा-मधुर-श्री-मुमुख-मयङ्क॥

श्रीश्यामसुन्दरके रमणीय दिव्य वचनामृतका पान करते ही राधा सारी सुध भूल गयीं। उनमें 'प्रेमवैचित्य' दशाका उदय हो आया और उनका बाह्य ज्ञान मिट गया। राधाकी 'प्रेमवैचित्य' दशा देखकर प्रियतम श्रीश्यामसुन्दरने उनको अपने समीप ले लिया और उनके पवित्र मस्तकको अपनी गोदमें रख लिया। फिर वे प्रिय-

कहने लगे--'तुम्हारा ही प्रियतमे ! कर रहा था मैं ध्यान।
डूब रहा था मैं अगाध सौन्दर्य-सिंधुमें शुचि निर्मान॥
इतनेमें ही मिला तुम्हारा मुझको अकस्मात् संस्पर्श।
खुले नेत्र, सहसा दीखी तुम ! भरा तुरंत हृदय अति हर्ष॥

सहसा प्रियतमा श्रीराधाको और अश्रुओंसे अपने चरण प्रक्षालन करने आदिकी उनकी सुखसार लीलाओंको देखकर श्यामसुन्दर आनन्द-विह्वल हो गये, उनके नेत्रोंसे आँसू बहने लगे और उन्होंने अपनी भुजाएँ पसारकर राधाको उठा लिया। फिर कहने लगे—'प्रियतमे ! मैं तुम्हारा ही ध्यान कर रहा था, तुम्हारे पवित्र और परिमाणरहित अगाध सौन्दर्य-समुद्रमें मैं डूब रहा था। इसी बीच मुझको अकस्मात् तुम्हारा संस्पर्श प्राप्त हुआ, मेरे नेत्र खुल गये, अचानक तुम दिखायी दी और मेरा हृदय अत्यन्त हर्षसे तुरंत भर गया।'

वचनसुधा रमणीय दिव्य कर पान राधिका भूली भान।
दशा 'प्रेमवैचित्य' उदय हो उठी मिट गया बाह्यज्ञान॥
प्रियतमने सन्निधिमें लेकर रक्खा शुचि मस्तक निज अङ्क।
अपलक लगे देखने वल्लभ सुधा-मधुर श्री-मुख-मयङ्क॥

श्रीश्यामसुन्दरके रमणीय दिव्य वचनामृतका पान करते ही राधा सारी सुध भूल गयीं। उनमें 'प्रेमवैचित्य' दशाका उदय हो आया और उनका बाह्य ज्ञान मिट गया। राधाकी 'प्रेमवैचित्य' दशा देखकर प्रियतम श्रीश्यामसुन्दरने उनको अपने समीप ले लिया और उनके पवित्र मस्तकको अपनी गोदमें रख लिया। फिर वे प्रियत—

करनेवाले हैं, महान् रसायन हैं और रससे भरपूर हैं। उनके सौन्दर्यसुधासागरमें विविध तरङ्गें उठ रही हैं, जो ललनाओंके चित्तको बहा ले जानेमें अति शूरवीर हैं। उनकी दिव्य अङ्ग-सुगन्ध नित्य घ्राणेन्द्रियको स्वच्छन्दतासे सुख दे रही है। उनका विशाल मस्तक है, घुँघराली अलकावली है और सिरपर सुखका कन्द मयूरपिच्छका मुकुट सुशोभित है।

मुग्धा राधा बोल न पायीं, वाणी सहज हुई अवरुद्ध।
चला परस्पर सुखद सरसतम भाव-तरङ्गोंका शुचि युद्ध॥
हृदय द्रवित हो, उमड़ा दिव्यामृत रस-सागर अमित अथाह।
धैर्य-कूल कर भङ्ग बह चला राधा दृगसे अश्रु-प्रवाह॥
हुए क्षणोंमें ही प्रक्षालित चरण-युगल अतिशय अभिराम।
जिनकी नखचन्द्रद्युति ही है—परब्रह्म सच्चित् सुखधाम॥

राधा मुग्ध हो गयीं, वे कुछ बोल नहीं पा रही हैं। उनकी वाणी सहज ही रुक गयी है। उनके हृदयमें सरस-शिरोमणि सुखप्रद पवित्र भावतरङ्गोंका युद्ध होने लगा। उनका हृदय द्रवित हो गया। उनका अपरिमित अथाह दिव्य अमृत-रस-समुद्र उमड़ उठा और वह धैर्यरूप तटको तोड़कर राधाजीकी आँखोंसे आँसुओंके प्रवाहके रूपमें बह चला तथा उस प्रवाहने कुछ ही क्षणोंमें श्रीश्यामसुन्दरके उन अत्यन्त अभिराम चरण-युगलोंको धो दिया, जिनके नखचन्द्रकी द्युति ही सच्चिदानन्दस्वरूप परब्रह्म है।

सहसा देख प्रियतमाको, उनकी इस लीलाको सुखसार।
विह्वल हुए श्याम दृग आँसू बहे, उठा लीं भुजा पसार॥

कहने लगे—'तुम्हारा ही प्रियतमे ! कर रहा था मैं ध्यान।
डूब रहा था मैं अगाध सौन्दर्य-सिंधुमें शुचि निर्मान ॥
इतनेमें ही मिला तुम्हारा मुझको अकस्मात् संस्पर्श।
खुले नेत्र, सहसा दीखी तुम ! भरा तुरंत हृदय अति हर्ष ॥

सहसा प्रियतमा श्रीराधाको और अश्रुओंसे अपने चरण प्रक्षालन करने आदिकी उनकी सुखसार लीलाओंको देखकर श्यामसुन्दर आनन्द-विह्वल हो गये, उनके नेत्रोंसे आँसू बहने लगे और उन्होंने अपनी भुजाएँ पसारकर राधाको उठा लिया। फिर कहने लगे—'प्रियतमे ! मैं तुम्हारा ही ध्यान कर रहा था, तुम्हारे पवित्र और परिमाणरहित अगाध सौन्दर्य-समुद्रमें मैं डूब रहा था। इसी बीच मुझको अकस्मात् तुम्हारा संस्पर्श प्राप्त हुआ, मेरे नेत्र खुल गये, अचानक तुम दिखायी दी और मेरा हृदय अत्यन्त हर्षसे तुरंत भर गया।'

वचनसुधा रमणीय दिव्य कर पान राधिका भूली भान।
दशा 'प्रेमवैचित्य' उदय हो उठी मिट गया बाह्यज्ञान ॥
प्रियतमने संनिधिमें लेकर रक्खा शुचि मस्तक निज अङ्क।
अपलक लगे देखने वल्लभ सुधा-मधुर-श्री-मुमुख-मयङ्क ॥

श्रीश्यामसुन्दरके रमणीय दिव्य वचनामृतका पान करते ही राधा सारी सुध भूल गयीं। उनमें 'प्रेमवैचित्य' दशाका उदय हो आया और उनका बाह्य ज्ञान मिट गया। राधाकी 'प्रेमवैचित्य' द[illegible] देखकर प्रियतम श्रीश्यामसुन्दरने उनको अपने समीप ले लिया[illegible] उनके पवित्र मस्तकको अपनी गोदमें रख लिया। फिर वे [illegible]

इसलिये निरन्तर मैं तुम्हारे पास रहता हूँ। प्रियतमे! मैं कहीं गया नहीं था, तुमको छोड़कर कभी कहीं जा भी नहीं सकूँगा। एक तुमको छोड़कर मेरा कहीं भी किञ्चित्-सा भी राग नहीं है। बस, तुमको सुखी करनेके लिये ही मैं भूमिपर अवतरित होता हूँ और मैं तुम्हारे अनिर्वचनीय अपार दिव्य प्रेम-रसका आस्वादन करता रहता हूँ।' यों कहते-कहते श्यामसुन्दरके हृदयसागरमें अनेकों तरङ्गें उठ खड़ी हुईं। उनकी आँखोंसे आँसुओंकी नदी बह चली। उनके समस्त चिन्मय श्रीअङ्ग शिथिल हो गये।

जागीं राधिका, मिटा 'प्रेमवैचित्त्य' हुआ सुस्मृतिका लाभ।
देखा अश्रु बहाते प्रियतम, म्लान नेत्र जो नित अमिताभ॥
आतुर आर्त रो पड़ीं, बोलीं—'प्राणेश्वर! मैं कैसी नीच?
मेरे कारण नित प्रसन्न मुख, आज विषण्ण जगत्‌के बीच॥
कैसे दुःख मिटाऊँ प्यारे! कैसे सुख पहुँचाऊँ आज!
कैसे मुखपर मुक्त हास्य मैं देखूँ? हे मेरे सिरताज!!

राधिकाजी जागीं, उनकी 'प्रेमवैचित्त्य' दशा हट गयी। उन्हें फिर सुन्दर स्मृति प्राप्त हो गयी। उन्होंने प्रियतमको आँसू बहाते और उनके नित्य अत्यन्त द्युतिसम्पन्न नेत्रोंको मलिन देखा! वे आतुर—आर्त होकर रो पड़ीं। बोलीं—'प्राणेश्वर! मैं कैसी नीच हूँ! तुम जो सहज नित्य प्रसन्नमुख हो, उन्हें आज मेरे कारण जगत्‌के सामने विषण्ण होना पड़ा। प्रियतम! इस दुःखको मैं कैसे मिटाऊँ? कैसे आज मैं तुमको सुख पहुँचाऊँ? कैसे हे मेरे सिरताज! आज मैं तुम्हारे श्रीमुखपर खुली हँसी खेलते देखूँ?'

सुनकर बोले मेरे प्रियतम, 'प्रिये ! एक साधन विख्यात।
मुझे हँसाने सुखी बनानेका अमोघ, यह निश्चित बात॥
सुखी बनो तुम रहो प्रफुल्लित, रोम रोम भर दिव्यानन्द।
मृदु मन्दस्मित रहे खेलता अधरोष्ठोंपर नित्य अमन्द॥
प्रिये ! तुम्हारा सुख मेरा सुख, प्यार तुम्हारा मेरा प्यार।
सुखी करो, हो सुखी स्वयं तुम—यही एक बस साधन-सार॥'

राधाजी कहती हैं कि मेरी बात सुनकर मेरे प्रियतम बोले—'प्रियतमे ! तुम्हारे-मेरे प्रेमराज्यमें एक साधन विख्यात है और वह मुझे हँसाने तथा सुखी बनानेका अमोघ साधन है। यह निश्चित बात है। वह यह है कि तुम सुखी बनो, तुम सदा प्रफुल्लित रहो, तुम्हारा रोम-रोम दिव्य आनन्दसे भरा रहे। तुम्हारे अधर-ओठोंपर सदा कभी कम न होनेवाली मृदु मन्द मुसकान खेलती रहे। प्रियतमे ! तुम्हारा सुख ही मेरा सुख है और तुम्हारा प्रेम ही मेरा प्रेम है। तुम स्वयं सुखी होकर मुझे सुखी करो—बस, यही एक साधनोंका सार है।'

प्रिय मुखकी सुन बात, राधा अति हर्षित हुई।
पुलक हो उठे गात, मिले परस्पर हर्षयुत॥

प्रियतमके मुखकी वाणी सुनकर राधाजी अत्यन्त हर्षित हो गयीं। उनका सारा शरीर पुलकित हो गया और दोनों परस्पर हर्षमें भरकर मिले।



झाँकी १९

एक दिन श्रीराधाजीके प्रति श्रीकृष्ण यों कहने लगे—

सर्वनियन्ता सर्वेश्वर मैं, सब गुणरहित सर्व-गुण-धाम।
सर्वभूतमय, सर्वाश्रय मैं, सर्वातीत, सर्व-विश्राम॥
सर्वमूल मैं, पूर्ण तृप्त नित, आप्तकाम हूँ, नित निष्काम।
नित्य निरीह, पूर्ण निज सुखसे, निज महिमा स्थित, आत्माराम॥
नहीं अभाव कहीं कुछ भी है, नहीं कदापि चाह-परवाह।
नहीं किसी सुखकी प्रसन्नता, नहीं दुःखकी आह-कराह॥
पर राधा तेरा अति पावन, मधुर प्रेमरस-सिन्धु अपार।
आकर्षित नित करता रहता, प्रति तरङ्गमें मुझे पुकार॥
क्षुधा-तृषा जग उठी विलक्षण, नित्य तृप्त मुझमें सुमहान।
आतुर मैं तत्पर आ करने लगा मधुर अवगाहन-पान।
पर न कदापि तृप्त हो पाता, बढ़ता नया-नया अभिलाष।
बढ़ता लोभ हरेक लाभमें, बढ़ती नित नव क्षुधा-पिपास॥
अनुपम अतुल त्याग परिपूरित तेरा यह रस निधि अभिराम।
मेरे लिये हो गया अब तो यही जीवनाधार ललाम॥
इस रससिंधु मधुरमें ही मैं रहा चाहता नित्य निमग्न।
राधे! रहूँ सदा ही तेरे दिव्य प्रेममें मैं संलग्न॥

राधे! मैं सबका नियन्ता हूँ, सबका ईश्वर हूँ, समस्त गुणोंसे रहित हूँ और सर्वगुणोंका धाम हूँ। मैं सारे जीवोंके रूपमें प्रकट हूँ,

मैं सबका आश्रय हूँ, सबसे अतीत हूँ और सबका विश्राम हूँ। मैं सबका मूल हूँ, पूर्ण तृप्त हूँ, नित्य आप्तकाम और नित्य निष्काम हूँ। मैं नित्य इच्छारहित हूँ, अपने ही स्वरूपभूत सुखसे पूर्ण—सुखस्वरूप हूँ, अपनी ही महिमामें स्थित, आत्माराम हूँ। मेरे लिये न तो कहीं कुछ भी अभाव है, न कभी भी कुछ चाह या परवा है। न मुझे किसी भी सुखकी प्रसन्नता है, न किसी दुःखकी मुझे आह—कराह ही है। मैं सुख-दुःखसे रहित हूँ। इतनेपर भी राधे! तेरा जो अत्यन्त पावन मधुर प्रेमरसका अपार सागर है, वह अपनी प्रत्येक तरङ्गके द्वारा मुझे पुकार-पुकारकर नित्य आकर्षित करता रहता है। इसीसे उस रसके आस्वादनके लिये मुझ नित्य-तृप्तमें एक सुन्दर और महान् सर्व-विलक्षण भूख-प्यास जाग उठी और मैं तेरे उस प्रेम-सुधा-सागरके तटपर आतुरताके साथ आकर उसमें डुबकी लगाने तथा उस रसका पान करने लगा; पर ज्यों-ज्यों मैं उसका आस्वादन—पान करता हूँ, त्यों-ही-त्यों नित्य नयी-नयी अभिलाषा बढ़ती है और मैं कभी भी तृप्त नहीं हो पाता। प्रत्येक क्षणमें मेरा लोभ बढ़ता है और नित्य नये रूपमें मेरी उस रसके लिये भूख-प्यास बढ़ती है। तेरा यह अनुपमेय, अतुलनीय त्यागसे परिपूर्ण रस-समुद्र बड़ा ही सुन्दर है और मेरे लिये तो अब यही जीवनका एकमात्र नित्य आधार बन गया है। अतः मैं इस मधुर रससागरमें ही सदा डूबा रहना चाहता हूँ। राधे! मैं सदा ही तेरे दिव्य प्रेममें ही संलग्न रहूँ।

झाँकी १७

श्रीराधारानीने जबसे 'कृष्ण' नाम सुना, तभीसे वे प्रेमविह्वल हो रही हैं। उनकी विचित्र स्थिति नित्य बनी रहती है। उनकी ऐसी स्थिति देखकर एक दिन एक अन्तरङ्ग सखी उनको समझाने लगी। राधारानीने कुछ धैर्य धारण करके कहा—

प्रियतम कौ अति मधुर मनोहर 'कृष्ण' नाम जब सुन्यो ललाम।
भर्‌यो अमिय रस तबहिं हृदय में, भरत रहत तब तें सुखधाम॥

'सखी! जिस क्षण मैंने प्रियतमका अत्यन्त मधुर मनहारी परम सुन्दर 'कृष्ण' नाम सुना, उसी क्षण मेरा हृदय एक विलक्षण अमृत-रससे भर गया। पर भरनेपर भी वह खाली ही जान पड़ता है और उसी समयसे वह सुखका धाम अमृतरस लगातार भरता ही चला जा रहा है।'

अग-अग के बिसरी मैं सब ते सगरे, मीठे खारे नाम।
कृष्ण नाम धुनि मंजु गूँज रहि सब दिसि सकल काल अभिराम॥

'सखी! तभीसे मैं जगत‌के सारे मधुर तथा कटु नामोंको भूल गयी। सब दिशाओंमें और सभी समय एकमात्र 'कृष्ण' नामकी ही मधुर ध्वनि सदा गूँजती रहती है।'

सज्जन-सेवित वेद-लोक की मिटी सकल मरजादा-लाज।
बिघल्यौ हियौ, बही दृग धारा अधर नाम सुचि रह्यो बिराज॥

'वेदकी जिस मर्यादा तथा लोककी जिस लज्जाका सज्जनगण सदा सेवन—साक्षण करते हैं, वही वेदकी मर्यादा और लोककी लाज मेरे जीवनसे मिट गयी। मेरा हृदय द्रवित हो गया, आँखोंसे धारा बहने लगी और मेरे अधर-ओष्ठपर पवित्र 'कृष्ण' नाम सदाके लिये विराजित हो गया।'

रही न सुधि कछु कहन करन की समुझि न परत कहा यह रोग।
'कृष्ण' नाम-रस उपजावत हिय नित नूतन वियोग-संयोग॥

'तभीसे सखी! न तो मुझे कुछ कहनेकी बात याद रही और न कुछ करनेकी ही। न मैं यही समझ पाती हूँ कि मेरे यह क्या रोग लग गया है। बस, 'कृष्ण' नामका रस मेरे हृदयमें नित्य नयी-नयी प्रियतमके वियोग और संयोगकी—बिछुड़ने और मिलनेकी अनुभूति कराता रहता है।'

कबहुँ हँसावत, कबहुँ रुलावत कबहुँ करावत करुन पुकार।
चेत अचेत करावत पुनि पुनि कबहुँ मौन कबहूँ चीत्कार॥

'यह 'कृष्ण' नाम मुझे कभी हँसाता है, कभी रुल
कभी मुझसे करुण पुकार करवाता है, कभी मुझे होशमें ल
है और कभी बिल्कुल बेहोश कर देता है। कभी सर्वथा मौन
देता है और कभी चीत्कार कराने लगता है। बस, पुनः-पुनः
स्थिति होती रहती है।'

कहा करूँ, जाऊँ कहँ मैं अब पाऊँ जहँ प्रानिनि के प्रान।
मिलूँ हृदय भर तिन्ह तें मैं सखि! पाऊँ तुरत दुःख ते त्रान॥

'सखी! अब मैं क्या करूँ? कहाँ जाऊँ जहाँ मुझे अपने प्राणोंके प्राण प्रियतमकी प्राप्ति हो और मैं उनसे हृदयभरके मिलूँ, जिससे तुरंत ही मैं सारे दुःखोंसे त्राण पा जाऊँ?'

सखि समुझावन लगी सुनौ हे राधा! धरौ हृदय में धीर।
स्वयं कृष्ण मिलि सपदि हरैंगे सगरी तुम्हरे हिय की पीर॥

"यह सुनकर सखी समझाने लगी—"राधे! सुनो, हृदयमें धैर्य धारण करो, स्वयं श्रीकृष्ण शीघ्र ही तुमसे मिलेंगे और तुम्हारे हृदयकी सारी पीड़ाको हर लेंगे।"

तने ही में सहसा प्रगटे, राधाप्रिय हरि प्रेमाधार।
ह्वल परी चरन राधा, ली तुरत उठाय, भरी अँकवार॥

'इसी बीच सहसा राधाके प्रियतम तथा प्रेमके आधार हरि
हो गये। उन्हें देखते ही विह्वल होकर राधा चरणोंमें गिर पड़ीं
ंत ही श्रीकृष्णने उनको उठाकर अपने हृदयसे लगा लिया।'



झाँकी १८

श्रीराधाके साथ प्रियतम श्रीकृष्ण एक दिन स्वरूपतत्त्वकी चर्चा करते हुए उनसे बोले—

प्रिये ! लखौ तुम सर्ब-बिलच्छन अपनौ रूप अनूप।
दोउ अनादि बिहरत बिलसत हम सब पद्धति नव रूप॥

प्रिये ! तुम सबसे विलक्षण हमारे अनुपमेय रूपकी ओर देखो। हम दोनों अनादिकालसे नयी-नयी पद्धति और नये-नये रूपोंमें विहार-विलास कर रहे हैं।

हम न रमन-रमनी जथार्थ मैं न स्वकीय परकीय।
प्रकृति पुरुष हूँ नहिं, निरत नित सुचि क्रीड़ा कमनीय॥

परंतु हम न तो यथार्थमें रमण-रमणी हैं, न हमारे अंदर स्वकीय-परकीय-भाव ही है। हम प्रकृति-पुरुष भी नहीं हैं तथापि नित्य पवित्र मधुर मनोहर क्रीड़ामें रत हैं।

निराकार साकार न हम हैं निर्विशेष सविशेष।
नहीं सगुन निरगुन हम दोऊ नहिं शेषी नहिं शेष॥

न तो हम दोनों आकाररहित हैं, न भौतिक आकारयुक्त ही हैं। न हम निर्विशेष हैं, न सविशेष हैं। न हम दोनों भौतिक गुणोंवाले हैं, न स्वरूपभूत गुणोंसे रहित ही हैं और हम न शेषी हैं तथा न शेष हैं।

माया ब्रह्म न मायामय हम नहीं व्यक्त-अव्यक्त।
प्रेम पूर्णतम प्रेमरस-रसिक रसमय रस-आसक्त॥

हम दोनों न माया तथा ब्रह्म हैं, न मायामय (मायिक रूपवाले) हैं। न भौतिक रूपमें व्यक्त हैं और न सच्चिन्मय स्वरूपमें अव्यक्त हैं। हम हैं पूर्णतम प्रेम, प्रेमरसके रसिक, दिव्य रसमय और दिव्य रससे आसक्त !

नित नव विकसत मधुर हमारो रूप अनन्त अपार।
बढ़त नित्य निष्काम कामना नित्य नवीन विहार॥

हम परिपूर्णतम प्रेमस्वरूपका यह हमारा मधुर रूप अनन्त और अपार रूपमें नित्य नया विकासको प्राप्त हो रहा है। प्रतिपल ही निष्काम (स्वसुख-वासनाहीन लौकिक मनसे शून्य) कामना बढ़ती रहती है और नित्य नवीन वर्धनशील विहार चलता रहता है।

द्विभुज रूप लावन्य ललित अति अतुल अनिर्वचनीय।
प्रेममूर्ति सुचि रूप-सुधा-सौंदर्य नित्य रमनीय॥

हमारे इस द्विभुज रूपका अनन्त ललित लावण्य सर्वथा अतुलनीय है और अनिर्वचनीय है। हम, जो मूर्तिमान् प्रेम हैं या राधा-माधवके रूपमें प्रेम ही प्रकट हैं—उस प्रेममूर्तिका यह पवित्र रूपामृत सौन्दर्य नित्य ही रमणीय है।

प्रेम आतमा, प्रेम बुद्धि, मन, इंद्रिय पूरन प्रेम।
स्थूल-सूक्ष्म-कारन बिरहित नित देहहु चिन्मय प्रेम॥

हमारा आत्मा भी प्रेम है, प्रेम ही मन बना है, प्रेम ही बुद्धि बना है, पूर्ण प्रेम ही सब इन्द्रियोंके रूपमें प्रकट है और हमारा यह देह भी स्थूल-सूक्ष्म-कारण—इन त्रिविध भेदोंसे रहित नित्य चिन्मय प्रेम ही है।

लीला सकल प्रेमरसरूपा नित नव प्रेमानन्द।
नित्य अबाध अपरिमित नव नव लीला गति स्वच्छन्द॥

हमारी सारी लीलाएँ भी प्रेमरसरूपा ही हैं और हमारा नित्य नवीन आनन्द भी प्रेमानन्द ही है। हमारी यह बाधारहित असीम लीला नयी नयी चालसे स्वच्छन्दतापूर्वक चल रही है।

सुर-मुनि समुझि न पायँ या कौं गये जतन करि हार।
नित्य अचिन्त्यानंत-अनिर्वचनीय विचित्र विहार॥

हमारे इस नित्य अनन्त अचिन्त्य अनिर्वचनीय लीला-विहारका ज्ञान देवता तथा ऋषि-मुनियोंको भी प्राप्त नहीं हो सका। वे भी प्रयत्न करके हार गये।

झाँकी १६

विप्रलम्भ और सम्भोग या विरह और मिलन—पवित्र प्रेमराज्यके दो अङ्ग हैं। दोनोंमें ही प्रेम-रसका पवित्र प्रवाह समानरूपसे बहता रहता है। श्रीराधा-माधव तो वास्तवमें एक ही तत्त्वस्वरूपके दो लीलारूप हैं। लीलामें भी वस्तुतः उनमें वियोग-विछोह नहीं होता, रसोत्कर्ष तथा रसास्वादनके लिये ही वियोग-लीला होती है। एक बार श्रीराधाजी वियोग-दशामें बैठी वियोगकी लीलामयी अग्निमें जल रही थीं।

विरह-व्यथा पीड़ित, विषाद मुख बैठी निज एकान्त निकुञ्ज।
प्रियतम-स्मृति-रत, विरत जगत सब, विस्मृत सकल विषय-सुख-पुञ्ज॥
श्याम-वियोग-अनल जलते सब अङ्ग, अनलसे उपजा जल।
वही अश्रुधारा अजस्र अति उष्ण, जलाती सारा स्थल॥

उदय हुआ उच्चाट घोर उर, निकली मुखसे करुण पुकार—
'हा प्राणेश ! प्राणवल्लभ, हे प्राण-प्राण, हा प्राणाधार॥'
वचन रुद्ध हो गया अचानक, सूखे नेत्र, स्तब्ध सब अङ्ग।
प्रकट, तभी दीखे मनमोहन, विजयी अमित अनन्त अनङ्ग॥

श्रीराधाजी अपनी एकान्त निकुञ्जमें बैठी थीं, विरहकी व्यथासे पीड़ित थीं और मुखपर विषाद छाया था। वे प्रियतम श्रीकृष्णकी स्मृतिमें लीन थीं। सारा जगत मनसे हट गया था और सारे विषय-सुख-समूहोंकी विस्मृति हो गयी थी। श्यामसुन्दरके वियोगानलसे सब अङ्ग जल रहे थे। (तत्त्वोंमें अग्निसे ही जलका प्राकट्य होता है, इसी प्रकार) उस विरहाग्निसे जल प्रकट हो गया और श्रीराधाजीके नेत्रोंसे अत्यन्त गरम आँसुओंकी धारा अजस्ररूपसे बह चली। वह

उष्ण अश्रुधारा समस्त भूभागोंको—राधाजीके सारे अङ्गोंको बाहरसे भी जला रही थी। उनके हृदयमें भयानक उच्चाटन उत्पन्न हो गया और सहसा उनके श्रीमुखसे करुण पुकार निकल पड़ी—'हा प्राणेश्वर! हा प्राणवल्लभ! हे प्राणोंके प्राण! हा प्राणाधार!' फिर अचानक ही वाणी रुक गयी, नेत्र सूख गये और सारे अङ्ग निश्चेष्ट हो गये। ठीक इसी समय उन्हें अपरिमित अनन्त कामदेवोंपर विजय प्राप्त करनेवाले मनमोहन श्रीश्यामसुन्दर दिखायी दिये। (वे वहाँ थे ही, सामने प्रकट हो गये।) वे कैसे हैं?

मधुर-सुमधुर, मधुर उससे भी, परम मधुर, उससे भी और।
मधुर, मधुरतम, नित्य निरन्तर वर्द्धनशील मधुर सब ठौर॥
अङ्ग-अङ्ग माधुर्य-सुपूरित, मधुर अमृतमय पारावार।
अखिल विश्व सौन्दर्य, मधुर माधुर्य सकलके मूलाधार॥

वे मधुरसे सुमधुर, उस मधुरसे भी परम मधुर तथा उससे भी और मधुर—मधुरतम हैं। उनका 'मधुर' सब जगह—सारे अङ्गोंमें नित्य-निरन्तर बढ़ता ही रहता है। उनका अङ्ग अङ्ग माधुर्यसे परिपूरित है, वे मधुर अमृतमय समुद्र हैं। समस्त विश्व-सौन्दर्य और समस्त मधुर माधुर्यके वे मूल आधार हैं। (न हैं, मूलस्रोत हैं।)

नील कमल कमनीय कलेवर सहज सौरभित मधुर अपार।
नेत्रद्वय मुख, नाभि करद्वय चरणद्वय द्युति-सुषमागार॥
विविध वर्ण, सौरभ विभिन्न युत अष्ट कमल ये अति अभिराम।
या विकसित नव कमल मिलित हो अनुपम शोभा हुई ललाम॥

उनका नीलकमलरूप सुन्दर कलेवर है और वह सहज ही अपार मधुर सुगन्धसे भरा है। फिर दो नेत्रकमल, एक मुखकमल,

एक नाभिकमल, दो करकमल और दो चरणकमल—जो तेज और शोभाके भंडार हैं, जिनके (अरुण, हरित आदि) पृथक्-पृथक् वर्ण हैं और जिनमें विभिन्न प्रकारकी मधुर सुगन्ध फैल रही है—बड़े ही सुन्दर हैं। एक नीलकमलके साथ ये आठों विभिन्न वर्णोंके कमल और नीलकमलकी सुगन्धके साथ इन आठ कमलोंकी विभिन्न विचित्र सुगन्ध—सबके संयोगसे श्रीश्यामसुन्दरकी एक परम सुन्दर श्रेष्ठ अनुपम शोभा हो रही है।

देख छबीली छटा, देख छरहरा बदन, छाया आनन्द।
छकी, लुभाई, लगी देखने अपलक अति अतृप्त अद्वन्द ॥
उमड़ा उर आनन्द सुधानिधि, बही नेत्र शीतल रसधार।
देख अतुल छबि, माधव मृदु हँस, बोले अमृत वचन सुखसार ॥

श्रीराधाजीने इस छबीली छटाको और छरहरे श्रीविग्रहको देखा। उनपर आनन्द छा गया। वे छक गयीं, पर तत्क्षण ही मन लुभाया और वे अपलक नेत्रोंसे अतृप्त भावसे अनन्य-वृत्तिसे उन्हें देखने लगीं। उनके हृदयमें आनन्दामृतका समुद्र उमड़ पड़ा और उनके नेत्रोंसे शीतल रसकी (विरहके गरम आँसुओंकी नहीं, मिलनानन्दरसकी) धारा बह चली। राधाजीकी इस अतुलनीय शोभाको देखकर प्रियतम श्रीमाधव मृदु मुसकानके साथ सुखके साररूप अमृतमय वचन बोले—

प्रिये ! तुम्हारा तन-मनका यह दिव्य अतुल लीला-विस्तार।
सहज निरीहरूप मुझमें भी, करता इच्छाका संचार ॥
परमानन्दरूप मैं पाता इसे देख अतिशय आनन्द।
इसीलिये मैं छिप-छिपकर अविरत देखा करता स्वच्छन्द ॥

परमसिद्ध योगीन्द्र, ब्रह्मवेत्ता मुनीन्द्र, शुचितम सब संत।
छू सकते न तुम्हारी छाया, पा सकते न भावका अन्त॥
ललचाते नित रहते, कहते धन्य! धन्य!! गोपी-जन भाव॥
चरणधूलि-कण सदा चाहते, सेवाका अति रखते चाव॥
इसीलिये वे पशु पक्षी-द्रुम वन व्रजमें लेते अवतार।
पद-रज-कण ले गोपीजनका होते धन्य सिरोंपर धार॥

प्रिये राधिके! तुम्हारा शरीर तथा मनका यह लीला-विस्तार दिव्य और अतुलनीय है। (न इसमें लौकिकता है और न इसकी कहीं तुलना है।) मैं सहज स्वरूपसे ही इच्छारहित हूँ, पर यह मुझमें देखनेकी इच्छाका संचार कर देता है। मैं स्वरूपसे ही परमानन्द हूँ, पर मैं इस तुम्हारे लीला-विस्तारको देखकर अतिशय आनन्द प्राप्त करता हूँ। यह परमानन्दस्वरूपको भी अतिशय आनन्द प्रदान करनेवाला है। इसीलिये मैं छिप-छिपकर स्वच्छन्दरूपसे सदा-सर्वदा तुम्हारे इस लीला-विहारको देखा करता हूँ। परमसिद्ध योगीन्द्र, ब्रह्मवेत्ता मुनीन्द्र और परम पवित्रतम सब संतगण तुम्हारी छायाको भी नहीं छू सकते, न वे तुम्हारे भावका अन्त ही पा सकते हैं। वे सदा ललचाते रहते हैं और तुम्हारे तथा तुम्हारी कार्यव्यूहरूपा गोपाङ्गनाओंके भावोंको धन्य-धन्य कहते रहते हैं। वे सदा तुम सबके चरण-धूलि-कणकी इच्छा करते और तुम्हारी सेवाका अत्यन्त चाव मनमें रखते हैं। इसलिये वे हमारी प्रकट लीलाके समय व्रजमें पशु-पक्षी या वृक्ष-लताके रूपमें अवतरित होते और गोपीजनके पद-रज-कणको अपने मस्तकोंपर धारण करके धन्य होते हैं।



एक नाभिकमल, दो करकमल और दो चरणकमल—जो तेज और शोभाके भंडार हैं, जिनके (अरुण, हरित आदि) पृथक्-पृथक् वर्ण हैं और जिनमें विभिन्न प्रकारकी मधुर सुगन्ध फैल रही है—बड़े ही सुन्दर हैं। एक नीलकमलके साथ ये आठों विभिन्न वर्णोंके कमल और नीलकमलकी सुगन्धके साथ इन आठ कमलोंकी विभिन्न विचित्र सुगन्ध—सबके संयोगसे श्रीश्यामसुन्दरकी एक परम सुन्दर श्रेष्ठ अनुपम शोभा हो रही है।

देख छबीली छटा, देख छरहरा बदन, छाया आनन्द।
छकी, लुभाई, लगी देखने अपलक अति अतृप्त अद्वन्द ॥
उमड़ा उर आनन्द सुधानिधि, बही नेत्र शीतल रसधार।
देख अतुल छवि, माधव मृदु हँस, बोले अमृत वचन सुखसार ॥

श्रीराधाजीने इस छबीली छटाको और छरहरे श्रीविग्रहको देखा। उनपर आनन्द छा गया। वे छक गयीं, पर तत्क्षण ही मन लुभाया और वे अपलक नेत्रोंसे अतृप्त भावसे अनन्य-वृत्तिसे उन्हें देखने लगीं। उनके हृदयमें आनन्दामृतका समुद्र उमड़ पड़ा और उनके नेत्रोंसे शीतल रसकी (विरहके गरम आँसुओंकी नहीं, मिलनानन्दरसकी) धारा बह चली। राधाजीकी इस अतुलनीय शोभाको देखकर प्रियतम श्रीमाधव मृदु मुसकानके साथ सुखके साररूप अमृतमय वचन बोले—

प्रिये ! तुम्हारा तन-मनका यह दिव्य अतुल लीला-विस्तार।
सहज निरीहरूप मुझमें भी, करता इच्छाका संचार ॥
परमानन्दरूप मैं पाता इसे देख अतिशय आनन्द।
इसीलिये मैं छिप-छिपकर अविरत देखा करता स्वच्छन्द ॥

परमसिद्ध योगीन्द्र, ब्रह्मवेत्ता मुनीन्द्र, शुचितम सब संत।
छू सकते न तुम्हारी छाया, पा सकते न भावका अन्त॥
ललचाते नित रहते, कहते धन्य! धन्य!! गोपीजन भाव॥
चरणधूलि-कण सदा चाहते, सेवाका अति रखते चाव॥
इसीलिये वे पशु-पक्षी-द्रुम वन व्रजमें लेते अवतार।
पद-रज-कण ले गोपीजनका होते धन्य सिरोंपर धार॥

प्रिये राधिके! तुम्हारा शरीर तथा मनका यह लीला-विलास दिव्य और अतुलनीय है। (न इसमें लौकिकता है और न इसकी कहीं तुलना है।) मैं सहज स्वरूपसे ही इच्छारहित हूँ, पर यह मुझमें देखनेकी इच्छाका संचार कर देता है। मैं स्वरूपसे ही परमानन्द हूँ, पर मैं इस तुम्हारे लीला-विलासको देखकर अतिशय आनन्द प्राप्त करता हूँ। यह परमानन्दरूपको भी अतिशय आनन्द प्रदान करनेवाला है। इसीलिये मैं छिप-छिपकर स्वच्छन्दरूपसे सदा-सर्वदा तुम्हारे इस लीला-विलासको देखा करता हूँ। परमसिद्ध योगीन्द्र, ब्रह्मवेत्ता मुनीन्द्र और परम पवित्र सब संतगण तुम्हारी छायाको भी नहीं छू सकते, न वे तुम्हारे भावका अन्त ही पा सकते हैं। वे सदा ललचाते रहते हैं और तुम्हारे तथा तुम्हारी कायव्यूहरूपा गोपाङ्गनाओंके भावोंको धन्य-धन्य कहते रहते हैं। वे सदा तुम सबके चरण-धूलि-कणकी इच्छा करते और तुम्हारी सेवाका अत्यन्त चाव मनमें रखते हैं। इसीलिये वे इसी प्रकट लीलाके समय व्रजमें पशु-पक्षी या वृक्ष-लताके रूपमें अवतीर्ण होते और गोपीजनके पद-रज-कणको अपने मस्तकपर धारण करके धन्य होते हैं।



झाँकी २०

प्रियतम श्यामसुन्दरके विरहमें श्रीराधा नित्य-निरन्तर आँसू बहाया करतीं, बड़ी उदास रहतीं, साथ ही कभी-कभी क्रन्दन करते-करते ही उनकी इस प्रकारकी मुखमुद्रा बन जाती मानो वे अनन्त सुख-सुधा-सागरमें गोते लगा रही हों और उनकी ऐसी स्थिति दीर्घ कालतक बनी रहती। एक दिन अन्तरङ्ग सखीने पूछा— 'राधे ! तुम रात-दिन क्रन्दन करती रहती हो, तुम्हारा रोना कभी रुकता ही नहीं। उन रोनेमें ही—रोना बंद न होनेपर भी, बल्कि क्रन्दनमें तीव्रता आ जाती है, पर तुम महान् प्रसन्नमुखी दिखायी देती हो। वियोगकी अत्यन्त दारुण पीड़ामें ही संयोग-सुखकी-सी प्रसन्नता दिखायी देती है। संसारमें प्रियवियोगजनित पीड़ाके समय अन्य किसीमें भी ऐसी सुखानुभूति नहीं देखी जाती। वहाँ तो जलना-ही-जलना रहता है; अतः बताओ इसका क्या रहस्य है ? इसपर

श्रीराधाजीने संयोग और विप्रलम्भ—संयोग और वियोग रतिका रहस्य समझकर कहा—

सखि ! संयोग-वियोग श्यामका मेरे लिये सुखद सब काल ।
पल-पल वर्द्धनशील प्रेममें बाधाको न स्थान भर बाल ॥
जब होता दर्शन है प्रियकी रूपमाधुरीका प्रत्यक्ष ।
जब मैं अपलक उन्हें निरखती हूँ मुसुकाते मधुर समक्ष ॥
जब उनका आलिङ्गन कर मैं पाती हूँ मन परमानन्द ।
तब माना जाता है वह शुचितम सुखमय संयोग अमन्द ॥

सखि ! श्यामसुन्दरका संयोग और वियोग दोनों ही मेरे लिये सदा-सर्वदा सुखप्रद हैं । पल-पलमें बढ़नेके स्वभाववाले प्रेममें बालभर भी—जरा-सी भी बाधाको स्थान नहीं है । जब मुझको प्रियतम श्यामसुन्दरकी रूपमाधुरीका प्रत्यक्ष दर्शन होता है, जब मैं उनको अपने सामने निर्निमेष नेत्रोंसे निरखती रहती हूँ और उनको जब हृदयसे लगाकर मैं अपने मनमें परमानन्दको प्राप्त करती हूँ, तब उसे परम पवित्र सुखमय श्रेष्ठ 'संयोग' माना जाता है ।

जब मैं देख न पाती प्रियको लगता चले गये वे दूर ।
व्याकुल हो अधीर हो उठता चित्त दुःखसे हो भरपूर ॥
यद्यपि विरहानलकी ज्वाला होती अति संतापिनि घोर ।
लपटें अमित निकलतीं उससे विविध भाँतिकी नित सब ओर ॥
पर उन ज्वाला-लपटोंमें सुस्पर्श सुशीतल सुधा अपार ।
सदा निकलती रहती, करती शुचि शीतलताका विस्तार ॥
अगणित शारदीय शशधरका सुधा-सुवर्षी ज्योत्स्ना-जाल ।
कर सकता न कदापि सदृशता उस शीतलताकी तत्काल ॥

परंतु जब मैं प्रियतमको नहीं देख पाती, ऐसा लगता है कि वे दूर चले गये हैं, तब चित्त व्याकुल होकर अधीर हो उठता है और वह दुःखसे भरपूर हो जाता है। यही वियोग है। यद्यपि इस विरहाग्निकी ज्वाला अत्यन्त घोर संताप देनेवाली होती है; क्योंकि उस ज्वालासे सब ओर भाँति-भाँतिकी लपटें निकलती रहती हैं; परंतु उन ज्वालाकी लपटोंमेंसे एक सुस्पर्श (स्पर्शसे सुख देनेवाली) सुशीतल सुधाकी अपार धारा सदा निकलती रहती है; जो पवित्र शीतलताका विस्तार करती है। अनगिनत शारदीय चन्द्रमाओंकी सुधाकी सुन्दर वर्षा करनेवाली ज्योत्स्नाका जाल उस ज्वाला-लपटोंसे निकली शीतल सुधाकी समता उस समय कदापि नहीं कर सकता।

हो जाती रति और तीव्रतम बढ़ जाता स्मृति-सुख-संभार।
मनोवृत्ति हो जाती प्रियमय बढ़ जाता आनन्द अपार॥
बाह्य भोग-विरहित जीवनमें होता तुरत आन्तरिक योग।
विप्रलम्भमें अतुलनीय हो जाता प्रकट दिव्य संयोग॥
अन्तर्ज्वाला बुझती, बहने लगती अमित अमृत-रस-धार।
क्रन्दन हो उठता सुख-रस-सागर न दीखता आर न पार॥

तब रति और भी तीव्रतम हो जाती है। प्रियतमके स्मृति-सुखकी सम्पत्ति बढ़ जाती है। मनोवृत्ति केवल प्रियतम श्यामसुन्दर-मय हो जाती है और अपार आनन्दकी बाढ़ आ जाती है। उस समय बाह्यभोगसे रहित जीवनमें तुरंत आन्तरिक मिलन होता है, यों विप्रलम्भमें—वियोगमें अतुलनीय दिव्य संयोग प्रकट हो जाता है। अन्तरकी सारी ज्वाला बुझ जाती है और अमृतरसकी अपरिमित धारा बहने लगती है। मेरा क्रन्दन उस समय इतना विशाल सुख-रसका

सागर बन जाता है कि जिसका न यह किनारा दीखता है और न वह किनारा दिखायी देता है।

सदा चाहती सखि ! मेरा यह चढ़ता रहे दिव्य क्रन्दन।
करते रहें सुशीतल अन्तर आ-आकर प्रिय नँदनन्दन॥
मैं उनमें, वे मुझमें रहते सदा बसे वास्तविक अभिन्न।
दो रूपोंमें लीला करते पर न कभी होते विच्छिन्न॥

सखि ! मेरा यह दिव्य क्रन्दन सदा-सर्वदा चढ़ता ही रहे और प्रियतम नन्दनन्दन पधार-पधारकर मेरे अन्तरको सुशीतल करते रहें। यों तो मैं उनमें हूँ और वे मुझमें हैं। वस्तुत: हम दोनों सदा अभिन्न हैं। दो रूपोंमें लीला करते हैं; परंतु कभी अलग होते ही नहीं।

सखि ! जो नहीं जानते पावन प्रेमदेवका रूप-महत्त्व।
काम-कलुष-मन देख न पाते वे वियोगमें सुमिलन तत्त्व॥
विषयासक्त देह सुख-कातर कभी न पाते यह आनन्द।
देह-वियोग उन्हें करता ही रहता नित्य दग्ध स्वच्छन्द॥

सखि ! जो लोग इस पावन प्रेमदेवताके स्वरूप एवं महत्त्वको नहीं जानते, वे कामकलुषित (स्व-सुखवाञ्छावाले) लोग वियोगमें ऐसे सुन्दर मिलनके तत्त्वको देख ही नहीं पाते। देह-सुखके लिये आतुर वे विषयासक्त मनुष्य इस आनन्दको प्राप्त नहीं कर सकते। उन्हें तो देहका वियोगानल स्वच्छन्दताके साथ सदा दग्ध करता ही रहता है !

श्रीराधाके श्रीमुखसे मानो इस विप्रलम्भ और संयोगरतिके तत्त्वको सुनकर निहाल हो गया।



झाँकी २१

बहुत दिनोंके वियोगके अनन्तर प्रतीक्षा करते-करते एक दिन भगवान् श्यामसुन्दर पधारे। श्रीराधाजी एकान्तकुञ्जमें बड़ी वेदनाका अनुभव करती बैठी थीं। इतनेमें ही उनको प्राणप्रियतम प्राणेश्वर भगवान् श्रीमाधव आते दिखायी दिये। वे कैसे थे और उन्हें देखते ही क्या हुआ—

मंद-मंद मुसकावत आवत
देखि दूर ही तें भइ बिहवल राधा मन आनँद न समावत ॥
नव नीरद घनस्याम-कांति कल पीत बसन बर तन पर सोभित।
मालति-कमल-माल उर राजत भँवर-पाँति मँडरात सुलोभित ॥
मङ्गल अंग चंदन अनुलेपित रत्नाभरन बिभूषित सुचि तन ।
सिखा सुसोभित मोर पिच्छ, मनि-मुकुट सुमंडित, केस कृष्नघन ॥
मुख प्रसन्न मुनि-मानस-हर, मृदु हास छटा चहुँ ओर बिखेरत ।
चित्त-वित्त,हर लेन निमिष महँ जा तन करि कटाच्छ दृग फेरत ॥
मुरली क्रीड़ा-कमल प्रफुल्लित लिये एक कर, दूजे दरपन ।
देखि राधिका, करन लगी निज पुनः पुनः अर्पित कौं अरपन ॥

वे मन्द-मन्द मुसकराते हुए आ रहे हैं, दूरसे ही उन्हें देखकर राधाजी आनन्द-विह्वल हो गयीं, उनके मनमें आनन्द समा नहीं रहा है। नवीन जलदके समान सुन्दर घनश्याम कान्ति है, शरीरपर पीताम्बर शोभा पा रहा है। हृदयपर मालती और कमलपुष्पोंकी मालाएँ हैं, जिनपर रसलोभी भ्रमरोंकी पंक्तियाँ मँडरा रही हैं। समस्त अङ्ग

चन्दनसे अनुलिप्त हैं। सारा पवित्र शरीर रत्नोंके आभूषणोंसे विभूषित है। शिरपर मोरपिच्छ सुशोभित है, सिरपर मणियोंका मुकुट शोभा पा रहा है तथा काले घने केश हैं। मुनियोंके मनको हरण करनेवाला प्रसन्न मुख है, वे अपने मृदु मुसकानकी छटाको सब ओर बिखेर रहे हैं। जिसकी ओर भी कटाक्षपात करते हुए नेत्र फिरा देते हैं, उसके चित्तरूपी धनको एक ही निमेषमें लूट लेते हैं। एक हाथमें मुरली तथा प्रफुल्लित क्रीडा-कमल है और दूसरेमें दर्पण लिये हैं। श्रीराधिकाजी इस रूपछटाको देखकर (मुग्ध हो गयीं और) स्वयंको, जो उनको नित्य अर्पित हैं, बार-बार अर्पण करने लगीं।

उमग्यो परमानंद निधि, राधा भई विभोर।
भूमि परत, दै कर-कमल, लई उठाय किसोर॥

राधाके हृदयमें परम आनन्दका समुद्र उमड आया और वे उसमें निमग्न हो गयीं। अचेतन होकर भूमिपर गिरने लगीं कि नित्यकिशोर श्यामसुन्दरने अपने करकमलोंसे उन्हें उठा लिया।

चरन पकरि बैठी निकट, निकसत नहिं मुख-बैन।
कछुक काल महँ धीर धरि, बोली—सुनु! सुख-ऐन॥

वे चरण पकड़कर समीप बैठ गयीं, पर मुखसे वचन नहीं निकल रहे हैं। कुछ देर बाद धैर्य धारण करके बोलीं—मेरे सुखसदन! सुनो'

निरखि मुखचंद तुम्हारौ नाथ!
भयौ जनम जीवन मेरौ यह सार्थक धन्य सनाथ॥
भये प्रसन्न सफल मेरे ये जुगल नयन, सब अंग।
उछलि रह्यौ मन आनंदांबुधि बिबिध बिचित्र तरंग॥

पाँच परान प्रेमरस भींगे, आतमा उमड्यौ नेह।
जरत बिरह-पावक अति भीषन बरस्यौ अमरित-मेह॥
डारि पियूष बरषिनी दृष्टी मो तन, मेट्यौ ताप।
भर्यौ सुधा-सागर उर अंतर सीतल सुखद अमाप॥

नाथ! तुम्हारा मुखचन्द्र निरखकर मेरा यह जन्म—मेरा जीवन सार्थक, धन्य और सनाथ हो गया। मेरे ये दोनों नेत्र और सारे अङ्ग आज प्रसन्न और सफल हो गये। मेरे मनमें आज आनन्दका समुद्र उछल रहा है जिसमें विविध प्रकारकी विचित्र तरङ्गे खेल रही हैं। मेरे पञ्चप्राण प्रेमरसमें आर्द्र हो गये हैं और मेरे आत्मामें स्नेह उमड़ आया है। अत्यन्त भीषण विरहानलसे जलती हुई मुझपर अमृतकी वर्षा हो गयी है। आपने मेरी ओर अपनी पियूषवर्षिणी दृष्टि डालकर मेरे संतापको मिटा दिया है और मेरे अन्तरमें शीतल सुखद असीम सुधासागर भर दिया है।

रहत तुम्हारे ढिंग यह मेरो सुंदर देह पवित्र।
सोभा-सुषमामयी रहत नित सक्ति-सुरूप विचित्र॥
रहूँ सिवा, सिवदा, सिवबीजा, सिवस्वरूपा नित्य।
बनी रहूँ मैं प्रियतम! तुम्हरे संग सुमतिमयि सत्य॥
पलक एक तुम्हरे बिछुरत ही होय सकल सुभ-नास।
सक्ति, सुमति, सुषमा, सुंदरता, सुद्धि, मधुर-आभास॥
बिनसत सकल तुरत, मुर्दा ज्यों धरनी पर्यौ सरीर।
सिव बिहीन, अति दीन दुःखमय दारुन विकल अधीर॥
यह सब समुझि, प्रानवल्लभ! अब जनि बिछुरौ पल एक।
परम उदार! निबाहौ प्रियतम! प्रीति-रीति की टेक॥

नाथ! जब तुम पास रहते हो तो मेरी यह देह सुन्दर,

पवित्र, शोभा-सुषमामयी तथा नित्य विचित्र शक्तिस्वरूपा बनी रहती है। प्रियतम! तुम्हारे साथ रहनेपर मैं सचमुच ही शिवा, शिवदा, शिवबीजा, शिवस्वरूपा तथा सुगन्धिमयी बनी रहती हूँ; परंतु तुम्हारे एक पलके लिये बिछुड़ते ही मेरे ये सारे शुभ नष्ट हो जाते हैं। शक्ति, सुमति, सुषमा, सुन्दरता, पवित्रता और मधुर आभास सभी तुरंत विनष्ट हो जाते हैं। शवकी भाँति पृथ्वीपर शरीर पड़ा रहता है। उस समय मैं शिवरहित (अकल्याणमयी), अत्यन्त दीन, दारुण दुःखमयी, व्याकुल और अधीर हो जाती हूँ। यह सब समझकर हे प्राणवल्लभ! अब एक पलके लिये भी मत बिछुड़ो और हे परम उदार! प्रियतम! प्रीतिकी रीतिके टेरका—प्रणका निर्वाह करो।

सुनि राधाके बैन, प्रीति-दीनता तें सने।
भरि आये दोउ नैन, बोले हरि बच मधुर सुचि॥

श्रीराधाजीके प्रेम तथा दैन्यसे सने वचनोंको सुनते ही श्रीश्यामसुन्दरके दोनों नेत्रोंमें प्रेमाश्रु छलक आये। फिर वे मधुर पवित्र वचन बोले

राधा! हम तुम दोउ अभिन्न।
बारि-बीचि, चंद्रमा-चाँदनी सम अभिन्न नित भिन्न॥
नित्य सत्य सर्वदा सर्वथा रहूँ तुम्हारे संग।
आठों पहर संग सँग डोलूँ, भरतौ रहूँ अँग अंग॥
मो बिनु तुम्हरी कछु न सत्ता तुम बिनु मैं नाचीज।
मधुरिम न परत रहस्य रंच हू, कैं नागर, कैं

राधिके! हम तुम दोनों अभिन्न हैं। जल-तरङ्ग और चन्द्र-ज्योत्स्नाके समान नित्य भिन्न दीखते हुए भी अभिन्न हैं। मैं नित्य सत्यरूपसे ही सर्वदा सर्वथा तुम्हारे साथ रहता हूँ, आठो पहर ही तुम्हारे साथ-साथ फिरता हूँ, इतना ही नहीं, तुम्हारे अङ्ग-अङ्गमें भरा रहता हूँ—समाया रहता हूँ। मेरे विना तुम्हारी कुछ भी सत्ता नहीं है और तुम्हारे विना मैं भी कोई वस्तु नहीं हूँ। यह रहस्य तनिक भी समझमें नहीं आता कि हम दोनोंमें कौन वृक्ष है और कौन बीज!

विरह-मिलन दोउ रस हम दोउन के हैं लीला-साज।
एक नित्य रस विविध रूप धरि क्रीड़त सहित समाज॥
नित्य, एक ही नित अनेक सजि करत विचित्र विहार।
नित अनादि, आरंभ न कबहूँ, कबहुँ न उपसंहार॥
बिछुरन-मिलन तुम्हारो मेरो, नित्य मिलन के माँहि।
जा बिछुरनसें मिलन मनोहर, सो तो बिछुरन नाहि॥

विरह (विप्रलम्भ) और मिलन (सम्भोग) दोनों ही रस हम दोनोंकी लीलाके ही उपकरण हैं। वस्तुतः एक ही नित्यरस विविध रूप धारण करके लीलासमाजके साथ क्रीड़ा कर रहा है। नित्य एक ही रसतत्त्व नित्य अनेक सजकर विचित्र विहार कर रहा है। यह नित्य विहार अनादि है, इसका न कभी आरम्भ है और न कभी उपसंहार। तुम्हारा और मेरा यह बिछुड़ना-मिलना नित्य मिलनके ही अन्तर्गत है। जिस बिछुड़नेमें मनोहर मिलन होता है, वह बिछुड़ना नहीं है।

मेरे रस तें तुम रसमयि, मैं तुम्हरे रस रसवान।
एक स्व-रस कौ द्विविध भेद तें करै नित्य हम पान॥
रस, रसपान, रसिक, रसदाता—एक परम रसरूप।
परमाश्चर्य, अचिंत्य अनिर्वचनीय अगम्य अनूप॥
कबहुँ न कतहुँ तुम्हारौ-मेरौ पलक बिछोह-बियोग।
नित्य सत्य अनिवार्य अलौकिक अविच्छेद्य संयोग॥
प्रिये! न तोहि स्वत्वकी बिस्मृति नहीं कबहुँ कछु खेद।
एक परम रस सरिताके ही ये तरंगमय भेद॥

मेरे रससे तुम रसमयी हो और तुम्हारे रससे मैं रसवान् हूँ। (तुम्हारा-मेरा एक ही रस है) एक ही अपने ही रसको दो प्रकारके भेदोंसे हम दोनों नित्य पान करते हैं। यह रस, रसपान, रसिक, रसदाता—सब एक ही परम रसरूप है और वह परमाश्चर्यमय, अचिन्त्य, अनिर्वचनीय, अगम्य और अनुपम रस है। तुम्हारा और मेरा कभी कहीं पलभर भी विछोह या वियोग नहीं है। हमारा यह नित्य, सत्य, अनिवार्य, अप्राकृतिक तथा अटूट संयोग है। प्रियतमे! न तो तुम्हें कभी स्वत्वकी विस्मृति है, न कभी कुछ खेद ही है। ये तो एक ही परम रस-सरिताके तरङ्गमय भेद हैं।

दोनों आप्यायित भये, मिले दिव्य रस-रीति।
महाभाव रसराज की अतुल अकल यह प्रीति॥

तदनन्तर दोनों ही (श्रीराधा-माधव) आप्यायित होकर दिव्य रसकी रीतिके अनुसार मिले। महाभाव (श्रीराधा) और रसराज (श्रीश्यामसुन्दर) की यह प्रीति अचिन्त्य और अतुलनीय है।



झाँकी २२

प्रेमीकी प्रत्येक चेष्टा स्वाभाविक ही प्रेमास्पदके सुखके लिये ही होती है और होती है वह सर्वस्व समर्पण करके अत्यन्त सुचारुरूपसे । पर वह प्रेमी न अपनेमें सेवाकी योग्यता देखता है और न अपने पास सेवाके योग्य सामग्री पाता है । वह यही मानता है कि मेरे प्रेमास्पदका शील ही ऐसा है कि मेरे प्रति अनुराग होनेके कारण वे स्वाभाविक मेरी प्रत्येक अस्तव्यस्त चेष्टाको

अपनी परम सेवा ही मानते हैं।' इसी भावसे भावित श्रीराधाका परम प्रियतम भगवान् श्रीकृष्णके सम्बन्धमें एक प्रसङ्ग है।

श्रीराधाजी कहती हैं—

नहीं शक्ति, सामर्थ्य न कुछ भी, नहीं योग्यता, नहीं पदार्थ।
नहीं भाव कुछ, त्याग न कुछ भी, भरा मन्द जीवनमें स्वार्थ॥
तन मन मलिन, न शोभा-सुषमा, नहीं कहीं सुन्दरता-लेश।
कैसे क्या देती तुमको मैं? दीन हीन अति, तुम सर्वेश॥

न तो मुझमें सेवा करनेकी शक्ति है, न कुछ भी सेवा-सामर्थ्य है, न सेवाकी योग्यता है, न सेवाके योग्य कोई पदार्थ है, न सेवाके भाव हैं और न तनिक-सा भी त्याग है। समस्त जीवन नीच स्वार्थसे पूर्ण है। मेरा मन और तन सभी मलिन है, न शोभा-सुषमा ही है, न कहीं तन-मनमें सौन्दर्यका ही लेश है। इस अवस्थामें मैं तुमको कैसे क्या देकर सेवा करती? मैं अत्यन्त दीन-हीन हूँ और तुम सर्वेश्वर हो!

सेवाका उपकरण न कुछ भी, नहीं हृदयमें कुछ भी चाव।
तो भी मान रहे तुम सेवा, परम विचित्र तुम्हारा भाव॥
गुण वर्णन करते न अघाते, देते बार बार सम्मान।
बारंबार ऋणी बनते तुम षड् ऐश्वर्य-पूर्ण भगवान॥

न मेरे पास सेवाके योग्य कुछ सामग्री है, न मेरे हृदयमें जरा भी चाव है, तो भी तुम सेवा मान रहे हो। यह सब तुम्हारा परम विचित्र स्वभाव है। तुम अपने इस स्वभाववश मेरे गुण वर्णन करते-करते नहीं अघाते, बारबार सम्मान प्रदान करते रहते

हो और स्वयं समग्र षड्-ऐश्वर्य (ऐश्वर्य, शक्ति, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य) से सम्पन्न होनेपर भी तुम बारंबार मेरे ऋणी बनते हो।

मेरी सेवासे ही चलते मानो सभी तुम्हारे काम।
मुझसे सेवा लिये बिना तुम पाते नहीं पलक विश्राम॥
मेरे लिये तुम्हारा ऐसा है कुछ शुचि अचिन्त्य अनुराग।
देख रहे इससे तुम मेरी हर कृतिमें सेवा बड़भाग॥

तुम्हारे इस प्रकारके बर्ताव-व्यवहारको देखकर ऐसा लगता है मानो तुम्हारे सारे काम मेरे द्वारा की हुई सेवासे ही चलते हैं। मानो मुझसे सेवा प्राप्त किये बिना तुम्हें एक पलके लिये भी विश्राम नहीं मिलता। वास्तवमें मेरे प्रति तुम्हारे मनमें ऐसा कुछ पवित्र और अचिन्त्य मनसातीत अनुराग है। इसीसे हे सौभाग्यरूप! तुम मेरी प्रत्येक क्रियाको महान् सेवा समझते हो।

देख तुम्हारा यह पवित्र अप्रतिम अनोखा शील अमान।
नहीं समझ पाती मैं कैसे तुम्हें कराऊँ अपना ज्ञान॥
कहाँ नगण्य, नित्य सेवासे विरहित, मैं अति तुच्छ, गवाँर।
कहाँ विलक्षण तुम 'महान्'का मेरे प्रति यह अतुलित प्यार॥

तुम्हारा यह पवित्र, अनुपम, अनूठा, अभिमानरहित शील देखकर मैं समझ नहीं पाती कि तुमको अपने गुणरहित स्वरूपका परिचय कैसे कराऊँ? कहाँ तो सेवाभाव तथा सेवाशक्तिसे सर्वथा शून्य अत्यन्त तुच्छ, गँवार, नगण्य मैं और कहाँ तुम महान् महिमामयका मेरे प्रति यह अतुलनीय प्रेम!

छिपी इसीसे रहती मैं नित, रहती सदा गुप्त आवास।
निजको, अपनी हर चेष्टाको, सदा छिपाती कर आयास॥
पर यदि कभी तुम्हारे सम्मुख, मैं आ पड़ती प्रेमागार।
करने लगते कैसे क्या तुम, मानो दबे विपुल ऋणभार॥

इसीलिये मैं सदा छिपी रहती हूँ और सदा गुप्तस्थानमें निवास करती हूँ, अपनेको तथा अपनी प्रत्येक चेष्टाको सदा प्रयत्नपूर्वक छिपाती रहती हूँ, परंतु यदि कभी हे प्रेमनिधान! मैं तुम्हारे सामने आ पड़ती हूँ तो तुम मुझे देखते ही जैसे कोई ऋणके भारसे दबा हुआ मनुष्य अपने ऋणदाताके सामने कैसा (क्या विनय-संकोच, कृतज्ञता एवं लज्जापूर्ण) व्यवहार करने लगता है, वैसा ही करने लगते हो।

गड़ जाती मैं तब लज्जासे भर जाता उरमें संकोच।
देख तुम्हारी अति उदारता, निजकी देख परिस्थिति पोच॥
तब तुम हे अनन्त! कैसे क्या, देते फूँक कान (हृदय) में मन्त्र।
उन्मादिनी तुरत हो जाती, अस्वतन्त्र बन जाती यन्त्र॥

तब मैं तुम्हारी इस आत्यन्तिक उदारता और अपनी नीच परिस्थितिको देखकर लज्जाके मारे गड़ जाती हूँ और मेरा हृदय संकोचसे भर जाता है। इसी समय हे अनन्त! तुम मेरे कानमें किस प्रकारका क्या जादूभरा मन्त्र फूँक देते हो, हृदयको कसे किस परमाकर्षक मधुर रससे परिपूर्ण कर देते हो कि मैं तुरंत ही उन्मादिनी हो जाती हूँ एवं सर्वथा स्वतन्त्रतारहित एक यन्त्र बन जाती हूँ।

झाँकी २३

नित्य अनन्त-अचिन्त्य परम प्रेममयी श्रीराधाजी परम प्रियतम श्यामसुन्दरके वियोगमें अत्यन्त विषण्ण रहती थीं । एक दिन कहींसे बड़े सुन्दर स्वरमें परम मधुरातिमधुर 'श्याम' नाम सुनायी दिया । वह श्याम नाम श्रीराधाके श्रवणरन्ध्रोंमें प्रवेश करके हृदयमें पहुँच गया । और वे उस 'श्याम' नामका अवलम्बन लेकर विषम वियोगकी स्थितिको विताने लगीं । पर बीच-बीचमें उनका हृदय तथा नेत्र-मधुकर श्याममुख-सरोज-रस-पानके लिये व्याकुल हो उठते थे । उसी व्याकुलतामें एक दिन बड़ी ही सुन्दर घटना घटी । उसीका वर्णन यहाँ दिया जा रहा है ।

जबसे सुना सुधामय सुन्दर 'श्याम' नाम अतिशय सुखधाम ।
हुए मुग्ध मन-बुद्धि-प्राण सब चलने लगा नाम अविराम ॥
नाम-माधुरीने प्राणोंमें कर दी जाग्रत् दर्शन-प्यास ।
हुआ चित्त उत्कण्ठित आकुल चला सुतप्त दीर्घ निश्वास ॥

श्रीमती राधिकाजीने जबसे सुधामय सुन्दर आत्यन्तिक सुखधाम श्रीश्याम नाम सुना, तभीसे उनके मन-बुद्धि-प्राण मुग्ध हो रहे हैं और 'नाम'का रटन बिना विराम लगातार चलने लगा है । परंतु श्याम नामके माधुर्यने सहज ही चित्तमें श्यामसुन्दरके दर्शनकी पिपासा जाग्रत कर दी । इससे श्यामदर्शनके लिये चित्तमें उत्कण्ठा उत्पन्न हो गयी । चित्त व्याकुल हो गया और श्रीराधाजीके गरम-गरम लंबा श्वास चलने लगा ।

स्नेहमयी शुचि सखी विशाखा देख राधिकाको बेहाल ।
चित्रकला-निपुणा, अंकित कर लाई श्याम-चित्र तत्काल ॥

निरख चित्र अति मधुर मनोहर नख-शिख रूप परम रमणीय।
मानो मिले मदन-मद-हर मनमोहन प्राणकान्त कमनीय॥
हुईं हर्षविह्वल विस्मित-मन करने लगीं गभीर विचार।
नहीं त्रिकाल—तीन लोकोंमें ऐसा दिव्य रूप रस-सार॥

श्रीराधाको इस प्रकारकी बुरी स्थितिमें देखकर उनकी पवित्र स्नेहमयी सखी विशाखाको बड़ी मनोवेदना हुई; वे चित्रकलामें अत्यन्त निपुण थीं। श्रीराधा अभी श्यामसुन्दरके दर्शन करना चाहती हैं, अतः वे उसी समय श्यामसुन्दरका एक सुन्दर चित्र अङ्कित करके उनके पास ले आयीं। श्रीराधाको उस चित्रमें श्यामसुन्दरका मधुर मनोहर नखसे शिखातक परम रमणीय रूप देखकर बड़ा ही सुख मिला, मानो मदन-मदका हरण करनेवाले मनमोहन परम कमनीय प्राणवल्लभ श्रीश्यामसुन्दर ही उन्हें मिल गये। वे हर्षविह्वल हो गयीं। फिर विस्मित-हृदयसे गम्भीर विचार करने लगीं—तीन काल तीनो लोकोंमें ऐसा दिव्य रस-सार रूप और कहीं है ही नहीं।

जिसके क्षुद्र एक कणको ले सुमनोंका सारा संसार।
सबको सुख दे रहा अमित, कर रूप-माधुरीका विस्तार॥
जिसके कोटि अंशका लेकर एक अंश शुचि नीलाकाश।
विश्व विमोहित करता विधुमुख भरकर रूप-सुधामय हास॥
जिसकी एक बूँद-सुषमासे प्रकृति-सुन्दरी कर शृंगार।
अगणित विश्व सजाती रहती संतत विविध विचित्र प्रकार॥
अतल रूप-सागर जिसमें नित उठती अतुल अनन्त तरंग।
है न्योछावर जिसके एक एक पगपर नित अमित अनंग॥

जिसका एक क्षुद्र-से कणको लेकर समस्त पुष्प जगत् अपना

रूपमाधुरीका विस्तार करके सबको अपरिमित सुख दे रहा है, जिसके करोड़वें अंशका एक अंश लेकर पवित्र नील गगनमें चन्द्रमा अपने मुख-किरणोंमें रूप-सुधाकी मधुर हँसी भर समस्त विश्वको विमोहित कर रहा है और जिस सुषमा-समुद्रकी एक बूँद सुषमा लेकर प्रकृति-सुन्दरी अपना शृङ्गार करती है और असंख्य विश्व-ब्रह्माण्डोंको निरन्तर विविध-विचित्र प्रकारोंसे सजाती रहती है। जो रूप-सौन्दर्यका अतल समुद्र है और जिसमें अनन्त अतुलनीय सौन्दर्य-तरङ्गें उठती रहती हैं; जिसके एक-एक कणपर नित्य अपरिमित कामदेव न्योछावर हैं।

कैसे किया सुअंकित, उसको लघुतम पटपर सखिने आज ?।
कैसे एक एक अवयवपर सजा सकी वह सुन्दर साज ?॥
कैसे द्रवित न हृदय हो गया ? कैसे रहा धैर्यका बन्ध ?।
कैसे खसी न हस्ततूलिका पाकर श्याम-रूप-संबन्ध ?॥
कैसे क्षुद्र तूलिकामें वह आया रूप-समुद्र महान् ?।
मन अतीत नित बुद्धि अगोचर कैसे उसे सकी सखि जान ?॥

उस विशाल रूपराशिको छोटे-से पटपर सखी विशाखाने आज कैसे अङ्कित कर दिया ! कैसे वह एक-एक अङ्ग-अवयवको सुन्दर शृङ्गार-द्रव्योंसे सजा सकी ! उन अङ्गोंकी मोहिनीको देखकर कैसे उसका हृदय द्रवित नहीं हो गया और कैसे उसके धैर्यका बाँध सुरक्षित रहा—टूट न गया ! श्याम-रूपका सम्बन्ध प्राप्त करके भी कैसे उसके हाथकी तूलिका खिसक न गयी ! एवं कैसे मेरी वह सखी उस मनसे अतीत एवं बुद्धिसे अगोचर प्रियतम श्यामसुन्दरको जान सकी !

जाग उठी सुस्मृति, उर अन्तर लगा दीखने रूप ललाम।
जो चिर अंकित था, अब प्रकटी पूर्ण मिलन-इच्छा अभिराम॥
पर, न हो सकी पूर्ण मदिच्छा, अमित यन्त्रणा बढ़ी तुरंत।
बड़वानल अति विषम जल उठा, उठी हृदयमें हूक दुरंत॥
हुआ युगों-सा एक एक पल रहा न रंचक धैर्य-विवेक।
सूना हृदय, अश्रु-हग सूखे, एकमात्र प्रिय दर्शन-टेक॥

यों विचार करते-करते ही श्रीराधाके हृदयमें पुरानी सुन्दर स्मृति जाग उठी। उन्हें अपने हृदयमें चिरकालसे अङ्कित [illegible] ललित दर्शन होने लगे। ऐसा होते ही अब पूर्ण मिलनकी [illegible] इच्छाका उदय हो गया। पर प्रत्यक्ष मिलनके [illegible] मदिच्छाकी जब पूर्ति नहीं हुई, तब उनकी हृदय-[illegible] रूपमें बढ़ गयी। हृदय-रस-समुद्रमें भयङ्कर अग्नि [illegible] प्रचण्ड पीड़ा उठ खड़ी हुई। एक-एक पल युगोंके समान [illegible] तनिक भी धैर्य और विवेक नहीं रहा। हृदयकी [illegible] [illegible] रससे सुखा दिया। आँखोंके आँसू भी सूख [illegible] प्रियतमके दर्शनकी टेक रह गयी।

सहसा प्रकट हो गये प्रियतम अनुपम मधुर लिये [illegible]
चकित प्रहर्षित लगीं देखने, उमड़ा सुख-[illegible]।

इतनेमें ही अकस्मात् प्रियतम [illegible] प्रकट हो [illegible] मुखपर अनुपमेय मधुर मुसकान [illegible] थी। [illegible] आश्चर्यचकित हुई अत्यन्त हर्षके साथ उन्हें [illegible] देखने [illegible] सुखका सागर उमड़ पड़ा!

झाँकी २४

[श्रीराधा-माधवकी तात्त्विकस्वरूपमें नित्य-एकता और लीलामें नित्य-भिन्नता]

श्रीकृष्ण कहते हैं—

राधा मेरी प्राणप्रतिमा, मैं राधाका प्राणाराम।
राधा मेरी, मैं राधाका, नित्य मधुर सम्बन्ध ललाम॥
राधा मैं हूँ, मैं राधा है, भिन्न तथापि, कदापि न भिन्न।
नित्य भिन्न नव-नव लीला-रस-आस्वादन अनवद्य अभिन्न॥

'राधा मेरे प्राणोंकी प्रतिमा है और मैं राधाका प्राण-निवास हूँ; राधा मेरी है, मैं राधाका हूँ—हमारा यह मधुर रमणीय नित्य-सम्बन्ध है। राधा मैं हूँ अर्थात् मैं ही राधारूपमें प्रकट हूँ और राधा मैं है अर्थात् राधा ही मैं श्रीकृष्ण बनी हुई श्रीकृष्णके रूपमें प्रकट है। हम भिन्न दीखनेपर भी कदापि भिन्न नहीं हैं—नयी-नयी लीलाओंके निर्दोष रसास्वादनके क्षेत्रमें नित्य-भिन्न होते हुए भी नित्य-अभिन्न हैं।

राधामय जीवन नित मेरा, मैं नित राधा-जीवन-रूप।
राधाकी, मेरी, यह एकमेकता दिव्य पवित्र अनूप॥
मेरे लिये राधा उन्मादिनि, राधा हित मुझमें उन्माद।
करते किंतु एक दूसरेके मनका अनुभव अविवाद॥
करते एक दूसरेके मनकी प्रेमी प्रेमास्पद भाव।
नित्य निरन्तर नव-नव सुख देनेका बढ़ा परस्पर चाव॥

'मेरा जीवन नित्य राधामय है और मैं नित्य राधाजीवनरूप हूँ। राधाकी और मेरी यह एकात्मता अनुपम, दिव्य और पवित्र है। राधा मेरे लिये उन्मादिनी है और मुझमें राधाके लिये उन्माद है; परंतु हम दोनों ही एक दूसरेके मनके भावोंका निर्विवाद अनुभव करते रहते हैं, इसलिये परस्पर प्रेमी और प्रेमास्पद बने हुए उसी भावसे एक दूसरेके मनकी करते रहते हैं एवं हममें नित्य-निरन्तर परस्पर एक दूसरेको सुख प्रदान करनेका नया-नया चाव बढ़ता रहता है।' इसी प्रकार श्रीराधाके हृदयोद्गार श्रीकृष्णके प्रति हैं—

मेरे तुम, मैं नित्य तुम्हारी, तुम मैं, मैं तुम, मेरा अंग।
पता नहीं, कबसे मैं तुम बन तुम मैं बने, खेलते रंग॥
होता जब वियोग, तब उठती तीव्र मिलन-आकांक्षा आग।
पर अमिलन होता असह्य तब लगती हृदय दहकने आग॥
चलती बन रस-सरि उन्मादिनि विह्वल मिलन तुम्हारी ओर।
लगी उमड़ मिलने जिसमें तुम भी रससमुद्र तज छोर॥

'(श्यामसुन्दर!) तुम नित्य मेरे हो, मैं नित्य तुम्हारी हूँ; तुम मैं हो—तुम राधारूपमें प्रकट हो और मैं तुम श्रीकृष्णके रूपमें प्रकट हूँ। हमारा यह सम्बन्ध नित्यसिद्ध है। पता नहीं, कबसे मैं तुम बनी और तुम मैं बने यह रंग खेल रहे हैं—

झाँकी २५

भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा मथुरासे भेजे हुए महाभाग उद्धव व्रजमें आये और वहाँकी दिव्य प्रेम-सरितामें बह गये। फिर लौटकर जब भगवान् श्रीकृष्णके पास गये, तब गोपीजनसहित श्रीराधाकी दशाका वर्णन करके उन्हें उलाहना देने तथा व्रज जानेके लिये अनुरोध करने लगे। उद्धवजी बोले—

माधव दशा सुनाऊँ कैसे मैं उस प्रेममयीकी आज।
जुटा वहाँ है विषम विरहकी व्यथा-व्याधिका सभी समाज॥
रोती करती करुणाक्रन्दन, कर उठती वह हाहाकार!
करती अति विलाप कातर हो, 'चले गये तुम प्राणाधार!॥
रुग्णा मरणासन्ना आज तुम्हारी वह सेविका सुजान।
अभी बचाओ, परम महौषध अधरामृतका देकर दान॥'
कभी देखती निर्निमेष हो, उन्मत्ता-सी नभकी ओर।
'हा प्रियतम!' पुकार कर उठती, 'हा! हा! प्यारे! नन्दकिशोर!!'॥

माधव! मैं आज उस प्रेममयी राधाकी दशा तुम्हें कैसे सुनाऊँ! वहाँ तो तुम्हारे भयानक विरहकी व्यथा तथा व्याधिका सारा समाज ही इकट्ठा हो रहा है। वह (राधा) कभी रोती है, कभी करुणापूर्ण क्रन्दन करती है, कभी हाहाकार कर उठती है, कभी कातर होकर अत्यन्त विलाप करती हुई कहती है 'प्राणाधार! तुम चले गये। हे सुजान! तुम्हारी यह सेविका आज रोगिणी है, मरणासन्ना है, इसे अधरामृतरूप परम महौषध देकर अभी बचाओ!' कभी अपलक नेत्रोंसे उन्मादिनीकी तरह आकाशकी ओर देखती है और 'हा प्रियतम! हा! हा! नन्दकिशोर!' पुकारने लगती है।

कभी बैठती ध्यान-मग्न हो, हो जाते दोनों दृग बंद।
लग जाती समाधि शुचि अनुपम, होते सभी अंग निष्पन्द ॥
बनती वह वियोगिनी योगिनि, धरकर मौन, त्याग व्यवहार।
बैठी रहती उदासीन एकान्त शून्य अविरत अविकार ॥
खान-पान-तन-वसन सभीकी स्मृतिका कर अतिशय उच्छेद।
एक अनन्य वृत्तिमें रहती नित्य निमग्न भूल सब भेद ॥

कभी (वह राधा) ध्यानमग्न होकर बैठ जाती है, उस समय उसकी दोनों आँखें बंद हो जाती हैं। अत्यन्त पवित्र अनुपम (योगकी समस्त समाधियोंसे विलक्षण प्रेम-समाधि) लग जाती है एवं सारे अङ्ग स्पन्दनरहित हो जाते हैं। वह वियोगिनी योगिनी बन जाती है और मौन धारण कर समस्त व्यवहारोंका त्याग करके एकान्तमें उदासीन, शून्य, निरन्तर विकाररहित अवस्थामें स्थित हुई बैठी रहती है। खाना, पीना, शरीर, वस्त्र—सभीकी स्मृतिका आत्यन्तिक उच्छेद करके और सारे भेदोंको भूलकर वह एक (तुम्हारी स्मृतिरूपा) अनन्य वृत्तिमें नित्य-निरन्तर निमग्न रहती है।

कभी दौड़ती धैर्य छोड़कर व्याकुल हो अति भुजा पसार।
आलिंगनके लिये, न पाकर रोने लगती कर चित्कार ॥
दोनों कर कपालपर रखकर विरहानलसे हो संतप्त।
बार बार मूर्छित होती वह, चलता दीर्घ श्वास उत्तप्त ॥
निद्रारहित बीतती रजनी क्षीण धूसरित-धूलि सुअंग।
हृदय दाह दारुण, अति पीड़ित दंशित द्वारा विषम भुजंग ॥
श्वास निदाघ, नेत्र पावस ऋतु, वदन शरद, पुलकोद्गम शीत।
बुद्धि शिशिर, चन्दन-तन मधु, षड्ऋतु राधातन प्रकट पुनीत ॥

वह (राधा) कभी धैर्य छोड़कर अत्यन्त व्याकुलतामें भुजा पसारकर आलिङ्गनके लिये दौड़ती है। (मानो तुम उसे दिखायी देते हो) पर जब तुम्हें नहीं पाती है, तब चीत्कार करके रोने लगती है। दोनों हाथोंको कपालपर रखकर वह विरह-ज्वालासे जल उठती है, बार-बार मूर्छित होती है और गरम-गरम लंबे श्वास चलने लगते हैं। सारी रात बिना नींदके बीत जाती है। उसके मारे सुन्दर अङ्ग क्षीण और धूलिधूसरित हो रहे हैं। हृदयमें दारुण दाह है; वह अत्यन्त पीड़ित है, विरहरूप भयानक सर्पके द्वारा वह डसी गयी है। उसके श्वासोंमें ग्रीष्मऋतु, नेत्रोंमें वर्षाऋतु, वदनमें शरद्ऋतु, पुलकावलिमें हेमन्तऋतु, बुद्धिमें शिशिरऋतु और शरीरके चन्दन-विलेपनमें वसन्तऋतु—यों छहों ऋतुएँ एक साथ राधाके शरीरमें प्रकट हो रही हैं।

कोमल कमल सेज शीतल, हो उठी तप्त राधा-तन-स्पर्श।
हरी लता जल गयी स्पर्श पा नासा-पवन-अनल दुर्धर्ष॥
इसी भाँति विरह-ज्वर पीड़ित, हैं सबकी गोपिका तमाम।
कितने तुम निष्ठुर निर्दय हो, मिथ्या धरे 'मधुरतम' नाम॥
कर सर्वस्व समर्पण तुमको, पीडानिधि निमग्न वे आज।
व्यथित न हो उनकी पीडामें, भोग रहे मधुराका राज॥
आओ शीघ्र धैर्य दो मिलकर, दो तुरंत शुचि जीवन-दान।
करो विलम्ब न एक पलक अब, रक्खो त्याग-प्रेमका मान॥

कोमल कमलके पुष्पोंकी शीतल शय्या (विरहज्वालासे संतप्त) राधाके शरीरका स्पर्श होते ही अत्यन्त गरम हो गयी। नासिकासे निकलनेवाले असह्य अनल समीरका स्पर्श पाकर हरी लताएँ जल

गयीं । इसी राधाकी भाँति ही व्रजकी समस्त गोपिकाएँ विरह-ज्वरसे पीड़ित हैं । तुमने झूठे ही अपना नाम 'मधुरतम' धर रक्खा है; वस्तुतः तुम कितने निष्ठुर और निर्दय हो ! जिन्होंने तुम्हें सर्वस्व समर्पण कर दिया, वे आज तुम्हारे वियोगकी पीड़ाके समुद्रमें डूब रही हैं और तुम उनकी पीड़ासे व्यथित न होकर मथुराका राज्य भोग रहे हो ! जाओ, शीघ्र मिलकर उन्हें धीरज बँधाओ और तुरंत पवित्र जीवनदान करो । अब एक पलकी भी देर न करो, त्याग और प्रेमका सम्मान रक्खो !

× × ×

करुण वचन सुनते ही उद्धवके हरि हुए व्यथित अति दीन ।
सिहर उठा सहसा मङ्गल-वपु, विधुनिन्दक मुखचन्द्र मलीन ॥
रुका कंठ, कुछ बोल न पाये, आँखें लगीं बहाने नीर ।
बढ़ा विरह-दावानल दारुण लगा दहकने दिव्य शरीर ॥
बोले गद्गद गिरा, धैर्य धर, दीर्घकाल तक रहकर मौन ।
उद्धव ! मेरी विषम व्यथाको, है जग सुननेवाला कौन ? ॥
बता नहीं सकता मैं, कैसा विषम हृदयमें दारुण दाह ।
कैसी मर्मवेधिनी पीड़ा, कैसी प्रबल मिलनकी चाह ॥

उद्धवके करुणापूर्ण वचन सुनते ही श्रीहरि व्यथित और अत्यन्त दीन हो गये । उनका मङ्गलमय शरीर सिहर उठा और चन्द्रविनिन्दक उनका मुखचन्द्र मलिन हो गया । कण्ठ रुक गया । वे कुछ भी बोल न सके । उनकी आँखें आँसू बहाने लगीं । विरहकी अग्नि भयानक रूपसे बढ़ गयी और उनका दिव्य शरीर जलने लगा । बहुत समयतक मौन रहनेके बाद वे धीरज धरकर गद्गद वाणीसे बोले—उद्धव ! मेरी भयानक व्यथाको सुननेवाला

जगत्‌में कौन है ! मैं बता भी नहीं सकता कि मेरे हृदयमें कैसी भयानक जलन हो रही है, मुझे कैसी मर्मभेदी पीड़ा है और राधासे मिलनेकी कैसी प्रबल चाह है ।

सुधा-सुमधुर सरस सुन्दर सुस्निग्ध राधिकाके मधु बोल ।
अतुलनीय अनवद्य नित्य सौन्दर्य, मधुर माधुर्य अतोल ॥
सरल हृदय, सेवा, सहिष्णुता, त्याग, समर्पण, दैन्य अनूप ।
भूल नहीं सकता मैं, अगणित गुण-गण-संयुत राधारूप ॥
मधुर मनोहर महिमामय वह रसमय शुचितम रासविलास ।
पावन विविध विनोद सुधारसपूर्ण मधुर मुखपङ्कज-हास ॥
परम मधुरतम निभृत निकुंजोंका वह शुचि आनन्द विहार ।
भूल नहीं सकता पल, होती मधुर-स्मृति मन बारंबार ॥

राधाके वे सुधासे भी अधिक सुमधुर, रसमय, सुन्दर, सुस्निग्ध मीठे वचन; उसका सर्वथा दोषरहित निर्मल, अतुलनीय नित्य सौन्दर्य और अतुलनीय मधुर माधुर्य; सरल-हृदयता, सेवा, सहनशीलता, त्याग, समर्पण आदि अनुपम अगणित गुणसमूह-समन्वित उस राधारूपको मैं कभी भूल नहीं सकता । वह मधुर, मनोहर, महिमामय, रसमय, पवित्रतम रासविलास, पवित्रकारी वे विविध विनोद, मधुरसुधारस-पूर्ण मुखकमलका हास्य, निभृत निकुञ्जोंका वह परम मधुरतम पवित्र आनन्द-विहार—मैं एक पलके लिये भी भूल नहीं सकता । मेरे मनमें बार-बार उनकी मधुर स्मृति होती रहती है ।

सर्वत्याग कर, मनमें केवल रखकर मेरा सुख-अभिलाष ।
इसी हेतु वे जीतीं जगमें, करतीं नित्य सु[illegible]चास ॥

खान-पान-परिधानाभूषण, जगके भोग-त्याग-व्यवहार।
मेरे ही सुख-हेतु एक, वे करतीं सदा सभी आचार॥
त्यागमयी गोपीजन मण्डित उस राधाका विषम वियोग।
प्रतिपल है संतप्त कर रहा, चाह रहा मन नित संयोग॥

(अपने लिये भोग-मोक्ष, इच्छा-वासना, अहंता-ममता आदि—) सबका त्याग करके ये अपने मनमें केवल मेरे सुखकी ही अभिलाषा रखती हैं; इसी हेतु वे जगत्में जीवित हैं और इसी हेतु नित्य वृन्दावनमें निवास करती हैं। उनका खाना-पीना, वस्त्राभूषण धारण करना, जगत्के भोगने और त्यागनेके सभी व्यवहार केवल एक मेरे ही सुखके लिये होते हैं। इसीलिये वे सदा सारे आचरण करती हैं। त्यागमयी ऐसी उन गोपियोंसे समन्वित उस राधाका भयानक वियोग मुझको प्रतिपल संतप्त कर रहा है और मेरा मन नित्य उसके संयोगकी इच्छा करता है।

पर उद्धव! यह विप्रलम्भ ही करता अति सुखका संचार।
मिलनानन्द-रसामृतका यह करता शुचि विचित्र विस्तार॥
प्रेम-राज्यमें विप्रलम्भ-संभोग उभय रस नित्य स्वतन्त्र।
विविध रूप-भावोंमें नित करते रहते संयोग विचित्र॥
किंतु साथ ही रहते हैं ये आश्रय एक दूसरेके सब काल।
अविनाभाव बने सरसाते नव-नव रस पीयूष रसाल॥

परंतु उद्धव! यह विप्रलम्भ (वियोग) ही अत्यन्त सुखका संचार करनेवाला है। यही मिलनानन्द-रससुधाका पवित्र आश्चर्यमय विस्तार करता है। प्रेमराज्यमें यद्यपि ये वियोग और संभोग—दोनों रस नित्य स्वतन्त्र हैं और विविध रूपों तथा भावोंमें ये नित्य ही

विचित्र संयोग करते रहते हैं, तथापि ये सब समय एक ही साथ एक दूसरेके आश्रय होकर अविनाभाव बने रहते हैं और नये-नये मधुर रसमृतसे जीवनको रसपूर्ण करते रहते हैं।

> किंतु वास्तव मेरा उसका रहता नित्य सतत संयोग।
> एक बने दो लीला करते नित्य वियोग नित्य सम्भोग॥
> आना-जाना कहीं कभी भी रखता नहीं वास्तव अर्थ।
> मिले हुए हैं सदा, सर्वथा, नित्य अभिन्न सत्य परमार्थ॥
> देख कहीं पाते तुम उद्धव! हम दोनोंका नागिक रूप।
> सदा एकतन, सदा एकमन, सदा एकरस तत्व अनूप॥
> मिट जाते संदेह सभी, तुम पाते भगवदीय आनन्द।
> राधा शरण ग्रहण कर अब भी प्राप्त करो इसका स्वच्छन्द॥

इतनेपर भी वास्तव मेरा और उस राधाका नित्यनिरन्तर संयोग (मिलन) रहता है। हम नित्य एक ही दो बने हुए, नित्य वियोग और नित्य सम्भोगकी लीला करते रहते हैं। कभी भी कहीं भी हमारा आना-जाना वास्तव कोई अर्थ नहीं रखता, क्योंकि सदा सब प्रकारसे हम मिले हुए हैं, नित्य अभिन्न हैं; यही सत्य परमार्थ-स्वरूप है। उद्धव! तुम यदि कहीं हमारे इस नागिक स्वरूपको देख पाते, जो सदा ही अनुपमेय एकतन, एकमन और एकरस-तत्त्वरूप है, तो तुम्हारे सारे संदेह मिट जाते और तुम भगवदीय आनन्दको प्राप्त हो जाते। अब भी तुम श्रीराधाके शरणापन्न होकर इस (रहस्य और आनन्द) को स्वच्छन्दतासे प्राप्त कर लो।

स्नान-पान-परिधानाभूषण, जगके भोग-त्याग-व्यवहार।
मेरे ही सुख-हेतु एक, वे करतीं सदा सभी आचार॥
त्यागमयी गोपीजन मण्डित उस राधाका विषम वियोग।
प्रतिपल है संतप्त कर रहा, चाह रहा मन नित संयोग॥

(अपने लिये भोग-मोक्ष, इच्छा-वासना, अहंता-ममता आदि—) सबका त्याग करके · ये अपने मनमें केवल मेरे सुखकी ही अभिलाषा रखती हैं; इसी हेतु वे जगत्में जीवित हैं और इसी हेतु नित्य वृन्दावनमें निवास करती हैं। उनका खाना-पीना, वस्त्राभूषण धारण करना, जगत्‌के भोगने और त्यागनेके सभी व्यवहार केवल एक मेरे ही सुखके लिये होते हैं। इसीलिये वे सदा सारे आचरण करती हैं। त्यागमयी ऐसी उन गोपियोंसे समन्वित उस राधाका भयानक वियोग मुझको प्रतिपल संतप्त कर रहा है और मेरा मन नित्य उसके संयोगकी इच्छा करता है।

पर उद्धव! यह विप्रलम्भ ही करता अति सुखका संचार।
मिलनानन्द-रसामृतका यह करता शुचि विचित्र विस्तार॥
प्रेम-राज्यमें विप्रलम्भ-संभोग उभय रस नित्य स्वतन्त्र।
विविध रूप-भावोंमें नित करते रहते संयोग विचित्र॥
किंतु साथ ही रहते हैं ये आश्रय एक दूसरेके सब काल।
अविनाभाव बने· सरसाते नव-नव रस पीयूष रसाल॥

परंतु उद्धव! यह विप्रलम्भ (वियोग) ही अत्यन्त सुखका संचार करनेवाला है। यही मिलनानन्द-रससुधाका पवित्र आश्चर्यमय विस्तार करता है। प्रेमराज्यमें यद्यपि ये वियोग और संभोग—दोनों रस नित्य स्वतन्त्र हैं और विविध रूपों तथा भावोंमें ये नित्य ही

झाँकी २६

अखिलरसामृतसिन्धु अचिन्त्यानन्त-नित्य-युगपत् परस्पर-विरोधी-धर्मगुणाश्रय-स्वरूप भगवान् श्यामसुन्दर और परम त्यागमयी प्रेममूर्ति श्रीकृष्ण-प्राणा श्रीगोपाङ्गनाओंके विशुद्ध प्रेममय पूर्वरागके हेतुओंका संकेत बनानेवाले कुछ पद पिछली झाँकीमें आ चुके हैं, अब यहाँ 'मुरलीध्वनि,' दूरसे श्रीकृष्ण-वाणी-श्रवण, गुणश्रवण, वन्दीजनद्वारा गुणश्रवण, सखीद्वारा गुणश्रवण—इन पाँच हेतुओंका संकेत बतानेवाले पद दिये जाते हैं—

मुरली-ध्वनि

गयो मन मेरो, सब कछु त्याग ।
मुरलीकी सुनि मधुर तान मन उमग्यो अति अनुराग ॥
अधर-सुधा-रस-सनी सुनाई गाय मधुरतम राग ।
मधुर दिव्य रस भरयौ हृदय में, अग-जग छयौ बिराग ॥

जिनसे सोक-मोह-मद-लज्जा-गर्व, चल्यौ भय भाग ।
मिटी सकल ममता, अभिलाषा, भुक्ति-मुक्ति की माँग ॥
मधुर मिलन की एक लालसा उठी तीव्रतम जाग ।
दै दरसन कृतार्थ करिहैं कब मनमोहन बड़भाग ॥

मुरलीकी मधुर तान सुनते ही मनमें अत्यन्त अनुराग उमड़ आया और मेरा मन सब कुछ त्यागकर चला गया (मुरली बजानेवालेके पास)। उसने अपने अधर-सुधारससे सनी हुई मधुरतम राग मुरलीमें गाकर सुनायी, जिससे मेरा हृदय दिव्य मधुर रससे भर गया और सारे जगत्प्रपञ्चके प्रति वैराग्य छा गया। शोक, मोह, मद, लज्जा और गर्व नष्ट हो गये और भय भाग छूटा। जगत्के पदार्थोंकी सारी ममता, सारी अभिलाषा और भोग-मोक्षकी माँग मिट गयी। बस, प्रियतम श्यामसुन्दरके मधुर मिलनकी एकमात्र अनन्त तीव्र लालसा जाग उठी। वे बड़भागी मनमोहन दर्शन देकर कब मुझे कृतार्थ करेंगे ?

द्रुसे श्रीकृष्ण-बाणी-श्रवण

सुनि सहसा सुर मधुर भई हौं बावरी ।
बिध्यौ प्रेमकौ बन बस्यौ हिय चाव री ॥
मधुर कमल मकरंद भर्यौ रस भाव री ।
मिट्यो सकल अभिमान, गयौ मद ताव री ॥
भोग-राग मिटि गये, न रह्यौ सुभाव री ।
भयौ मनमगन निरावरन, न दुराव री ॥
सरसानि सूखी गई, न रहे पड़ाव री ।
नवविरहानल कौ बढ्यौ अन्त री ॥

आयो अमिट अमाप मिलनको चाव री।
सखि ! अब मोकूँ माधव बेगि मिलाव री॥

एक दिन अचानक मैंने श्यामसुन्दरकी मधुर वाणीका स्वर सुन लिया और उसी क्षण बावली हो गयी। मेरा हृदय प्रेमबाणसे बिंध गया और उसमें घाव हो गया। तबसे वह घाव रस और भावसे भरा है और उसमें सदा वाञ्छनीय मीठी-मीठी पीड़ा हो रही है। मेरा सारा अभिमान मिट गया है और सारा ताव जाता रहा है। भोगासक्ति नष्ट हो गयी है, मनका कहीं भी कोई झुकाव नहीं रह गया। श्रीश्यामसुन्दरके प्रति मेरा निरावरण समर्पण हो चुका। कहीं कुछ भी छिपाव नहीं रह गया। मनकी गति सीधी उनकी ओर ही हो गयी, कहीं भी बीचमें रुकने—टिकनेके लिये स्थान नहीं रह गये। मेरे भय, विषाद, लज्जाका सर्वथा अभाव हो गया और प्रियतम श्यामसुन्दरसे मिलनेकी अक्षय अपार मीठी-मीठी अभिलाषा जाग उठी। सखि ! अब तू मुझको उन प्यारे माधवसे शीघ्र मिला दे।

गुण-श्रवण

स्याम बिमल गुन सुनत गोपिका तन-धन सकल भुलानी हो।
मन हर लियौ स्याम-गुन ताको, सो बिनु मोल बिकानी हो॥
रंग-भरे, रस-भरे, गुन-भरे मोहन रस के खानी हो।
करी ताहि सब भाँति अकरमी, दुख-सुख रहित दिवानी हो॥
रोवत कबहुँ, हँसत, बिलपत अति निरतत, रहत लुभानी हो।
कबहुँ प्रेमरस बरनत बहु बिधि भाव निमग्न सयानी हो॥
कबहुँ असम्बद्ध बोलत बहु करत प्रलाप, परानी हो।
भई बिचित्र दसा गोपी की प्रेम-समुद्र समानी हो॥

पूर्वराग के परम प्रेम की मूरति प्रिय-मन मानी हो।
धन्य धन्य रसमयी गोपिका दिव्य प्रेम पहचानी हो॥

'प्रियतम श्यामसुन्दरके निर्मल गुणोंको श्रवण करते ही गोपी अपने तनको, धन-सम्पत्तिको (घर, सम्पत्ति, गाय-भैंस, आत्मीय स्वजन) सबको भूल गयी। श्यामसुन्दरके गुणोंने उसके मनको हर लिया और वह बिना ही मोल बिक गयी। वे मोहन लीला, रस और गुणोंसे परिपूर्ण रसकी खान हैं। उनके गुणोंने उसे सब प्रकारसे कर्मरहित, दु:ख-सुखरहित पगली बना दिया। वह कभी रोती है, कभी हँसती है, कभी अत्यन्त विलाप करती है, कभी नाचती है, कभी चुप रह जाती है और कभी भावमें डूबी हुई सयानी बनकर बहुत प्रकारसे प्रेम-रसका व्याख्यान करने लगती है एवं कभी असम्बन्ध बोलती हुई बहुत प्रकारसे प्रलाप करने लगती है तथा कभी भाग जाती है। उस गोपीकी विचित्र दशा हो गयी है, वह प्रेम-समुद्रमें समा गयी है। वह पूर्वरागके परम प्रेमकी साक्षात् मूर्ति हो गयी है और प्रियतमके मनको भा गयी है। वह रसमयी गोपी धन्य है, धन्य है, जो दिव्य प्रेमकी पहचानरूप है।

बन्दीजनद्वारा गुण-श्रवण

बंदीजन आये गुन गावत।
मोद भरे मन मोहन-प्रिय गुनरूप रुचिर बहुभाँति सुनावत॥
अतुलनीय गुन रूप-सुधानिधि कितहुँ न कछु उपमा कवि पावत।
बिबिध बिचित्र बिमल गुन बरनन करत, सबनि को मोद बढ़ावत॥
भाग्यवान उन बंदीजन हूँ देवि मधुरतम रस बरसावत।
प्रेम-भगिनि प्रगटी उर अंतर भोग-राग-अभिलाष जरावत॥

मधुर रूप-गुन निधि कौं सुनि, मो लगी न बेर हृदय में लावत ।
धर एकाधिपत्य मो मन में आय बसे प्रिय हँसत-हँसावत ॥
तब ते सखि ! मैं भई बावरी रही न सुधि कछु करत-करावत ।
कब वे मिलैं प्रानधन मोकूँ, सरस हृदय सौं हिय सरसावत ॥

उस दिन वंदीजन आकर प्रसन्नतासे भरे हुए मनसे प्रियतम मोहनके रुचिर गुणों एवं रूपोंको भाँति-भाँतिसे गाने और सुनाने लगे। वे प्रियतम गुण-रूप-सुधाके अतुलनीय समुद्र हैं। कविगण उनके लिये कहीं कुछ भी उपमा नहीं ढूँढ़ पाते। वंदीजन उनके विविध विचित्र निर्मल गुणोंका वर्णन करके सबका मोद बढ़ाने लगे। उन सौभाग्यवान् वन्दीजनको इस प्रकार रस बरसाते देखकर मेरे हृदयमें भोगासक्ति तथा भोग-कामनाको जलाती हुई प्रेमकी अग्नि प्रकट हो गयी। फिर उन मधुर रूप-गुण-समुद्र श्यामसुन्दरको (भोगासक्ति-कामनासे शून्य) हृदयमें लाते मुझे जरा भी देर न लगी। वे प्रियतम स्वयं हँसने और मुझे आनन्दमें हँसाते हुए तुरंत ही एकाधिपत्य करके मेरे मनमें आ विराजे। यों वे अंदर तो विराज गये, पर सखि ! मैं तबसे बावली हो गयी। क्या करती हूँ—क्या कराती हूँ, इसकी कुछ भी स्मृति नहीं रह गयी और यही चाह करने लगी कि कब वे मेरे प्राणधन (बाहर भी) अपने सरस हृदयसे मेरे हृदयको सरसाते हुए मिलेंगे।

सखीसे गुण-श्रवण

सखी सौं सुनि वा दिन गुन-गान ।
रंग-रूप-रस-जल परिपूरन रसिकराज रसखान ॥
ता दिनतें उर बसी माधुरी मूरति मोद-निधान ।
चलत, खात, सोवत जागत, नित, पल न परत व्यवधान ॥

सखि ! सुन कहौं [illegible] जो दिन [illegible] [illegible] [illegible]।
बिनु बिरम, मोहि सुधि न रही कछु, रह्यौ न तन को [illegible]॥
बिसरी लोक-बेद-मरजादा [illegible] कुल की कान।
मिलिबे को अति आतुर मन, पल बीतत जुग समान॥
मोहि न मुक्ति की चाह सजनी ! नहीं नरक भय मान।
अब तौ मिलौं स्याम-प्रिय निधरक [illegible] [illegible] [illegible]॥

उस दिन उन लीला, रूप, रस, गुण आदिसे परिपूर्ण रसिकराज रसखान श्रीश्यामसुन्दरके गुणोंका गान सखीके मुखसे सुना, सुनते ही उसी दिनसे वह अनन्त आनन्दनिधि माधुरी-मूर्ति मेरे हृदयमें बस गयी। चलते, खाते, सोते, जगते—सभी समय वह विराजित रहती है। एक पलके लिये भी उससे जरा भी व्यवधान नहीं होता। सखि ! तुम सब मेरे हितके लिये ही मुझे [illegible] रही हो (मुझको समझा रही हो); क्योंकि तुम सदा ही मेरा कल्याण चाहती हो। परन्तु मैं विवश हूँ। मुझे कुछ भी सुध-बुध नहीं रही है, जगतका जरा भी ध्यान नहीं रह गया है। लोक-वेदकी सारी मर्यादा मुझे भूल गयी है, न किसी प्राणी-पदार्थमें ममता रही है और न कुलकी लाज ही है। मेरा मन उन प्रियतमसे [illegible] मिलनेके लिये अत्यन्त आतुर हो रहा है। [illegible] [illegible] युगके समान बीत रहा है। सजनी ! मुझे न मुक्तिकी [illegible] है और न नरकका [illegible] ही मान है। अब तो सखि ! मैं [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] और [illegible] [illegible] हूँ [illegible]।

[illegible] [illegible] है।

झाँकी २७

प्रेमके प्रगाढ़भावसे अनुरक्त मनमें मिलनकी अत्यन्त उत्कण्ठाके उदय हो जानेपर जो एक विलक्षण व्याकुलता आ जाती है, मिलनकी पूर्वावस्थामें दर्शन-श्रवणादि विभिन्न हेतुओंसे भावोंके उद्दीप्त होनेपर जो एक अनिर्वचनीय मिलन-व्यग्रता उत्पन्न हो जाती है, उसे 'पूर्वराग' कहते हैं। प्राकृत नायक-नायिकाओंका पूर्वराग मलिन मिलन-कामनाको लेकर होता है; परंतु भगवान् श्यामसुन्दर तथा स्व-सुख-वाञ्छा-विरहित श्रीगोपाङ्गनाओंका पूर्वराग विशुद्ध प्रेममय होता है। इस पूर्वरागकी उन्नतिके अनेक हेतु होते हैं। उनमें यहाँ आज 'साक्षात् दर्शन,' 'स्वप्न-दर्शन,' 'श्रीकृष्णनाम-श्रवण,' 'दूतीके द्वारा रूपगुण-श्रवण, और 'लीलास्थली-दर्शन'—इन पाँच हेतुओंका संकेत बतानेवाले श्रीगोपाङ्गनाओंके द्वारा अनुभूत कुछ भाव नीचेके पाँच पदोंमें दिये जाते हैं—

साक्षात् दर्शन

हौं जल भरन गई री सजनी ! चलि वा दिन कालिंदी कूल।
देखे तहँ ठाढ़े नटवर नँदलाल, गई सारी सुध भूल॥
अंग अंग रस-सुधा बरस रहि, नव किसोर लावन्य ललाम।
कुंचित कच, त्रिभंग तनु भंगिम, सिर मयूर-चंद्रिका सुठाम॥

चंचल दृग तिरछे अनियारे, स्रवत प्रेमरस की मधु धार।
परबस, करषि लियौ मन मेरौ, कोटि मनोज लजावनहार॥
सुस्मित अधर, बदन मुनि-मनहर, बरन नील, उर मुक्ता-पाँति।
मधुर मुरलि मधु-नाद-निनादिनि हरत मदन-मानस सब भाँति॥
या दिन में मोहि कछु न सुहावै, काँपत सकल अंग दिन-रात।
कब निरखौं हिय भरि मनमोहन, कब परसौं सुचि पद-जलजात॥

सजनी ! उस दिन मैं जल भरनेके लिये चलकर यमुनाजीके तटपर गयी थी। वहाँ मैंने नटवर नन्दनन्दनको खड़े देखा, देखते ही मैं सारी सुध-बुध भूल गयी। उनके अङ्ग-अङ्गसे रस-सुधाकी वर्षा हो रही थी, नवीन किशोर वय था, ललित लावण्य था। घुँघराले केश, त्रिभंग भंगिमायुक्त मङ्गलविग्रह, सिरपर मोरपंखकी सुन्दर चन्द्रिका और अरुणिम चपल नेत्र थे, जिनसे प्रेम-रसकी मधुर धारा बह रही थी। उन करोड़ों-करोड़ों कामदेवोंको लज्जित करनेवाले सौंदर्यस्वरूपने मेरे मनको बलात् खींच लिया। उनके अधरोंपर मृदु हास्य खेल रहा था, उनका श्रीमुख मुनि-मन-हारी था, नीलश्याम वर्ण था, वक्षःस्थलपर मोतीकी लड़ियाँ सुशोभित थीं। वे मधुर नादका निनाद करनेवाली मुरली लिये थे। मदनके मनको भी सब भाँतिसे हरण कर रहे थे। जिस दिन इस रूपमें उनको देखा, उस दिनसे मुझे कुछ नहीं सुहाता। तबसे मेरे सारे अङ्ग काँपते रहते हैं। मैं कब उन मनमोहनको हृदय भरकर देखूँगी और कब उनके चरण-कमलोंका स्पर्श करूँगी।

स्वप्न-दर्शन

सोवत रही सखी ! मैं अति सुख।
कोटि भानु दुति राजत सीतल मनस्यो मधुर मनोहर श्रीमुख ॥

अधर मधुर मृदु मुसुकानि मोहनि, ऋषि-मुनि-ज्ञानी-तापस मन-हर ।
भ्रुकुटि कुटिल, सुचि चंचल दृग-जुग, मोहन वेनु विमल राजत कर ॥
मुक्ता-मनि-गुंजा-तुलसी-वन-सुमन-हार सोभित सुंदर गल ॥
पग नूपुर छमकार चित्तहर, बाजत कटि किंकिनि घूँघुर कल ॥
पाय रूप-सौंदर्य-सुधा मैं छकी, थकी-सी रही चकित मन ।
भुजा पसार चली अति आतुर विह्वल तुरत चरन-जुग पकरन ॥
टूट्यो सुपन जगी औचक, रहि भौंचक दीखे नहिं नँदनंदन ।
तब तें दारुन जरत जरनि जिय, निसिदिन दहत रहत सखि! मन-तन ॥

सखी ! मैं अत्यन्त सुखसे सो रही थी। (मैंने स्वप्नमें देखा—) करोड़ों सूर्योंके शीतलतायुक्त प्रकाशसे सुशोभित मधुर मनोहर मुख प्रकट हो गया। उसके अधरोंपर मधुर मन्द मोहनी ऐसी मुसकान छिटक रही थी जो ऋषि, मुनि, ज्ञानी तथा तपस्वियोंके भी मनका हरण करनेवाली थी। (इतनेमें पूरे मङ्गलविग्रहके दर्शन होने लगे।) उन श्रीश्यामसुन्दरकी भौंहें टेढ़ी थी, पवित्र नेत्रयुगल चञ्चल थे, पवित्र हाथमें मोहन मुरली सुशोभित थीं। गलेमें सुन्दर मोती, मणि, गुंजा, तुलसी तथा वनपुष्पोंके हार झूल रहे थे। पैरोंमें चित्त हरण करनेवाली नूपुरोंकी छम-छम ध्वनि हो रही थी। कटि-प्रदेशमें किंकिणीके सुन्दर घुँघरू बज रहे थे। मैं इस रूप-सौन्दर्य-सुधाको पाकर छक गयी, मेरा मन आश्चर्यमें डूब गया। मैं थकी-सी रह गयी। फिर, मैं अत्यन्त आतुर होकर विह्वलताके साथ तुरंत ही भुजाएँ पसारकर उनके चरण-युगलोंको ग्रहण करने चली। इतनेमें स्वप्न टूट गया। मैं अचानक जग गयी, भौंचक-सी रह गयी, कहीं नन्दनन्दन नहीं दिखायी दिये। सखी! उसी समयसे मेरे

दारुण अग्नि जल रही है और मेरे मन-तन रात-दिन उससे रहते हैं।'

श्रीकृष्णनाम-श्रवण

भई गति कैसी सुनु सजनी !
सुनी मनोहर कृष्ण नामकी, जब तें मधुर धुनी॥
उरज्ञ, भरयौ अमृत हियमें, तातें प्रगटी अगिनी।
बुझै न बिनु पाये वह दरसन-सुधा दाह-समनी॥
नित्य निरंतर तड़पत मन, नहिं चैन दिवस-रजनी।
सार-हीन जीवन बिनु प्रियतम सु-मिलन मोलमनी॥
सखी! मुझको लै चलु, हौं जहँ माधव नाम-धनी।
नहिं उपकार बिसारौं पल-छिन, रहूँ कृतज्ञ-रिनी॥

'सजनी ! सुनो, जबसे मैंने 'कृष्ण' नामकी मधुर मनोहर ध्वनि सुनी, तबसे मेरी कैसी गति हो रही है ! उस ध्वनिके आते ही हृदय अमृतसे भर गया, पर आश्चर्य है कि उस अमृतमें ही (जलानेवाली) आग भड़क उठी। यह अग्नि अब दाहको बुझानेवाली दर्शन-सुधाके पाये बिना कभी नहीं बुझेगी। मेरा मन नित्य-निरन्तर तड़प रहा है। दिन-रातमें कभी मुझे चैन नहीं पड़ती। उन प्रियतमसे भलीभाँति मिले बिना मेरा जीवन सर्वथा निःसार है। सखी! मुझको शीघ्र वहाँ ले चल, जहाँ (श्रीकृष्ण) नामके धनी श्रीमाधव विराजमान हैं। मैं एक पल-क्षणके लिये भी तेरा उपकार नहीं भूलूँगी। जीवनभर कृतज्ञ तथा ऋणी बनी रहूँगी।'

दूतीके द्वारा रूप-गुण-श्रवण

छायौ तब हिय मोहौ आघात।
जब वनितोत्सव रूप-सीलकी दूतीने कहि बात॥

तब तें घाव हरौ ही है सखि ! पल-पल बढ़ती पीर।
देखन कौं वा रूप-सील-छवि मैं अति भई अधीर॥
नव-नीरद-दुति, नटवर सुंदर मोरपिच्छ सिर सोह।
मुरली मधुर अधर पर सोभित चिदानन्द-संदोह॥
मृदु मुसकान, नैन-भौं बाँकी, घन घुँघरारे केस।
बिजुरी-बरन बसन तन राजत सुर-मुनि-मोहन भेस॥
कटि करधनि, पग नूपुर बाजत, गल गुंजा-बनमाल।
कैसे करि सखि ! सपदि बिलोकूँ मैं वह रूप रसाल॥
नहिं तर, टीस मिटै नहिं कबहूँ सूखै कबहुँ न घाव।
बिषम बेदनामें स्मृति-सुख अति रहत बढ़ावत चाव॥

जिस क्षण दूतीने प्रियतम श्यामसुन्दरके वनितामात्रके उत्सव-स्वरूप रूप-सौन्दर्य तथा शील-स्वभावकी बात कही; उसी क्षण मेरे हृदयमें (मिलनेच्छाकी) एक मीठी चोट लग गयी । उस दिनसे सखी ! वह घाव हरा ही बन रहा है और उसकी पीड़ा प्रतिपल बढ़ रही है । उस रूप-शीलकी छवि देखनेके लिये मैं अत्यन्त अधीर हो रही हूँ । वह गुणिमय नवीन नीरद-वर्ण, चिदानन्दसंदोह सुन्दर नटवर-रूप, सिरपर मयूरपिच्छ सुशोभित, अधरपर मधुर मुरली विराजित, मृदु मुसकान, टेढ़े नेत्र और भ्रुकुटि, घने घुँघराले केश, बिजली-वर्णका पीत वस्त्र शरीरपर शोभित, सुर-मुनि-मोहन-वेष, कटिदेशमें करधनी, पैरोंमें बजते हुए नूपुर और गलेमें गुंजाकी तथा वनकुसुमोंकी मालाएँ । सखी ! वह रसमय रूप मैं शीघ्र-से-शीघ्र कैसे, किस उपायसे देखूँ ! उसे देखे बिना तो सखी ! न घावकी यह कसक कभी मिटेगी और न कभी घाव

सुहागा ही ! इस विरह-वेदनामें भी स्मृतिका अत्यन्त सुख प्राप्त हो रहा है, जो निरन्तर मिलनके चावको बढ़ा रहा है ।

लीलास्थली-दर्शन

सखी ! मैं दशा कहूँ मन की ।
जागत बनै न सोवत मोसौं भइ बौरी, सनकी ॥
गई हुती वा दिन मैं बन कौं सुध बिसरी तन की ।
जा पहुँची प्रेरित-सी लीलभुवि मनमोहन की ॥
देखी तहाँ विचित्र विलच्छन सुषमा-श्री बन की ।
परसी पवन तहाँ की तन भइ संगति रज-कन की ॥
बेसुध, फिरि आई मैं भूली संज्ञा जीवन की ।
तब ते कछु न सुहावै, लगि रहि ललक सुदरसन की ॥

सखी ! मैं अपने मनकी क्या बताऊँ ! मुझसे न तो जगते बनता है, न सोते ही । मैं बावरा हो गया हूँ, सनक गया हूँ । उस दिन मैं वनकी ओर चली गयी थी । शरीरकी स्मृति भूल गयी थी और किसीके द्वारा प्रेरित-सी मैं प्रियतम मनमोहनकी लीलास्थलीमें जा पहुँची । वहाँ उस मनोहर वनकी विचित्र विलक्षण शोभा-श्री मैंने देखी । वहाँके पवनका मेरे शरीरसे स्पर्श हुआ और वायुके द्वारा उड़े हुए रजःकणोंका मेरे शरीरको सङ्ग मिला । मैं बे-सुध हो गयी और उसी सुधहीन स्थितिमें लौट आयी । मैं जीवनकी सञ्ज्ञातकको भूल गयी । सखी ! उस समयसे मुझे कुछ भी नहीं सुहाता । केवल उनके सुन्दर दर्शनकी ही ललक लग रही है ।



झाँकी २८

विरहाकुल अति व्यथित हृदय है, छाया है सब ओर विषाद।
एक परम सुख है—'प्रियकी है बनी निरन्तर प्यारी याद॥'

प्रियतम श्रीकृष्णके अमिलनके विषम विरहानलसे संतप्त श्रीराधिकाजी कुञ्जके अंदर बैठी हैं। वे अत्यन्त विरह-व्याकुल हैं, हृदय व्यथासे भरा है और उनके जीवनमें सर्वत्र सब ओर विषाद छाया है। पर इस घोर दुःखमें भी एक परम सुख उन्हें प्राप्त है—वह है—'नित्य-निरन्तर बनी रहनेवाली प्रियतमकी मधुरतम स्मृति।'

'श्याम आ गये, इसी समय, यह सखिने दिया सुखद संवाद।
सुनते ही, उर-व्यथा मिट गयी, बना विषाद परम आह्लाद॥
उठी, दर्शनातुर विह्वल हो, भाग चलीं प्रियतमकी ओर।
कौन, कहाँ, क्यों भाग रही मैं, भूली होकर प्रेमविभोर॥

इसी समय एक सखीने आकर यह मङ्गल सुखद समाचार सुनाया कि 'श्यामसुन्दर आ गये।' इतना सुनते ही राधाजीकी सारी हृदय-व्यथा मिट गयी और विषाद परम आह्लादके रूपमें परिणत हो गया। वे उठीं और दर्शनके लिये आर्त्त–विह्वल होकर प्रियतमकी ओर भाग चलीं। मैं कौन हूँ, कहाँ हूँ, क्यों भाग रही हूँ–प्रियतमके प्रेममें निमग्न होकर वे यह सब भूल गयीं।

मदमाती डगमगाती दौड़ी, पहुँची तुरत कुंजके द्वार।
देखा, खड़े मधुर मुसुकाते, वहाँ प्रेमधन नन्दकुमार॥
देख परस्पर मुख शशि अनुपम अगणित विधु-निन्दक सुखसार।
हुए निमग्न प्रेम-सुख-रसनिधि दृगसे बही प्रेम-रस-धार॥

वह प्रेमके नशेमें चूर-सी डगमगाती हुई दौड़ी और तुरंत कुञ्जके द्वारपर जा पहुँची। वहाँ जाकर देखा प्राणधन श्रीनन्दकुमार

श्यामसुन्दर खड़े मधुर-मधुर मुसकरा रहे हैं। दोनोंने परस्पर एक-दूसरेके उस सुख-सार अनुपम मुखचन्द्रको देखा, जो असंख्य चन्द्रमाओंको लजानेवाला था और दोनों ही प्रेम-सुख-रसके समुद्रमें निमग्न हो गये तथा दोनोंके ही नेत्रोंसे प्रेम-रसकी धारा बह चली।

जगी तुरत अपनी अयोग्यता, प्रेमहीनताकी अनुभूति।
दीखी उधर, रूप-गुण-निधिकी अतुल पवित्र प्रेम-अभिभूति॥
उपजा मन संकोच, बढ़ी फिर प्रियता प्रियतमपर सविशेष।
कहाँ अतुल ये सर्वगुणाश्रय, कहाँ हीन मैं सद्गुण-लेश।
कितने अमित प्रेममय प्रियतम, कितने सहज असीम उदार।
जो मिलने मुझ-सी मलिनासे आये स्वयं तुरन्त पधार॥

इसी बीच तुरत ही श्रीराधाजीमें सहज स्वाभाविक (दैन्यवश) अपनी योग्यता और प्रेमहीनताकी अनुभूति जाग उठी और उधर उन्हें दिखायी दिया कि अतुलनीय रूप-गुणोंके समुद्र श्रीश्यामसुन्दर पवित्र प्रेमसे अभिभूत हो रहे हैं। यह देखते ही राधाजीके मनमें बड़ा संकोच हुआ और प्रियतमके प्रति उनकी प्रियता विशेषरूपसे बढ़ गयी। उन्होंने सोचा—कहाँ तो ये अतुलनीय समस्त गुणोंके आश्रयरूप श्यामसुन्दर और कहाँ मैं सद्गुणके लेशसे भी सर्वथा रहित। मेरे प्रियतम श्यामसुन्दर कितने अपरिमित प्रेममय हैं, ये कितने सहज ही असीम उदार हैं जो मुझ मलिनासे मिलनेके लिये तुरन्त स्वीकार करके स्वयं पधारे हैं।

इतनेमें प्रियतमने उसको स्नेह भरे हाथोंसे खींच।
अति विरोध करते ही करते लिया उसे निज उरमें भींच॥
मिलनेका विरोध सुख होता, अमिलनमें मिलनेकी चाह।
पावन परम प्रेम रस निधिकी मिलती नहीं किसीको थाह॥

जो सब छोड़ परम श्रद्धासे तुम्हें लक्ष्यकर चल पड़ता ।
तुरत सामने आ जाते तुम, नहीं उसे चलना पड़ता ॥

प्यारे श्यामसुन्दर ! प्रेमके महत्त्वको जाननेवाले जितने भी प्रेमाधीनता स्वीकार करनेवाले महानुभाव हैं, तुम उन सबमें शिरोमणि हो । तुम तो जहाँ जरा भी विशुद्ध प्रेम देखते हो, वहीं अपनी सारी भगवत्ताको भूलकर उसके अधीन हो जाते हो । तुम ही यथार्थमें 'रस' हो, तुम ही रसके मूल स्रोत हो—सारा संसार तुम्हींसे रस प्राप्त करता है, तुम ही परम रसिक हो और रसोंके तत्त्वको जाननेवाले हो; पर तुम ऐसे रसिक हो कि जहाँ भी कहीं दिव्य रस दिखायी दिया कि तुम्हें अपनी 'रस'-रूपताकी विस्मृति हो जाती है और तुम उस रसके आस्वादनके लिये लालायित हो उठते हो । तुम ही समस्त श्रेष्ठ गुणोंकी खान हो । गुणके ज्ञाता हो और तुम्हीं सबमें सदा सद्गुणोंका वितरण करते हो; पर जहाँ-कहीं दिव्य गुण देखते हो, वहाँ अपनेको उसपर न्योछावर कर देते हो । प्रेम-रस और गुणोंके स्वरूप तथा मूल स्रोत एवं भण्डार होनेपर भी तुम जो ऐसा करते हो, यह भी तुम्हारी—प्रेमाधीनता, रसरूपता और गुणज्ञताका ही परिचय है । इसके अतिरिक्त, यदि कोई सब कुछ छोड़कर, तुम्हें लक्ष्य बनाकर परम श्रद्धाके साथ तुम्हारी ओर चलना आरम्भ कर देता है तो तुम ऐसे उदार हो कि तुरंत ही उसके सामने आकर खड़े हो जाते हो, उसे चलना ही नहीं पड़ता । जहाँ कुछ भी प्रेम-रस या गुण हो, वहाँ तुम्हारा ऐसा करना ठीक है, यह तुम्हारे हृदयकी विशालता और उदारता है; परंतु—

मैं तो नित्य प्रेम-कण-विरहित हूँ सर्वथा शुष्क रसहीन।
सद्‌गुण एक नहीं है मुझमें, दोषपूर्ण हूँ, दुर्गुण-पीन॥
पीठ दिये ही हूँ मैं रहती, सदा विमुख ही हूँ चलती।
इतनेपर भी कभी न मुझको अपनी नीच दशा खलती॥

मैं तो सदा ही, प्रेमकी बात तो दूर, प्रेमके एक कणसे भी पूर्णरूपसे रहित हूँ। रसकी तो चर्चा ही क्या, मेरा हृदय तो सर्वथा सूखा और नीरस है। इसी प्रकार मुझमें एक भी सद्‌गुण नामको भी नहीं है, वर मैं दोषोंसे भरी हूँ और दुर्गुणोंसे स्थूल हो रही हूँ। कभी तुम्हारे सम्मुख होती ही नहीं, सदा ही पीठ दिये रहती हूँ; यही नहीं, मैं तो सदा तुम्हारे विमुख ही चलती हूँ,— इतनेपर भी मेरी इस नीच दशापर मुझे जरा भी दुःख नहीं होता।

फिर तुम क्यों रीझे हो मुझपर? क्यों देते हो इतना प्यार?
क्यों पीछे-पीछे फिरते हो? क्यों करते ममता-विस्तार?
जाना, तुम अति ही भोले हो, या तुम हो अत्यन्त उदार!
निज स्वभाववश दोषोंमें भी देख रहे गुण नित्य अपार॥

फिर, पता नहीं, तुम किस बातको लेकर मुझपर रीझ रहे हो? क्यों इतना प्रेम-दान कर रहे हो? क्यों सदा मेरे पीछे-पीछे फिरते हो और क्यों सब ओरसे मेरे प्रति इतनी ममता फैला रहे हो? मैं जान गयी, तुम एकदम भोले हो, अथवा तुम अत्यन्त उदार हो; बस, केवल उदार ही हो। इसी अपने स्वभावके वश होनेके कारण तुम दोषमयी मुझमें सदा अपार गुण ही देख रहे हो।

जो सब छोड़ परम श्रद्धासे तुम्हें लक्ष्यकर चल पड़ता।
तुरत सामने आ जाते तुम, नहीं उसे चलना पड़ता॥

प्यारे श्यामसुन्दर! प्रेमके महत्त्वको जाननेवाले जितने भी प्रेमाधीनता स्वीकार करनेवाले महानुभाव हैं, तुम उन सबमें शिरोमणि हो। तुम तो जहाँ जरा भी विशुद्ध प्रेम देखते हो, वहीं अपनी सारी भगवत्ताको भूलकर उसके अधीन हो जाते हो। तुम ही यथार्थमें 'रस' हो, तुम ही रसके मूल स्रोत हो—सारा संसार तुम्हींसे रस प्राप्त करता है, तुम ही परम रसिक हो और रसोंके तत्त्वको जाननेवाले हो; पर तुम ऐसे रसिक हो कि जहाँ भी कहीं दिव्य रस दिखायी दिया कि तुम्हें अपनी 'रस'-रूपताकी विस्मृति हो जाती है और तुम उस रसके आस्वादनके लिये लालायित हो उठते हो। तुम ही समस्त श्रेष्ठ गुणोंकी खान हो। गुणके ज्ञाता हो और तुम्हीं सबमें सदा सद्गुणोंका वितरण करते हो; पर जहाँ-कहीं दिव्य गुण देखते हो, वहाँ अपनेको उसपर न्योछावर कर देते हो। प्रेम-रस और गुणोंके स्वरूप तथा मूल स्रोत एवं भण्डार होनेपर भी तुम जो ऐसा करते हो, यह भी तुम्हारी—प्रेमाधीनता, रसस्वरूपता और गुणज्ञताका ही परिचय है। इसके अतिरिक्त, यदि कोई सब कुछ छोड़कर, तुम्हें लक्ष्य बनाकर परम श्रद्धाके साथ तुम्हारी ओर चलना आरम्भ कर देता है तो तुम ऐसे उदार हो कि तुरंत ही उसके सामने आकर खड़े हो जाते हो, उसे चलना ही नहीं पड़ता। जहाँ कुछ भी प्रेम-रस या गुण हो, वहाँ तुम्हारा ऐसा करना ठीक है, यह तुम्हारे हृदयकी विशालता और उदारता है; परंतु—

मैं तो नित्य प्रेम-कण-विरहित हूँ सर्वथा शुष्क रसहीन।
सद्गुण एक नहीं है मुझमें, दोषपूर्ण हूँ, दुर्गुण-पीन॥
पीठ दिये ही हूँ मैं रहती, सदा विमुख ही हूँ चलती।
इतनेपर भी कभी न मुझको अपनी नीच दशा खलती॥

मैं तो सदा ही, प्रेमकी बात तो दूर, प्रेमके एक कणसे भी पूर्णरूपसे रहित हूँ। रसकी तो चर्चा ही क्या, मेरा हृदय तो सर्वथा सूखा और नीरस है। इसी प्रकार मुझमें एक भी सद्गुण नामको भी नहीं है, वरं मै दोषोंसे भरी हूँ और दुर्गुणोंसे स्थूल हो रही हूँ। कभी तुम्हारे सम्मुख होती ही नहीं, सदा ही पीठ दिये रहती हूँ; यही नहीं, मैं तो सदा तुम्हारे विमुख ही चलती हूँ,—इतनेपर भी मेरी इस नीच दशापर मुझे जरा भी दुःख नहीं होता।

फिर तुम क्यों रीझे हो मुझपर ? क्यों देते हो इतना प्यार ?
क्यों पीछे-पीछे फिरते हो ? क्यों करते ममता-विस्तार ?
जाना, तुम अति ही भोले हो, या तुम हो अत्यन्त उदार !
निज स्वभाववश दोषोंमें भी देख रहे गुण नित्य अपार॥

फिर, पता नहीं, तुम किस बातको लेकर मुझपर रीझ रहे हो ! क्यों इतना प्रेम-दान कर रहे हो ! क्यों सदा मेरे पीछे-पीछे फिरते हो और क्यों सब ओरसे मेरे प्रति इतनी ममता फैला रहे हो ! मैं जान गयी, तुम एकदम भोले हो, अथवा तुम अत्यन्त उदार हो; बस, केवल उदार ही हो। इसी अपने स्वभावके वश होनेके कारण तुम दोषभरी मुझमें सदा अपार गुण ही देख रहे हो।

विना हेतु नित देते रहते हो तुम इतना प्रेम ममत्व।
यही जानकर मुझ अधमामें जाग उठा है यह विषमत्व॥
कर आरोप उसीका तुमपर देख रही तुममें वैषम्य।
पक्षपातवश करते मुझसे प्रेम, न जो सुधियोंको क्षम्य॥
इसीलिये मुझ गर्वीलीने तुमको मान लिया अपना।
तुमपर नित अधिकार मानती, जागूँ या देखूँ सपना॥
तुम ही मेरे प्राणनाथ हो, हो सर्वस्व, एक आधार।
अपने ही गुणसे जो मुझको सदा दे रहे इतना प्यार॥

इसीसे तुम बिना ही कारण नित्य-निरन्तर मुझको इतना प्रेम दे रहे हो और ममता बढ़ा रहे हो। तुम्हारी इस अकारण प्रीतिको देख-जानकर मुझ अधमाके मनमें यह एक विषमता उत्पन्न हो गयी और मैंने उसी विषमताका तुमपर आरोप करके यह मान लिया कि तुम मुझसे पक्षपात करते हो, इसीलिये मैं प्रेमके योग्य न होनेपर भी मेरे प्रति तुम जितना प्रेम करते हो, उतना दूसरोंके प्रति नहीं करते। यद्यपि तुम्हारे इस पक्षपातको बुद्धिमान् जन क्षमाके योग्य नहीं मानते। पर तुम्हारे इस पक्षपातपूर्ण प्रेमको देखकर मेरा गर्व बढ़ गया और मैंने तुमको अपनी वस्तु ही मान लिया। इसीसे चाहे जागूँ या सोती रहूँ, सदा तुमपर अपना यह अधिकार मानती हूँ कि तुम मेरे हो और सचमुच ही श्यामसुन्दर! तुम ही मेरे प्राणेश्वर हो, तुम ही मेरे सर्वस्व हो, तुम ही एकमात्र आधार हो। जो अपने ही गुणसे मुझ दोषपूर्णको सदा-सर्वदा इतना प्यार दे रहे हो।

श्रीराधाके इन पवित्र भावोंकी जय हो!

झाँकी ३०

एक दिन श्रीराधा-माधव एकान्तमें बैठे मधुर प्रेम चर्चा कर रहे थे। बात-ही-बातमें प्रियतम श्रीकृष्णने श्रीराधाके प्रति राधा-महत्त्व, प्रेम-तत्त्व, स्वरूप-तत्त्व और लीला-तत्त्वका वर्णन किया। उसी प्रसङ्गका यह एक बहुत छोटा-सा अंश है। श्रीकृष्णने कहा—

हे रसमणि मुकुटमणि राधे ! मञ्जुल सुस्मिति मधुर रसखान।
नित नूतन उत्कर्षशील शुचि महाभावरूपा द्युतिमान ॥

पल-पल, पद-पदपर जो करती सहज सदा मम सुख-सुविधान ।
नहीं लेश गुण-गौरवकी स्मृति, नहीं कहीं कुछ भी अभिमान ॥
स्थिति, गति, भाव, विचार, भंगिमा, इङ्गित, सकल अङ्ग-प्रत्यङ्ग ।
विविध विचित्र नित्य रस पूरित प्रेम-पयोनिधि मधुर तरङ्ग ॥

व्रजकी सभी रमणियाँ प्रेममयी हैं; उनकी वृत्ति नित्य-निरन्तर भगवान्‌के दिव्य चिदानन्दमय स्वरूपमें रमण करती है—इसी अर्थमें वे रमणी हैं, वे निजेन्द्रिय-सुख-वाञ्छासे सर्वथा रहित श्रीकृष्णकामिनी एवं श्रीकृष्णगतचित्ता हैं। उन समस्त व्रजरमणियोंमें हे राधे! तुम सबकी मुकुटमणि हो, तुम्हीं मूल प्रेमरस-समुद्रसे उन सबको प्रेमकी प्राप्ति होती है। तुम सदा मेरे सुखमें सुखी रहती हो। तुम मधुर रसकी खान हो। तुम ऐसी हो, जो पल-पलमें, पद-पदपर सहज स्वभावसे ही सदा मेरे ही सुखकी सुन्दर व्यवस्था करती रहती हो, इतना करके भी जिस सर्वसद्गुणमयीमें अपने गुण-गौरवकी स्मृतिका भी लेश नहीं है, न कहीं भी, कुछ भी जिसमें अभिमान है। जिसका संसारमें रहना, चलना, जिसके मनमें उठनेवाले भाव, आनेवाले विचार, चेहरेपर आनेवाली भङ्गिमाएँ तथा सब चेष्टाएँ, जिसके इशारे-संकेत और जिसके सारे अङ्ग-प्रत्यङ्ग तथा उनकी क्रिया नित्य मधुर रससे परिपूर्ण प्रेम-समुद्रकी विविध विचित्र मधुर तरङ्गें ही हैं। जो कुछ है तथा होता है—वह सभी विशुद्ध मधुर प्रेमसागरका उच्छ्वासमात्र है।

जिसका कनक-कमल-मुख होता परम प्रफुल्लित नित्य नवीन।
पा रवि-रश्मि-दृष्टि मम उज्ज्वल हृदय स्व-सुख-अभिलाषा-हीन ॥
मम जीवन-जीवन, मम मन-मन, नित मत्प्राण-प्राण, परिपूत ।
अविनाभाव भाव सत्ता सब क्रिया सहज ही एकीभूत ॥

मेरी दृष्टिरूपी सूर्य-किरणोंके सम्पातसे जिसका स्वर्ण-मुख-कमल नित्य नये-नये रूपमें परम प्रफुल्लित होता रहता है, जिसका हृदय स्वसुखकी अभिलाषासे रहित परम उज्ज्वल है, जो मेरे जीवनसे जीवित है या जिसका जीवन ही मेरा जीवन है, जो मेरे मनसे मनस्वी है अथवा जिसका मन ही मेरा मन है एवं जो मेरे प्राणोंसे प्राणवान् है या जिसके प्राण ही मेरे प्राण हैं, ऐसी जो जीवन मन-प्राणोंसे परम पवित्र है। जिसके बिना मेरा और मेरे बिना जिसका भाव या सत्ता ही नहीं है तथा जिसकी सारी क्रियाएँ सहज ही मेरी क्रियाके साथ एकमेक हैं।

मिली सदा रहती तुम मुझमें, मैं तुममें रहता नित युक्त।
प्रेम हेतु दो बने परस्पर रहते लीलामें अनुरक्त॥
दो के बिना, न हो पाता, यह लीला रस वितरण आस्वाद।
इसीलिये दो बन लीलारत रहते अमर्याद अविवाद॥

ऐसी जो तुम हो, वह हे राधा! सदा इस प्रकार मुझमें मिली रहती हो और मैं नित्य तुममें घुला रहता हूँ। प्रेमके लिये ही लीलासे दो बने हुए हमलोग परस्पर एक दूसरेमें अनुरागी रहते हैं। दोके बिना इस लीलारसका न वितरण हो सकता है और न आस्वादन ही। इसीलिये हम दो बने हुए सदा सारी मर्यादाओंको छोड़कर एक मन-जनमें निर्विवाद लीला करते रहते हैं।

श्रद्धायुक्त चित्तसे सावधानीसे इसमें श्रीराधा-हृदय, प्रेमतत्त्व, माधुर्य-सार और लीला-रसकी मधुर झाँकीके दर्शन हो सकते हैं।

झाँकी २१

श्यामसुन्दर अकस्मात् अन्तर्धान हो जाते हैं, उनका क्षणभरका अदर्शन श्रीराधाके चित्तमें असह्य और अदम्य वियोग-वेदना प्रकट कर देता है। उन्हें ऐसा लगता है मानो वियोगमें युगोंके युग बीत गये। वे अत्यन्त आर्त होकर पुकार उठती हैं—

प्राणप्राण हे ! प्राणनाथ हे ! प्राणप्रियतम ! हे प्राणेश !
परम रमण हे ! मधुर मधुरता, सुन्दर सुन्दरताके देश ! ॥
बिना तुम्हारे दर्शनके अब परमाकुल ये पीड़ित प्राण।
पाना सहज चाहते अब ही दुःसह विरहानलसे त्राण ॥
निकल भागनेको आतुर ये दर्शन हेतु त्याग तन-धाम।
सुन्दर सुन्दर कोटि कोटि शशिनिन्दक मुख-चन्द्रमा ललाम ॥
अङ्ग अङ्ग जल रहा तापसे मनमें भरा विषाद विमर्ष।
शीतल शान्त सुखी हो सकते नहीं बिना पाये संस्पर्श ॥
हरी भरी हिय-लता सुधा-सी सूखी—जली विरहके ताप।
दर्शन-स्पर्श-सुधा बरसाकर जीवनदान करो निष्पाप ॥
पल-पलमें मूर्छित होतीं, फिर करती जाग करुण क्रन्दन।
हा गोविन्द ! गोपिकावल्लभ ! गोपति ! प्रियतम नँदनन्दन ॥

हे मेरे प्राणोंके प्राण ! हे प्राणोंके नाथ ! प्राणप्रियतम ! हे मेरे प्राणेश्वर ! हे परम रमण ! हे मधुर माधुर्यके और सुन्दर सौन्दर्यके धाम ! तुम्हारे दर्शनके बिना अब ये वियोग-पीड़ित प्राण परम व्याकुल हो रहे हैं, ये इस दुःसह विरहज्वालासे इसी क्षण

सहज ही ग्रहण करना चाहते हैं। तुम्हारे दर्शनके लिये ये इस शरीरधामका त्याग करके तुरत निकल भागनेके लिये आतुर हो रहे हैं। ये तुम्हारे उस सुन्दरसे भी सुन्दर, करोड़ों-करोड़ों चन्द्रमाओंका मान हरण करनेवाले परम कान्ति मुखारविन्दका दर्शन करना चाहते हैं। मेरा एक-एक अङ्ग तुम्हारी वियोग-ज्वालासे जल रहा है और मनमें सम्पूर्ण विरह और असन्तोष भरा है। तुम्हारा स्पर्श प्राप्त किये बिना ये अङ्ग और मन कभी शीतल, शान्त और सुखी नहीं हो सकते। मेरी हरी-भरी अमृतमयी हृदयवेलि तुम्हारे विरहके तापसे सूख गयी—जल गयी है। अब हे [illegible]! अपने पवित्र दर्शन और स्पर्श-सुखके अमृतकी वर्षा करके इसे जीवनदान करो। हृदयको पुनः हरा-भरा कर दो।' यों विलाप-प्रलाप करती हुई वे परम-दुःखमें मूर्छित होती हैं और फिर क्षणभरमें सचेत होकर करुण-क्रन्दन करती पुकारने लगती हैं 'हा गोविन्द! हा गोपियोंके प्राणवल्लभ! हा मेरी तपन मिटानेवाली! हा प्रियतम नन्दनन्दन!'

एक बार यह गीत विरहाकुल सुन दहला सब उर-अंतर।
हो [illegible] उसी क्षण प्रियतम [illegible] पहुँचे व्याकुल होकर॥
उनकी मिलन-सुधा-धारा उस विरहानलमें बरसी भर।
अकस्मात् पलमें ही सब कुछ हरा [illegible] फिर लहराय॥
उदित हुए वे मन्मथ-मन्मथ लिये मधुर मुसकान-हास।
मुरली मधुर लिये कर, छाया सभी दिशि मोहन उल्लास॥

इस प्रकार जब प्रेमीके हृदयमें एकमात्र अनन्य तथा तीव्रतम विरहानल धधक उठता है, जब वह प्राणप्रियतमके दर्शन बिना क्षणभर भी प्राण [illegible] नहीं रह सकता, तब उसी क्षण प्रियतम

परम प्रेमास्पद स्वयं भगवान् भी उससे मिलनेके लिये व्याकुल होकर वहाँ प्रकट हो जाते हैं। अतः यहाँ भी उस विरहानलसे ही अपने-आप अकस्मात मधुर मिलनकी सुधाधारा प्रकट हो गयी। पलक मारते-मारते ही सारा रंग पलट गया और सारे भीषण ताप शान्त हो गये। वे मन्मथ-मन्मथ—मदनके भी मनको मथ डालनेवाले सौन्दर्य-माधुर्य-सागर श्रीश्यामसुन्दर वहाँ प्रकट हो गये। उनके मुखकमलपर मधुर मुसकान खिल रही थी, हाथोंमें वे मधुर मुरली धारण किये हुए थे। उनके उदय होते ही समस्त दिशाओंमें उल्लास छा गया।

(अभी-अभी श्रीराधाजी वियोगकी भयानक पीड़ासे दुखी थीं। विरहाग्निसे जल रही थीं। पर श्यामसुन्दरके अकस्मात् प्रकट होते ही उनकी विलक्षण स्थिति हो गयी।)

मिटी व्यथा, भूली स्मृति सारी, मानो था सतत संयोग।
मानो नित्य प्राप्त था प्रियका चिद्-रस-रूप दिव्य संभोग॥

सारी व्यथा मिट गयी। विषम वियोग-दुःखकी सारी याद भूल गयी। ऐसा लग रहा था मानो सदा ही निरन्तर संयोग ही था। मानो प्रियतम श्यामसुन्दरका चिन्मय रसरूप सम्भोग श्रीजीको नित्य प्राप्त ही था। (कभी वियोग हुआ ही नहीं था, श्रीराधाकी इस विलक्षण स्थितिको श्यामसुन्दरने बड़े चाव और भावसे देखा—)

गया न कहीं कभी था मैं, जा सकता कहीं न तुमको त्याग।
बोले प्रिय—मैं पान कर रहा था छिप तव रसमय अनुराग॥

और श्यामसुन्दरने कहा—'प्रिये! मैं तुमको त्यागकर न तो कभी कहीं गया ही था और न कहीं जा ही सकता हूँ। मैं तो

यहीं छिपा-छिपा तुम्हारे रसमय अनुरागामृतका रसपान कर रहा था।

श्यामसुन्दरकी यह बात सुनकर राधाजी जो पिछली स्मृतिको सर्वथा भूल ही गयी थीं, उनको लगा कि श्यामसुन्दर ठीक ही तो कह रहे हैं। वे श्यामसुन्दरकी बातका समर्थन करती हुई बोलीं—

कहा श्रीमतीने—'हाँ हाँ सच, तुम न गये थे मुझको छोड़।
जा सकते न कभी अपने ही बाँधे स्नेह बन्धनको तोड़॥

श्रीमती राधिकाजी बोलीं—'हाँ-हाँ, सच तो है, तुम मुझको छोड़कर कहीं नहीं गये थे और अपने ही बाँधे हुए स्नेहके बन्धनको तोड़कर कभी कहीं जा सकते भी नहीं। फिर जो कभी-कभी नहीं दीख पड़ते हो—सो, यह तो तुम्हारा खेल है।

लुका-छिपी लीलामें जब तुम हो जाते प्रिय! अन्तर्धान।
व्याकुलता तब मन नैनोंको स्वयं बता देते स्थान॥
जहाँ जहाँ जाते फिर मेरे नेत्र ढूँढ़ने तुमको श्याम।
जहाँ जहाँ जाता मन, पाते तुम्हें, छोड़कर सारे काम॥
वहीं वहीं तुम खड़े दीखते मोहन मधुर नचाते नैन।
बरबस हरते चित्त, सुधा से सुना सुनाकर मीठे बैन॥
मधुर मधुर मुसकाते, हृदय लगाते, कर मोहन भ्रूभङ्ग।
परम सुखद संस्पर्श प्राप्त कर होते धन्य सुखी सब अङ्ग॥
सदा साथ रहते तुम मेरे हो चाहे समीप या दूर।
आँखनमें भीतर-बाहर बस तुम छाये रहते भरपूर॥

'लुका-छिपी लीलामें प्रियतम! जब तुम अन्तर्धान हो जाते हो और तुम्हें न देखकर जब मैं व्याकुल हो उठती हूँ, तब मेरी व्याकुलताको देखकर तुम मेरे मनको तथा आँखोंको स्वयं ही अपना पता बता देते हो। इसीसे फिर जहाँ-जहाँ मेरे नेत्र हे श्यामसुन्दर!

तुम्हें ढूँढ़ते हुए जाते हैं और जहाँ-जहाँ मेरा मन तुम्हें प्राप्त करनेके लिये सारे दूसरे कार्योंको छोड़कर जाता है, वहीं-वहीं तुम हे मोहन ! अपने मधुर-मधुर नेत्रोंको नचाते हुए खड़े दीखते हो और अपने अमृतके सदृश मधुर वचन सुना-सुनाकर बलपूर्वक मेरा चित्त हरण कर लेते हो । फिर मधुर-मधुर मुसकाते हुए और अपनी मोहिनी भ्रूभङ्गिमाकी छटा दिखलाते हुए मुझे हृदयसे लगा लेते हो । उस समय मेरे सारे अङ्ग तुम्हारा परम सुखप्रद संस्पर्श प्राप्त कर धन्य और सुखी हो जाते हैं । श्यामसुन्दर ! समीप रहो या दूर—तुम रहते हो नित्य-निरन्तर मेरे साथ ही । मेरे जीवनमें बाहर-भीतर सर्वत्र सदा बस, पूर्णरूपसे तुम्हीं छाये रहते हो ।' यों कहते-कहते श्रीराधा आनन्दविभोर हो गयीं ।

> यों संयोग-सुख-सुधा-रस-सागरमें दोनों हुए निमग्न ।
> उदित प्रेम निर्मल भास्कर हो, मोह निशा कर देता भग्न ॥

यों संयोग-सुखके सुधारस-समुद्रमें श्रीराधा-माधव दोनों निमग्न हो गये । जहाँ इस प्रकार प्रेमका निर्मल (परम त्यागपूर्ण) सूर्य उदय होता है, वहाँ वह तुरंत ही अपने दिव्य प्रकाशसे सांसारिक इन्द्रिय-भोग-सुखकामनारूपी मोहरात्रिका सर्वथा भङ्ग कर डालता है ।

> प्रेमास्पद सुख-रूप त्यागमय प्रेमराज्यके ये दो तत्त्व ।
> 'मिलन-वियोग' नित्य रसवर्धक दोनों रखते परम महत्त्व ॥

प्रेमास्पदके सुखरूप परम त्यागमय इस प्रेमराज्यके—'मिलन' और 'वियोग' रूप ये दो तत्त्व हैं । ये नित्य-निरन्तर पवित्र प्रेमरसको बढ़ाते रहते हैं । इन दोनोंका ही प्रेमराज्यमें परम महत्त्व है ।



झाँकी ३२

बहुत दिनोंके बाद प्रियतम श्यामसुन्दर पधारे। राधाको अतुल अनुपम मिलन-सुख मिला। परस्पर वार्तालाप होने लगा। प्रियतम श्रीकृष्णके पूछनेपर राधाजीने बड़े ही मर्मस्पर्शी भावसे अपनी दशाका संकेतमें वर्णन किया और अपने मनकी गूढ़ अनन्य अभिलाषा प्रकट करती हुई वे बोलीं—

तुम बिनु जीवन जिय बन तृन सम मन मनमोहन ! बनवारी !।
जरत रहत नित हिय दावानल दुसह दहन [illegible] [illegible]॥
पै [illegible] सुख [illegible] तुमरौं [illegible] तब [illegible] सुधि प्यारी।
तब अति उज्ज्वल सो मन महँ सुख मिलन [illegible] [illegible] [illegible]॥
अगम विदेश उचित सदा तुम तो सुखके हित सुखकारी।
या दुख में ही नित [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] बलिहारी॥
सुख दुख [illegible] [illegible] [illegible] मन निज [illegible] [illegible] सुख [illegible]।
तुमको सुख ही है [illegible] सुख देवन [illegible] मनहारी!॥
या [illegible] नहिं [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] अभिलाषा [illegible]!।
त्रिभुवनमोहन, निजजनमोहन [illegible] ही सुख [illegible] [illegible]॥

मेरे जीवनधन ! हे वनविहारी ! तुम्हारे न रहनेपर तुम्हारे बिना मेरा एक-एक क्षण युगके समान बड़ा होकर बीतता है, हृदयमें नित्य-निरन्तर दावानल जलता रहता है, जिससे सारी देह दहकती रहती है; पर जब यह प्यारी स्मृति होती है कि इससे तुमको सुख होता है, तो तुरंत मेरे मनमें अत्यन्त सुखका उदय हो जाता है और मेरी सारी मर्म-पीड़ाओंके समूह मिट जाते हैं। प्रियतम ! तुम्हारे वियोगसे उत्पन्न होनेवाला मेरा यह दुःख, जो तुम्हारे लिये सुखका कारण है, धन्य है। इस दुःखपर मैं नित्य न्यौछावर हूँ, पल-पलपर बलिहारी जाती हूँ। यह मेरा दुःखरूप परम सुख युग-युगमें—जन्म-जन्ममें मुझ सदा रोती हुईको मिलता रहे। हे मन्मथके मनको हरण करनेवाले अनुपम सुन्दर ! तुम्हारा सुख ही एकमात्र मेरा सुख है। हे गिरिराजको धारण करके सबका दुःख हरण करनेवाले प्रियतम ! हे सारे कामनारूपी पापका हरण करनेवाले हरि ! मेरे अंदर इस एक अभिलाषाके अतिरिक्त अन्य कोई भी, कुछ भी अभिलाषा कभी भी जगे ही नहीं। मेरा बिछुड़ना-रोना और मिलना-हँसना सब केवल तुम्हारे सुखके लिये ही हो प्रियतम !

सुनि मृदु मधुर बचन प्यारीके पुलकित तन मुरलीधारी।
निज सुख हेतु त्याग लखि सखि कौ उमग्यो हिय रससुधिहारी॥
निकर्‌यौ दृग-द्वारनि मधु रस सो अमृत अनुत्तम बिस्तारी।
दोउ अति बिह्वल भये प्रेमबस उदई प्रीति रीति न्यारी॥

परम प्रियतम श्रीराधाके इन मृदु मधुर वचनोंको सुनकर मुरलीध्वनिसे सबको पुलकित करनेवाले मुरलीधरका शरीर पुलकित

हो गया। अपने सुखके लिये प्रिय सखी राधाका यह परम त्याग देखकर उनके हृदयमें सब कुछ सुख देनेवाला रस उमड़ आया और वह मधुर रस नेत्रद्वारोंसे निकलकर सर्वश्रेष्ठ सुधाका विस्तार करने लगा। श्रीराधा-माधव—दोनों प्रेमविवश हो गये। विशुद्ध प्रीतिकी विलक्षण रीतिका उदय हो गया।

रहे मौन कछु काल रसिक प्रभु तब रस-बानी उचारी।
मो पै प्रिये! बस्तु नहिं कोउ तुम्हरे रसकी अनुहारी॥
कैसें पै करि सुख पहुँचावौं तोय त्याग-रस-अवतारी।
जुग जुग को मैं रिनी, न मो पै नहिं रति रिन सोधनवारी॥

तदनन्तर रसिक प्रभु श्रीकृष्ण कुछ समयतक मौन रहे, फिर रसभरी वाणीका उच्चारण किया। बोले—'प्रिये! मेरे पास ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है, जो तुम्हारे रसकी समानता करनेवाली हो। हे त्यागके परम रसमें प्रमत्त रहनेवाली! मैं तुमको कैसे, क्या करके सुख पहुँचाऊँ! मैं तो तुम्हारा युग-युगका ऋणी हूँ। मेरे पास वह प्रीति ही नहीं है, जिससे तुम्हारा ऋण-शोध हो सके।'

सुनि प्रिय बचन परी चरननि मैं प्रेमातुर सरबस हारी।
लईं उठाय तुरत प्रियतम ने भरी नेह भरि अँकवारी॥

प्रियतम श्यामसुन्दरके इन वचनोंको सुनकर सर्वस्व हरण करनेवाले प्रेमसे आतुर होकर राधा माधवके चरणोंमें गिर पड़ीं। उन्हें पड़ी देखकर प्रियतमने उनको तुरत उठाकर स्नेहपूर्ण हृदयसे लगा लिया।

धन्य त्याग, धन्य प्रेम!



झाँकी ३३

एक दिन परम प्रियतम भगवान् श्यामसुन्दरने श्रीराधा जीके प्रति अपने और उनके स्वरूप-तत्त्वके तथा विशुद्ध प्रेमका विशद विवेचन किया। तब श्रीराधाजीने उसीकी व्याख्या करते हुए अपनी स्थिति बतलायी। वे बोलीं---

'काया' मैं न 'जीव' तुम हो नहिं; 'दाता' तुम न, नहीं मैं 'दीन'।
'प्रकृति' नहीं मैं 'पुरुष' नहीं तुम, 'माया' मैं न, 'ब्रह्म' तुम भी न ॥
नहीं 'नायिका' हूँ मैं, तुम भी नहिं यथार्थतः हो 'नायक'।
नहीं स्वरूपतः 'परकीया' मैं; नहीं 'जार' तुम सुखदायक ॥
नहीं 'स्वकीया' पतिव्रता मैं, नहीं 'विवाहित' तुम स्वामी।
मैं न तुम्हारी 'साध्य', नहीं तुम मेरे 'पथके अनुगामी' ॥

किंतु सभी वे सत्य, विमल, शुचि, मधु असमञ्जस-सम्बन्ध ।
जहँ न सुखि की कहीं कामना, जहाँ न कोई विविध बन्ध ॥

श्यामसुन्दर ! न तो मैं शरीर हूँ, न तुम जीव हो न तुम दाता हो, न मैं दीन हूँ; न मैं प्रकृति हूँ, न तुम पुरुष हो; न मैं माया हूँ, न तुम ब्रह्म हो; न मैं नायिका हूँ, न तो तुम वास्तवमें नायक हो; न मैं स्वच्छन्द परकीया हूँ, न तुम सुख देनेवाले जार पुरुष हो; न मैं स्वकीया पतिव्रता हूँ, न तुम मेरे विवाहित स्वामी हो; और न मैं तुम्हारी साध्य हूँ एवं न तुम मेरे मार्गका अनुगमन करनेवाले हो। ऐसा होनेपर भी, ये सभी सम्बन्धरहित सम्बन्ध वास्तवमें सत्य हैं, सनातन हैं, पवित्र हैं और बड़े मधुर हैं। इनमें न कहीं सुख लेनेकी कामना है, न इनमें कहीं कोई बन्धन ही है।

अनुपम अतुल अचिन्त्य अनिर्वचनीय सुखद-[illegible] भाव ।
अनुभव करते हैं हम, पर न कहा जाता रहस्यमय भाव ॥
अन्तर भेद-विवर्जित हम हैं नित निज-स्वरूप रस-रसिक निमग्न ।
नित [illegible] दोउ [illegible], नित्य [illegible] नित्य [illegible] ॥
वृन्दावन, ललित [illegible] वलित [illegible] ।
[illegible] नित नव, [illegible] ॥
मनमोहन, [illegible] अभिराम ।
[illegible] मधुर [illegible] ॥
नित नवल कालिंदी-कूल रस मधुर पान कर नित्य विहार ।
नित स्वच्छन्द [illegible] अपार ।
इतनेपर भी हो तुम मेरे नित्य परम प्राण-आराध्य ।
नित्य मिलित रहनेपर भी, तुम नित्य नवीन नित मेरे साध्य ॥
सदा तुम्हें तुमसे पाना नित्य पा रही तुम्हें अनन्त ।
पानेको, इस परम मधुरता न कहीं अवधि अन्त —

तुम्हारी और मेरी सत्ता अनुपम है, अतुलनीय है, अचिन्त्य है और अनिर्वचनीय है। हम दोनों उसका अनुभव करते हैं; पर उस रहस्यमय तत्त्वको बतला नहीं सकते। हम सभी भेदोंसे सदा रहित हैं और नित्य-निरन्तर अपने स्वरूप-रस-समुद्रमें निमग्न हैं। हमारा वह रस-समुद्र नित्य संयोग-वियोगरूपमय है। हम सदा पृथक् हैं और सदा ही जुड़े हुए हैं। यह वृन्दावन, यह ललित लीला-स्थली, यह कालिन्दी-सलिलकी कलित तरङ्गें, ये वृक्ष-लता, वनके विहंगम, विविध-विचित्र रंग-बिरंगी वनकी धातुएँ, यह मलय-समीर, यह शारदीय पूर्णिमाकी शुभ्र रजनी, ये सुधामयी सुन्दर किरणावली, यह मधुर सुधा-रसकी सरिता मुरली, ये परिकर सुन्दरी सखियाँ और मंजरियाँ, यह नित्य नवीन कमनीय केलि और यह परम मधुर नित्य नव रसमय नित्य विहार—सभी हमारे दिव्यतम स्वरूपगत लीलारसकी ही अपार अभिव्यक्ति है। हम स्वयं लीलामय ही इन सब लीलाओंके रूपमें प्रकट हैं।

इतनेपर भी—हे मेरे श्यामसुन्दर! तुम मेरे परम प्रियतम हो, प्राणोंके आराध्य हो। मुझसे तुम नित्य मिले रहते हो, तथापि तुम ही नित्य मेरे लक्ष्य हो, नित्य ही मेरे साध्य हो। तुम्हींको पाना है, तुम्हींसे पाना है और तुम अनन्तको मैं नित्य पा रही हूँ। नित्य प्राप्तको नित्य प्राप्त करनेकी मेरी इस परम साधनाका कभी अन्त आयेगा ही नहीं।

झाँकी ३४

भगवान् श्रीकृष्णका बलरामजीके साथ मथुरा जाना निश्चित हो गया है। फिर मधुर रसमय सारा वृन्दावन भावी वियोगके दारुण दावानलमें दग्ध हो रहा है। भगवान् श्रीकृष्णकी अभिन्न मूर्ति प्रेममयी श्रीराधाकी विचित्र दशा है। वे कभी तो श्रीकृष्णके साथ अपनी नित्य एकताका अनुभव करके दुःख भूल जाती हैं और कभी भावी विरहकी आगमें जल उठती हैं। श्रीकृष्ण उनसे बार-बार मिलकर उन्हें भाँति भाँतिसे समझाते हैं। इसी राधामाधव-वार्तालापका एक प्रसंग है। एकान्तमें नित्य-निकुञ्जेश्वरी श्रीवृषभानु-नन्दिनी श्रीस्वामिनी अन्यमनस्का राधा बैठी हैं। श्यामसुन्दर उनके

पास विराजित होकर उनकी पल-पलमें परिवर्तित होनेवाली भाव-लहरियोंका सतृष्ण निरीक्षण कर रहे हैं—कभी समझाते हैं, तो कभी स्वयं उन भाव-तरङ्गोंमें तरङ्गित होने लगते हैं। प्रसङ्ग यह है—

विषम बिछुड़नेकी वेलामें राधा हुई उदास।
अश्रुधार बह चली दृगोंसे, चला दीर्घ निश्वास॥
बोली करती करुणाक्रन्दन, 'मेरे प्राणाधार!।
निराधार ये प्राण रहेंगे, कैसे क्यों निस्सार?॥'

श्यामसुन्दरके मथुरा पधारनेसे जो विछोह होगा, उसका समय आ गया। वह समय राधाके लिये बड़ा ही विषम है। वे उदास हो रही हैं। उनकी आँखोंसे आँसुओंकी धारा बहने लगती है और लंबे-लंबे श्वास आने लगते हैं। वे अत्यन्त करुण-भावसे क्रन्दन करती हुई बोलीं—'मेरे प्राणोंके आधार! तुम्हारे चले जानेपर ये मेरे प्राण निराधार हो जायँगे; फिर ये कैसे बचे रहेंगे—और जीवनका सार जो तुम हो, उसके चले जानेपर रहेंगे भी क्यों?'

बदला भाव तुरंत, न जाने क्यों, पलभरमें अन्य।
बोली—'हम दोनों स्वरूपत अविरत नित्य अनन्य॥
रहे कहीं भी देह, छूटता नहीं कभी भी संग?
नित्य मिले रहते जीवनके सकल अंग-प्रत्यंग॥
हो पाता न कभी हम दोनोंका यथार्थ विच्छेद।
कर सकते न कभी, कैसे भी, देश-काल-तन भेद॥
बने तुम्हारे देह-प्राण-मन चरणयुगल मम प्राण!
हुआ तुम्हारे ही प्राणोंसे मेरा सब निर्माण॥
नित्य बसे रहते तुम मुझमें सहज मधुर आवास।
तुममें सहज हो रहा मेरा मीठा नित्य निवास॥

दूसरी भाव-तरङ्ग आयी, तुरत न जाने क्यों भाव बदल गया। पलभरमें ही दूसरा भाव आ गया। वे बोलीं—'प्यारे श्यामसुन्दर! हम दोनों तो स्वरूपतः नित्य निरन्तर अनन्य हैं, एक ही हैं। शरीर कहीं भी रहे, हम दोनोंका मन कभी छूटता ही नहीं। हम दोनोंके जीवनके—(केवल शरीरके नहीं—) समस्त क्रम-प्रवाह, समस्त भाव-विचार, परिस्थिति, अनुभूति तथा उनके परस्पर भेद आदि अपनी-अपनी [illegible]) मिले [illegible] रहते हैं। हम दोनोंका कभी अलग कभी वियोग हो ही नहीं सकता। देश-भेद, काल-भेद और शरीर-भेद—कभी किसी प्रकार भी हम दोनोंमें भेद उत्पन्न नहीं कर सकते। मेरे प्राण ही तुम्हारे शरीर-मन-प्राण और चाल-चलन बने हुए हैं और मेरा सब [illegible]। तुम मेरे प्राणोंके प्राण हो। (मैं तुम्हारे प्राण हूँ—तुममें प्राण हो।) [illegible] तुममें ही रहती हूँ।' ([illegible]) [illegible]—

[illegible]

वचन-सुधा अति मधुर पिलाकर तन लौटाया चेत।
हृदय लगाकर बोले प्रियतम माधव प्रेमनिकेत॥

'प्यारे श्यामसुन्दर! इस प्रकार हमारा नित्य मिलन है, पर जब कभी तनिक-सी भी बिछोहकी बात आ जाती है तो उसे सुनते ही उसी क्षण मेरे सारे अङ्ग जल उठते हैं।' इतना कहते ही व्याकुलता बढ़ गयी, फिर बुरा हाल हो गया! उनके तन और मनमें सर्वत्र (सर्वाङ्गोंमें) बड़ी विषम विकराल ज्वाला जल उठी। वे दाझी हुई बेलकी तरह (मूर्च्छित होकर) गिर पड़ीं। श्यामसुन्दरने तत्काल उन्हें उठाकर अपनी गोदमें ले लिया और अपने मधुर करकमलोंसे वे उनके मधुर केश-कलापको प्रसन्नतासे सहलाने लगे; फिर अपनी वचन-सुधा-धाराका पान कराया, जिससे उसी समय उनके शरीरमें चेतना लौट आयी। तब उनके प्रियतम प्रेमधाम श्रीमाधव उनको अपने हृदयसे लगाकर कहने लगे—

'प्रिये! मधुरतम है यह लीला-रस-वारिधिका रंग।
परम विचित्र तुम्हारे, इसमें उठती विविध तरंग॥
लीलारसके ही स्वरूप दो विप्रलंभ-संभोग।
नहीं वस्तुतः हुआ न होगा, हममें कभी वियोग॥
दुग्ध-धवलता, अग्नि दहनता, ज्यों रवि-रश्मि अभिन्न।
त्यों मैं तुम, तुम मैं; न करो तुम प्रिये! तनिक मन खिन्न॥
मथुरा रहूँ, तुलसिकावन या हो कोई-सा स्थान।
हम दोनोंके बीच न होगा कभी रंच व्यवधान॥
एक, बने दो खेल रहे हम नित्य अनादि अनन्त।
मधुर दिव्य रस-मत्त परस्पर नित्य निरतिशय रत॥

प्रिये राधिके ! यह जो कुछ (मथुरा जाना) आदि हो रहा है, सब तुम्हारे लीला-रस-समुद्रकी एक विचित्र तरंगें हैं । रस रस-सुधा-सागरमें विविध तरंगें उठती रहती हैं । तुम्हारे इस लीला-रसके ही दो स्वरूप हैं—वियोग और संयोग । वास्तवमें तो हम लोगोंमें न कभी वियोग हुआ है और न कभी होगा ही ! जैसे दूध और धवलता, अग्नि और उसकी दाहकता, सूर्य और उसकी किरण नित्य अभिन्न हैं, वैसे ही मैं तुम हूँ और तुम मैं हो (हम दोनों सदा एक ही हैं) । अतएव प्रियतमे ! तुम अपने मनको तनिक भी उदास मत करो । मैं मथुरा रहूँ, वृन्दावन रहूँ या किसी भी जगह रहूँ । हम दोनोंके बीचमें कभी नाममात्र भी पर्दा या पृथक्ता रहेगी ही नहीं । हम सदा एक रहते हुए ही, दो बने हुए नित्य रहे हैं । हम और हमारा यह खेल अनादि-अनन्त है ! इसीसे हम दोनों नित्य मधुर रसमें मत्त हुए नित्य-निरन्तर एक दूसरेमें अनुरक्त हैं ।

राधा हुईं प्रसन्न देखकर प्रियतम-वदन प्रसन्न ।
तत्सुख-सुखी सदा ही दोनों परम अभिन्न विभिन्न ॥

(प्रियतम श्यामसुन्दरका मुखकमल यह कहते-कहते खिल उठा ।) राधाने जब प्राणप्रियतमका मुख प्रसन्न देखा तो वे भी प्रसन्न हो गयीं । इस प्रकार वे दोनों सदा ही अभिन्न तथा सदा ही भिन्न रहते हुए एक दूसरेके सुखमें सुखी रहते हैं ।

राधा और श्याम वास्तवमें एक स्वरूप सच्चिदानन्द-भगवान्‌के प्रेमीरूप रूप हो !

—

झाँकी ३५

बहुत दिन बीत गये। राधाको श्रीश्यामसुन्दरके दर्शन नहीं हुए। सँदेशा भिजवानेपर भी उन्होंने कुछ संतोषप्रद उत्तर नहीं दिया। उपेक्षा-सी ही दिखती थी। श्रीराधाकी मुखाकृति उदास रहने लगी। उनके नेत्रोंसे सदा अश्रुधारा बहती रहती, वे नित्य व्याकुल रहतीं। सखियोंने समझा, 'श्यामसुन्दरका उपेक्षापूर्ण निष्ठुर व्यवहार ही राधाके इस विषादका कारण है।' अतः वे एक दिन एकान्तमें श्रीराधाको समझाने लगीं। एक अतिप्रिय सखीने राधासे कहा—

उस कैतवके लिये कर रही क्यों तुम सखी! विलाप?
माया-ममता रहित, गूढ़तम जिसके कार्य-कलाप॥
निराकांक्ष, निर्भय, निज-निर्भर, निरवधि भाव-निमग्न।
परम स्वतन्त्र सदा जो सस्मित मुग्ध मुरली-संलग्न॥

नहीं किसीके मरने जीनेकी जिसको परवाह ।
अपने मनकी ही करनेकी जिसको [illegible] ॥
काम, कुटिल-प्रवृत्ति, कठोरी मति, कुटिल हृदय, निर्मोह ।
मोहित कर, हर मन धन सारा, देता विषम विछोह ॥
कुल उपजत मधुकर औ मेंढक [illegible] हेतु ।
गुण, [illegible] करना उनका स्वभाव [illegible] ॥
परम काम [illegible] रमन, उनका [illegible] विधान ।
[illegible] मरण-सुख, रसरंग, [illegible] अद-गान ॥
प्रेमरहित वह निठुर निरन्तर, नहीं [illegible] जोग ।
[illegible] ! इसे [illegible], क्यों करती दुख भोग ? ॥

प्यारी सखी राधा ! उस कुटिलके लिये तुम क्यों विकल हो रही हो ! जिसके न माता है न ममता है, जिसके सभी कार्य अद्भुत गुण (बहुत-से) होते हैं । (पता नहीं, वह कब क्या क्यों करता है), जिसे न कोई लज्जा होती है, न वह किसीसे डरता है, अपने भरोसे ही निडर रहता है । (किसीसे डरता नहीं [illegible],) जो रातदिन अपने मनमें ही डूबा रहता है । जो सदा काम [illegible] है, जिसको न किसीके जीनेकी परवा है, न मरनेकी । ये [illegible] मधुर गुनगुनाते [illegible] सदा [illegible] है [illegible] है । [illegible] है, जिसको देखा [illegible] ([illegible]) है, [illegible] है । जिसको [illegible] [illegible] है [illegible]

प्रदान करता है (मन हरण करनेके बाद फिर मिलता ही नहीं)। जो भ्रमरकी भाँति पुष्प-पुष्पपर नया-नया रस चखनेके लिये मँडराता रहता है, उसपर यह भरोसा करना कि वह वेद-मर्यादाकी रक्षा करेगा (अर्थात् प्रेम करनेवालेसे बदलेमें प्रेम करेगा) सर्वथा भूल है। जिसमें न कहीं आसक्ति है न प्रीति, ऐसे उस वल्लभका विश्वास करके तुम सरलहृदया रसमयी (बुरी तरह) ठगी गयी हो, इसीसे अब भय-त्रासके मारे रो रही हो। सखी! वह बड़ा ही निष्ठुर है, प्रेमरहित है, उसकी कहीं उपमा ही नहीं—ऐसा वह विश्वास भरोसेके योग्य नहीं है। तुम उसकी सारी आशाओंको छोड़कर उसे भूल जाओ। क्यों व्यर्थ दुःख-भोग करती हो?'

सखीके इन ममता-प्रीतिपूर्ण परंतु निष्ठुर वचनोंको सुनकर राधाको बड़ी मर्मवेदना हुई और वे रो-रोकर कहने लगीं—

सखि! सुखदान करो कह मोहन मनहरकी मधु बात।
प्रियतमकी निन्दा कर तुम मत करो हृदयपर घात॥
मेरे प्राणनाथ वे गुण-निधि, रस-निधि, परम उदार।
परम प्रेम-रस सुधा अमितके पावन पारावार॥
मेरे प्रति अति प्रीति विलक्षण चिर दिन नित्य नवीन।
रस-रहस्यमयि अन्तर्निहिता अनुपम अवधिविहीन॥
उन मेरे प्रिय प्रियतमके प्राणाभ्यन्तर रस-धार।
मधुर सुधामयि अन्तःसलिला-सी बह रही अपार॥
मैं उस परम पावनी अन्तर्मधुरा धारा बीच।
रहती नित्य निमग्न न छू पाता मुझको तट-कीच॥

प्रिय सखी! तुम मेरे मनहरणकारी मोहनकी मीठी बातें सुनाकर मुझे सुखदान करो, मेरे प्रियतमकी इस प्रकार निन्दा करके मेरे हृदयपर चोट मत करो। मेरे वे प्राणनाथ सद्गुणोंके समुद्र हैं, रस (प्रेम तथा आनन्द) के सागर हैं, वे परम उदार हैं। परम श्रेष्ठ अपरिमित प्रेम-सुधा रसके सबको पवित्र करनेवाले महासागर हैं। मेरे प्रति उनकी सदासे ही अत्यन्त विलक्षण प्रीति है, जो सदासे ही नित्य नया रूप धारण करती रहती है, वह प्रीति गूढ़तम रसमयी है, अन्तर्निवासिनी है, उपमा तथा सीमासे रहित है। उन मेरे प्रिय प्रियतमके प्राणोंके अंदर अन्तःसलिला फल्गुकी भाँति मधुर सुधामयी रसकी धारा अबाधरूपमें बह रही है। सखी! मैं उस परम पवित्रकारिणी अन्तर्मधुर रस धारामें सदा ही डूबी रहती हूँ। मुझे नदीके बाहरके किनारेका कीचड़ छू ही नहीं पाता। अर्थात् बाहर दीखनेवाला प्रेम तो नदीकी (देहेन्द्रिय-सुखमें ही सीमित) कीचड़के समान होता है, जो मनरूपी कपड़ेको मलिन ही करता है।

भलाई रहित तुम उनका देख न पायीं भाव।
कर बैठी संदेह, परम शुचि रसका समझ अभाव॥
समझ लिया तुमने, वे करते मुझको दुःखदान।
दोष छिद्र इससे ला-लाकर करने लगीं बखान॥
सखि! मैं कैसे तुम्हें बताऊँ, मैं ही सब सदोष।
प्रियमें बस, यह एक दोष है—वे नितान्त निर्दोष॥
सहते मेरे लिये नित्य वे विविध भाँति संताप—
कटु कुवाक्य, कुत्सा तदपि वे क्षुब्ध न होते आप॥

देते मुझे नित्य सुख अतुलित, बाहर रहते मौन।
सदा उपेक्षा-सी दिखलाते, मनकी जाने कौन?॥
रोती मैं न दुःखसे किंचित, नहीं मुझे भय-त्रास।
मेरे नयन-सलिलका प्रियतम मर्म समझते खास॥
सत्य प्रीतिवश ही तुम करती प्रियके अवगुण-गान।
चुभते किंतु हृदयमें आकर अति विष-बाण समान॥
एक तरफ दुस्सह प्रिय निन्दा, एक ओर तव प्यार।
सखी! क्षमा करना, न समझना इसे कहीं दुत्कार॥
पर जिनको तुम बता रही हो निन्द्य दोषमय काम॥
ऋषि-मुनि वाञ्छित वे सद्गुण हैं श्लाघ्य विशुद्ध ललाम॥

सखी! तुमको अन्तर्दृष्टि प्राप्त नहीं है (तुम केवल बाहरकी चीज ही देख पाती हो), इसीसे तुम उनके (उन मेरे प्राणनाथके भीतरके असली) भावोंको नहीं देख पायीं; इसीसे तुम यह संदेह कर बैठीं कि उनमें परम पवित्र रस (प्रेम) का अभाव है। इसीसे तुमने समझ लिया कि वे मुझको (राधाको) दुःख दिया करते हैं और इसीसे तुम उनके दोषोंको—छिद्रोंको (ढूँढ़-ढूँढ़कर) ला-लाकर मेरे सामने उनकी व्याख्या करने लगीं; सखी! मैं तुम्हें कैसे बतलाऊँ कि (वास्तवमें) सदा सर्वदा दोषोंसे भरी तो मैं ही हूँ। मेरे प्रियतममें तो बस, यही एक दोष है कि वे नितान्त निर्दोष हैं। (किसीमें सर्वथा दोष न होना भी एक दोष ही है—यही दोष श्यामसुन्दरमें है।) वे मेरे लिये सदा ही भाँति-भाँतिके संताप सहन करते रहते हैं—कितने कठोर वचन, कितनी कुत्सित वाणी और कितनी निन्दा उन्हें सुननी पड़ती है; इतनेपर भी वे स्वयं कभी क्षुब्ध नहीं होते। वे नित्य-निरन्तर मुझको अतुलनीय सुख देते

रहते हैं, परंतु बाहरसे मौन रहते हैं। सदा उपेक्षा-सी दिखलाते हैं; परंतु मनकी कौन जानता है। (वे कभी यह प्रकट नहीं करते कि वे मुझसे इतना प्रेम करते हैं और मुझे सुख देते-देते थकते ही नहीं; वरं यह दिखलाते हैं कि मानो प्रेम है ही नहीं। और यही प्रेमका स्वरूप भी है। प्रेम दिखलाया नहीं जाता, वह तो सहज स्वाभाविक होता है और परम मूल्यवान् धनकी भाँति हृदयकोषमें ही सुरक्षित रहता है) सखी! मैं न तो किञ्चित् भी दुःखसे रोती हूँ, न मुझे कहीं कोई भय-त्रास ही है; मेरे इन नेत्रोंसे बहनेवाली जलधाराके गूढ़ रहस्यको एक मेरे प्रियतम ही समझते हैं। सखी! यह सच है कि तुम्हारी मुझमें प्रीति है, इसीसे (मुझे सुखी बनानेके लिये ही) तुम उन मेरे प्रियतमके अवगुणोंका गान करती हो; परंतु तुम्हारे ये वचन मेरे हृदयमें आकर उसमें विष-बाणोंके समान चुभ जाते हैं। सखी! एक तरफ तो प्रियतमकी निन्दा मेरे लिये असह्य है, दूसरी ओर मेरे प्रति तुम्हारा जो सच्चा प्रेम है, उसका संकोच है। तुम मुझे क्षमा करना। (मैं जो इतनी कह गयी, इससे) यह कभी मत समझना कि मैं तुम्हें दुत्कार रही हूँ (तुम्हारे प्रेमका तिरस्कार कर रही हूँ) परंतु (यह समझ लो कि) तुम उनके जिन कार्योंको निन्दाके योग्य तथा दोषमय बतला रही हो (वे दोष नहीं हैं, किंतु) ऋषि-मुनियोंके द्वारा वाञ्छित विशुद्ध परम सुन्दर प्रशंसाके योग्य सद्गुण हैं।

देते मुझे नित्य सुख अतुलित, बाहर रहते मौन ।
सदा उपेक्षा-सी दिखलाते, मनकी जाने कौन ? ॥
रोती मैं न दुःखसे किंचित, नहीं मुझे भय-त्रास ।
मेरे नयन-सलिलका प्रियतम मर्म समझते खास ॥
सत्य प्रीतिवश ही तुम करती प्रियके अवगुण-गान ।
चुभते किंतु हृदयमें आकर अति विष-बाण समान ॥
एक तरफ दुस्सह प्रिय निन्दा, एक ओर नव प्यार ।
सखी ! क्षमा करना, न समझना इसे कहीं दुत्कार ॥
पर जिनको तुम बता रही हो निन्द्य दोषमय काम ॥
ऋषि-मुनि वाञ्छित वे सद्गुण हैं श्लाघ्य विशुद्ध ललाम ॥

सखी ! तुमको अन्तर्दृष्टि प्राप्त नहीं है (तुम केवल बाहरकी चीज ही देख पाती हो), इसीसे तुम उनके (उन मेरे प्राणनाथके भीतरके असली) भावोंको नहीं देख पायीं; इसीसे तुम यह संदेह कर बैठी कि उनमें परम पवित्र रस (प्रेम) का अभाव है । इसीसे तुमने समझ लिया कि वे मुझको (राधाको) दुःख दिया करते हैं और इसीसे तुम उनके दोषोंको—छिद्रोंको (ढूँढ़-ढूँढ़कर) ला-लाकर मेरे सामने उनकी व्याख्या करने लगीं; सखी ! मैं तुम्हें कैसे बतलाऊँ कि (वास्तवमें) सदा सर्वदा दोषोंसे भरी तो मैं ही हूँ । मेरे प्रियतममें तो बस, यही एक दोष है कि वे नितान्त निर्दोष हैं । (किसीमें सर्वथा दोष न होना भी एक दोष ही है—यही दोष श्यामसुन्दरमें है ।) वे मेरे लिये सदा ही भाँति-भाँतिके संताप सहन करते रहते हैं—कितने कठोर वचन, कितनी कुत्सित वाणी और कितनी निन्दा उन्हें सुननी पड़ती है; इतनेपर भी वे स्वयं कभी क्षुब्ध नहीं होते । वे नित्य-निरन्तर मुझको अतुलनीय सुख देते

रहते हैं, परंतु बाहरसे मौन रहते हैं। सदा उपेक्षा-सी दिखलाते हैं; परंतु मनकी कौन जानता है। (वे कभी यह प्रकट नहीं करते कि वे मुझसे इतना प्रेम करते हैं और मुझे सुख देते-देते थकते ही नहीं; वरं यह दिखलाते हैं कि मानो प्रेम है ही नहीं। और यही प्रेमका स्वरूप भी है। प्रेम दिखलाया नहीं जाता, वह तो सहज स्वाभाविक होता है और परम मूल्यवान् धनकी भाँति हृदय-कोषमें ही सुरक्षित रहता है) सखी! मैं न तो किंचित भी दुःखसे रोती हूँ, न मुझे यहाँ कोई भय-त्रास ही है; मेरे इन नेत्रोंसे बहनेवाली जलधाराके गूढ़ रहस्यको एक मेरे प्रियतम ही समझते हैं। सखी! यह सच है कि तुम्हारी मुझमें प्रीति है, इसीसे (मुझे सुखी बनानेके लिये ही) तुम उन मेरे प्रियतमके अवगुणोंका गान करती हो; परंतु तुम्हारे ये वचन मेरे हृदयमें आकर उसमें तीर-बाणोंके समान चुभ जाते हैं। सखी! एक तरफ तो प्रियतमकी निन्दा मेरे लिये असह्य है; दूसरी ओर मेरे प्रति तुम्हारा जो सच्चा प्रेम है, उसका संकोच है। तुम मुझे क्षमा करना। (मैं जो इतनी बात कही, इससे) यह कभी मत समझना कि मैं तुम्हें दुत्कार रही हूँ (तुम्हारे प्रेमका तिरस्कार कर रही हूँ) परंतु (यह समझ लो कि) तुम उनके जिन कार्योंको निन्दाके योग्य तथा दोषमय बतला रही हो (वे दोष नहीं हैं, किंतु) ऋषि-मुनियोंके द्वारा वाञ्छित विशुद्ध परम सुन्दर प्रशंसाके योग्य सद्गुण हैं।



झाँकी ३६

(१)

चली स्याम-गत-चित्ता ग्वालिन धर सिर दधि पूरन मटकी ।
चिंतत स्याम पुकारत स्यामहि, पहुँची बन इकंत, भटकी ॥
मधुर विकलता गोपी-मन की, स्याम-चित्त में जा खटकी ॥
प्रगटे तुरत. मधुर गोपी-मुख-पद्म दृष्टि-भ्रमरी अटकी ॥
निरखि स्याम सन्मुख सहसा मन छयौ अमित अचरज आनंद ।
देखि रही अपलक, अचरज-अंगुरि धर चिबुक, बदन सुखकंद ॥
रसमय स्याम लेन हिय-रस दधि भरयौ, लगे लड़न स्वच्छंद ।
छलक्यौ दधि उत, इत मन-रस-निधि छलक्यौ, चली तोरि सब बंद ॥

एक प्रेममयी गोपी जिसका चित्त प्रियतम श्यामसुन्दरके पास ही जाकर बस गया था, दहीसे भरी मटकी सिरपर रखकर घरसे निकली । उसका चित्त एकमात्र श्यामसुन्दरके चिन्तनमें लगा था और उसकी वाणीसे भी निरन्तर 'प्यारे श्यामसुन्दर, जीवनधन श्यामसुन्दर' की मधुर ध्वनि अनवरत हो रही थी । इस प्रकार श्यामसुन्दरमें ही स्थित गोपी भटकती हुई एकान्त वनमें जा पहुँची । गोपीका मन श्याम-विरहकी मधुर व्याकुलतासे भरा था, गोपी-मनकी इस व्याकुलताने तुरंत श्यामसुन्दरके मनमें पहुँचकर वहाँ पीड़ा उत्पन्न कर दी । श्यामसुन्दर, जो छिपे-छिपे गोपी-प्रेमके पावन

दिव्य सुधारसका पान कर रहे थे, तुरंत प्रकट हो गये और उनकी दृष्टि-मधुकरी गोपीके मुख-कमल-मकरन्दका पान करनेमें संलग्न हो गयी।

यों प्रियतम श्यामसुन्दरको सहसा अपने सामने देखकर गोपीके मनमें अपरिमित आश्चर्य और अपार आनन्द छा गया। आश्चर्यसे उसकी तर्जनी अंगुली चिबुकपर जा टिकी और वह निर्निमेष नेत्रोंसे प्रियतमके आनन्दकन्द मुखारविन्दको देखती ही रह गयी। श्यामसुन्दर रसस्वरूप होनेपर भी गोपी-हृदयके प्रेमरसके लिये सदा लालायित रहते हैं, अतएव गोपी-हृदयका जो दिव्य प्रेमरस स्थूल दधिमें भर गया था, उसे स्वच्छन्द लूटनेके लिये उन्होंने हाथ बढ़ाया। मटकीके हाथका स्पर्श होते ही मटकीका प्रेमरसपूर्ण दधि छलका, इधर रसका समुद्र मन भी छलक उठा और वह सब बन्धनोंको तोड़कर बह चला।

(२)

ग्वालिनी भूली तन धन धाम।
घूमी फिरत बावरी इत-उत निरखत मोहन छबि अभिराम॥
डोलत सर-सरितातट, कानन कुंज सदा एकाकिनि बाम।
जहँ दृग जाय तहाँ तित दीखत मोहन प्रियतम-बदन ललाम॥
एक दिना भटकत इकन बन, रहि गइँ नव दिसि सुधि ठाम।
अचक नैन मुँद भइ, ठाढ़ी निरखत छबि मनमोहन स्याम॥
देस काल सब भये कृष्णमय, रहे कृष्णघन नाम तमाम।
धन्य ग्वालिनी, जके दृग-पंकज बन मधुप बसे घनस्याम॥

एक श्याममयी गोपी नित्य-निरन्तर सर्वत्र श्यामसुन्दरको

झाँकी २६

(१)

चली स्याम-गत-चित्ता ग्वालिन धर सिर दधि पूरन मटकी ।
चितत स्याम पुकारत स्यामहि, पहुँची वन इकंत, भटकी ॥
मधुर विकलता गोपी-मन की, स्याम-चित्त में जा खटकी ॥
प्रगटे तुरत मधुर गोपी-मुख-पद्म दृष्टि-भ्रमरी अटकी ॥
निरखि स्याम सन्मुख सहसा मन छयौ अमित अचरज आनंद ।
देखि रही अपलक, अचरज-अंगुरि धर चिबुक, बदन सुखकंद ॥
रसमय स्याम लैन हिय-रस दधि भरयौ, लगे लूटन स्वच्छंद ।
छलक्यौ दधि उत, इत मन-रस-निधि छलक्यौ, बह्यौ तोरि सब बंद ॥

एक प्रेममयी गोपी जिसका चित्त प्रियतम श्यामसुन्दरके पास ही जाकर बस गया था, दहीसे भरी मटकी सिरपर रखकर घरसे निकली। उसका चित्त एकमात्र श्यामसुन्दरके चिन्तनमें लगा था और उसकी वाणीसे भी निरन्तर 'प्यारे श्यामसुन्दर, जीवनधन श्यामसुन्दर' की मधुर ध्वनि अनवरत हो रही थी। इस प्रकार श्यामसुन्दरमें ही स्थित गोपी भटकती हुई एकान्त वनमें जा पहुँची। गोपीका मन श्याम-विरहकी मधुर व्याकुलतासे भरा था, गोपी-मनकी इस व्याकुलताने तुरंत श्यामसुन्दरके मनमें पहुँचकर वहाँ पी[ड़ा] उत्पन्न कर दी। श्यामसुन्दर, जो छिपे-छिपे गोपी-प्रेमके पात्र

दिव्य सुधारसका पान कर रहे थे, तुरंत प्रकट हो गये और उनकी दृष्टि-मधुकरी गोपीके मुख-कमल-मकरन्दका पान करनेमें संलग्न हो गयी।

यों प्रियतम श्यामसुन्दरको सहसा अपने सामने देखकर गोपीके मनमें अपरिमित आश्चर्य और अपार आनन्द छा गया। आश्चर्यसे उसकी तर्जनी अंगुली चिबुकपर जा टिकी और वह निर्निमेष नेत्रोंसे प्रियतमके आनन्दकन्द मुखारविन्दको देखती ही रह गयी। श्यामसुन्दर रसरूप होनेपर भी गोपी-हृदयके प्रेमरसके लिये सदा लालायित रहते हैं, अतएव गोपी-हृदयका जो दिव्य प्रेमरस स्थूल दधिमें भर गया था, उसे स्वच्छन्द लूटनेके लिये उन्होंने हाथ बढ़ाया। मटकीके हाथका स्पर्श होते ही मटकीका प्रेमरसपूर्ण दधि छलका, इधर रसका समुद्र मन भी छलक उठा और वह सब बन्धनोंको तोड़कर बह चला।

(२)

ग्वालिनी भूली तन मन धाम।
भूली फिरत बावरी इत-उत निरखत मोहन छवि अभिराम॥
डोलत सर-सरितातट, कानन कुंज सदा एकाकिनि बाम।
जहँ दृग जाय तहाँ नित दीखत मोहन प्रियतम-वदन ललाम॥
एक दिना भटकत इकंत बन, दृष्टि गई नभ दिसि सुठि ठाम।
अटके नैन मुग्ध भइ छकी निरखत छवि मनमोहन स्याम॥
देख कमल सब भये कृष्णमय, छये कृष्णघन तार तमाम।
धन्य ग्वालिनी, जाके दृग-पंकज बन मधुप बसे घनस्याम॥

एक श्याममयी गोपी नित्य-निरन्तर सर्वत्र केवल श्यामसुन्दरको

ही देखती। उसकी दृष्टिमें एकमात्र श्यामसुन्दर ही रह गये थे। वह श्याम-दर्शन-सुखमें पगली हुई ग्वालिनी तन-धन-भवन सबको भूलकर दर्शनानन्दमें फूली इधर-उधर डोलती रहती, उसे सर्वत्र ही प्रियतम श्यामसुन्दरकी परम सुन्दर मोहनी मूर्ति दिखायी देती। वह कभी सरोवरके तटपर जाती, कभी यमुना आदि नदियोंके; कभी एकान्त अरण्यमें पहुँच जाती तो कभी निकुञ्जमें, यों वह गोपी अकेली सदा घूमती रहती। उसकी आँखें जहाँ जातीं वहीं नित्य-निरन्तर उसे प्रियतम श्यामसुन्दरका ही ललित मुखकमल सुशोभित दिखायी पड़ता।

एक दिन वह भटकती हुई एकान्त वनमें पहुँच गयी। उसकी दृष्टि सुन्दर सुनील आकाशकी ओर गयी और वहीं उसे श्यामसुन्दर दिखायी दिये। वह खड़ी रह गयी मुग्ध होकर और निर्निमेष नेत्रोंसे मनमोहन श्यामसुन्दरकी मनोहर शोभा निरखने लगी। उसके लिये समग्र देश-काल श्रीकृष्णमय हो गये। तमाम तत्त्वोंपर कृष्णघन-तत्त्व छा गया। उस ग्वालिनीको धन्य है, जिसके नेत्रकमलोंमें इस प्रकार घनश्याम श्यामसुन्दर स्वयं मधुकर बनकर सदाके लिये बस गये।

यही मधुर गोपी-भाव है, जहां न तो दृष्टिमें प्रियतम श्रीश्याम-सुन्दरके अतिरिक्त अन्य कुछ रहता है, न स्मृतिमें, न क्रियामें और न अनुभवमें ही। इस दिव्य गोपीप्रेमकी विषयविमोहित विलास-विभ्रम-रत चित्तमें कल्पना भी सम्भव नहीं।



झाँकी ३७

बड़ी विलक्षण बात है। श्रीराधारानीको अपनेमें कोई रूप, गुण, शील, सौन्दर्य तो दीखता ही नहीं, सदा दोष ही दिखायी देते हैं। पर प्रियतम श्यामसुन्दरका प्रेम उनके प्रति इतना अधिक है और वह अनवरत उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाता है कि इन्हें अपनी ओर देखकर बड़ा संकोच होता है। वे श्यामसुन्दरके प्रेमका तिरस्कार भी नहीं कर सकतीं और अपनेमें दोष देखनेसे भी विरत नहीं होतीं। अतः एक दिन वे प्रियतम श्रीश्यामसुन्दरके चरणोंमें बैठकर कातर-प्रार्थना करती हैं—

मैं थी पहले मलिना दीना, हीना अब भी मैं हूँ वैसी।
बाहर-भीतर मेरी कुरूपता छायी जैसी की तैसी॥
मुझमें सुशीलता सुन्दरता सद्गुणता, शुचिता कब कैसी।
तुम जान रहे हो अन्तरकी, अन्तर्यामी! मैं हूँ जैसी॥

प्रियतम श्यामसुन्दर! मैं पहले जिस प्रकारकी मलिना (सौन्दर्य-माधुर्यसे हीन), दीना (गुण-शीलसे हीन) और हीना (प्रेम-धनसे हीन) थी, वैसी ही अब भी हूँ। (मुझमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ है।) मेरी बाहर-भीतरकी कुरूपता ज्यों-की-त्यों छायी हुई है। मुझमें कब कैसी सुशीलता थी? कब सुन्दर थी? कब मुझमें कैसे सद्गुण थे? मुझमें कब पवित्रता थी? हे अन्तर्यामी! मैं जैसी जो कुछ हूँ, तुम मेरे अ- सब जान ही रहे हो।

मैं यही चाहती रहती हूँ तुमसे न मिलूँ बस, भूल कभी।
दुख देनेवाली है मेरी बाह्याभ्यन्तरकी क्रिया सभी॥
तुम सुन्दर सहज सुहृद हो संतत सदय हृदय सब काल अभी।
सद्गुण पूरित दृग देख रहे सर्वत्र दिव्य गुणराशि तभी॥

प्रियतम! मैं तो सदा यही चाहती रहती हूँ कि मैं तुमसे कभी भूलकर भी न मिलूँ; क्योंकि मेरी बाहर-भीतरकी सभी क्रियाएँ दुःख देनेवाली ही हुआ करती हैं। तुम तन-मनसे सुन्दर हो, सहज सुहृद् हो, निरन्तर दयापूर्ण हृदय हो, सब कालमें और अभी भी। इसीलिये—तुम्हारे सद्गुणपूर्ण नेत्र मुझमें सर्वत्र गुणराशि ही देखते रहते हैं।

तुम सहज प्रेममय हो स्वभाव-वश करते हो बस, प्रेम सदा।
तुम मेरी त्रुटियोंको—दोषोंको अतः देख पाते न कदा॥
है नहीं दीखता तुम्हें कभी जो है मुझपर अवभार लदा।
देते देते थकते न कभी हो, दोष दीखते हैं न तदा॥

तुम सहज ही प्रेमस्वरूप हो, इसलिये बस, स्वभावसे ही सदा प्रेम करते हो (किसी गुणरूपकी अपेक्षासे नहीं)। अतएव तुम मेरी त्रुटियोंको—मेरे दोषोंको कभी देख ही नहीं पाते हो। मुझपर जो (प्रेमहीनताका) पाप लदा है, वह तुम्हें कभी दीखता ही नहीं। तुम (अपना प्यार) देते-देते कभी थकते ही नहीं—अघाते ही नहीं और देते समय तुम्हें दोष दीखते नहीं।

तुम नहीं मानते हो, मैं हूँ निरुपाय, करूँ क्या मैं अबला?
तुम जो चाहो सो करो, तुम्हारी अमित शक्ति-मति है प्रबला॥
पर मेरी है विनीत विनती यह एक इसे कर दो सफला।
मैं रहूँ सदा गुण-मान-शून्य कोई निजकी जागे न कला॥

(इतनी दोषपूर्ण तथा प्रेमशून्य होनेपर भी) तुम (प्रेम दिये बिना) मानते ही नहीं। तब मैं अबला क्या करूँ, मैं निरुपाय हूँ। (मेरे पास कोई साधन नहीं, जिसके द्वारा मैं तुम्हें रोक सकूँ।) अतः तुम जो चाहो सो करो, तुम्हारी अपरिमित बुद्धि है, अपरिमित शक्ति है और वे बहुत ही बलवती हैं। परंतु तुमसे मेरी यह एक विनीत विनती है, इसे तुम पूरी कर दो। वह यह है कि मैं सदा गुणोंसे शून्य रहूँ और कभी मेरे अंदर अभिमान न उपजे तथा मेरी अपनी किसी भी 'कला' का कभी कोई उदय ही न हो।

तुम करो कराओ जो चाहो, मैं बनी रहूँ पुतली करकी।
जीना, मरना, हँसना, रोना, सब ही हो लीला नटवरकी॥
जागे न कदापि 'अहं' मुझमें सुधि हो न भयंकर-सुन्दरकी।
मैं रहूँ नाचती इच्छासे अपने जीवन-धन प्रियवरकी॥

मैं तुम्हारे हाथकी पुतली बनी रहूँ और तुम जो चाहो सो करते-कराते रहो। मेरा जीना-मरना, हँसना-रोना (मेरा न हो) सभी तुम नटवरकी ही लीला हो। मेरे अंदर कभी 'अहं' का उदय न हो और मुझे कभी भयंकर-सुन्दरका स्मरण ही न रहे। मैं तो (बस सदा) तुम अपने जीवनधन प्रियतमके इच्छानुसार नाचती ही रहूँ।

परमप्रेमस्वरूपा महाभावस्वरूपिणी साक्षात् ह्लादिनी शक्ति श्रीराधाजीके ये प्रेमोद्गार इस बातको बतलाते हैं कि प्रेममें कैसा दिव्य तथा सम्पूर्ण समर्पण, कितना विशुद्ध दैन्य, कितना त्याग और कितनी विनीत भावना होनी चाहिये।

मैं यही चाहती रहती हूँ तुमसे न मिलूँ बस, भूल कभी।
दुख देनेवाली हैं मेरी बाह्याभ्यन्तरकी क्रिया सभी॥
तुम सुन्दर सहज सुहृद हो संतत सदय हृदय सब काल अभी।
सद्गुण पूरित दृग देख रहे सर्वत्र दिव्य गुणराशि तभी॥

प्रियतम ! मैं तो सदा यही चाहती रहती हूँ कि मैं तुमसे कभी भूलकर भी न मिलूँ; क्योंकि मेरी बाहर-भीतरकी सभी क्रियाएँ दुःख देनेवाली ही हुआ करती हैं। तुम तन-मनसे सुन्दर हो, सहज सुहृद् हो, निरन्तर दयापूर्ण हृदय हो, सब कालमें और अभी भी। इसीलिये—तुम्हारे सद्गुणपूर्ण नेत्र मुझमें सर्वत्र गुणराशि ही देखते रहते हैं।

तुम सहज प्रेममय हो स्वभाव-वश करते हो बस, प्रेम सदा।
तुम मेरी त्रुटियोंको—दोषोंको अतः देख पाते न कदा॥
है नहीं दीखता तुम्हें कभी जो है मुझपर अघभार लदा।
देते देते थकते न कभी हो, दोष दीखते हैं न तदा॥

तुम सहज ही प्रेमस्वरूप हो, इसलिये बस, स्वभावसे ही सदा प्रेम करते हो (किसी गुणरूपकी अपेक्षासे नहीं)। अतएव तुम मेरी त्रुटियोंको—मेरे दोषोंको कभी देख ही नहीं पाते हो। मुझपर जो (प्रेमहीनताका) पाप लदा है, वह तुम्हें कभी दीखता ही नहीं। तुम (अपना प्यार) देते-देते कभी थकते ही नहीं—अघाते ही नहीं और देते समय तुम्हें दोष दीखते नहीं।

तुम नहीं मानते हो, मैं हूँ निरुपाय, करूँ क्या मैं अबला ?
तुम जो चाहो सो करो, तुम्हारी अमित शक्ति-मति हैं प्रबला॥
पर मेरी है विनीत विनती यह एक इसे कर दो सफला।
मैं रहूँ सदा गुण-मान-शून्य कोई निजकी जागे न कला॥

रहते हैं । हम दोनोंके दुःख-सुख अब बिल्कुल ही अलग नहीं रह गये हैं; ('मैं'-'तू'का, अपने-परायेका) सारा भेद-भाव शान्त हो गया है । इसीसे वे मेरे सुखके लिये—(उसीको अपना परम सुख अनुभव करते हुए) निरन्तर दिव्य (स्व-सुख-वाञ्छारहित तथा प्रेमास्पद-सुख-स्वरूप) प्रेमकी विजयपताका उड़ाते रहते हैं । वे स्वयं मेरे ही मनकी मूर्ति बन रहे हैं और (मुझे सुखी करनेके लिये) नित्य नयी-नयी स्फूर्तियाँ प्रकट करके मुझे विलक्षण—अलौकिक रसदान देते रहते हैं और स्वयं भी पवित्र रसका पान करते रहते हैं ।

अनोखी उनकी लीला सर्व । दूर कर सारे मिथ्या गर्व ॥
खींचती नित अपनी ही ओर । सदा रखती आनन्द बिभोर ॥
एक ही बने नित्य दो रूप । कर रहे लीला मधुर अनूप ॥

(सखी ! श्यामसुन्दरकी सभी लीलाएँ बड़ी विलक्षण हैं, उनकी लीला-माधुरी सारे (ज्ञानी, ऋषि, ज्ञानी, योगी, तपस्वी आदिके समस्त स्वाभिमान) मिथ्या गर्वको (अभिमानको) दूर करके नित्य-निरन्तर अपनी ही ओर खींचती रहती है और सदा ही दिव्य आनन्द-निमग्न बनाये रखती है । (वास्तवमें) हम दोनों नित्य एक ही हैं । पर नित्य ही दो रूप बने हुए मधुर अनुपम लीला कर रहे हैं ।

साधक, सिद्ध, भक्त, प्रेमी, ज्ञानी—सभीके लिये अपने-अपने भावानुसार सीखनेकी चीज है ।



उनके इच्छानुसार नाचनेके अतिरिक्त मेरी संसारमें कुछ भी पाने-करनेकी इच्छा ही नहीं रह गयी है।)

प्राप्तकर मैं अपूर्व आनन्द। अतीन्द्रिय निर्मलतम स्वच्छन्द॥
न कुछ भी भाता मुझको अन्य। अनुग मैं रहती नित्य अनन्य॥

इससे मुझे जो इन्द्रियातीत निर्मलतम स्वच्छन्द आनन्द (इन्द्रियोंके विषय-सम्बन्धसे मिलनेवाले बड़े-से-बड़े आनन्दसे सर्वथा परे दिव्य भगवदानन्द, जिसमें किसी भी कामना, वासना, निज-सुखेच्छाका मल बिल्कुल ही नहीं है, ऐसा पवित्रतम एवं किसी हेतुसे मिलनेवाला नहीं, स्वच्छन्दतासे मिलनेवाला आनन्द) प्राप्त कर लेनेपर अब मुझे अन्य कुछ भी अच्छा नहीं लगता, दूसरा कुछ भाता ही नहीं (दूसरा कुछ रह ही नहीं गया)। इसीलिये मैं भी सदा-सर्वदा अनन्य भावसे सहज ही उनके अनुगत रहती हूँ। (वे जिस प्रकार अपने इच्छानुसार नचाते हैं ठीक वैसे ही कठपुतलीकी भाँति नाचती हूँ। कहीं किसी अहंकार-अभिमानकी कल्पना ही नहीं रह गयी है।)

स्वयं भी रहते नहीं स्वतन्त्र। बने नित मेरे ही परतन्त्र॥
दुःख-सुख रहे न पृथक्-नितान्त। हो गया भेद-भाव सब शान्त॥
इसीसे मेरे सुखके हेतु। उड़ाते दिव्य प्रेमका केतु॥
स्वयं बन मेरे मनकी मूर्ति। प्रकट कर मधुर नित्य नव-स्फूर्ति॥
विलक्षण देते नित रस-दान। स्वयं भी करते शुचि रस-पान॥

(इस प्रेमकी मधुरतम, दिव्यतम लीलामें सर्वथा सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र रहते हुए ही) भगवान् स्वयं भी स्वतन्त्र नहीं रहते। वे सदा-सर्वदा मेरे ही (प्रेम-परवशताके दिव्य भावसे) परतन्त्र बने-

रहते हैं। हम दोनोंके दुःख-सुख अब बिल्कुल ही अलग नहीं रह गये हैं; ('मैं'-'तू'का, अपने-परायेका) सारा भेद-भाव शान्त हो गया है। इसीसे वे मेरे सुखके लिये—(उसीको अपना परम सुख अनुभव करते हुए) निरन्तर दिव्य (स्व-सुख-वाञ्छारहित तथा प्रेमास्पद-सुख-स्वरूप) प्रेमकी विजयपताका उड़ाते रहते हैं। वे स्वयं मेरे ही मनकी मूर्ति बन रहे हैं और (मुझे सुखी करनेके लिये) नित्य नयी-नयी स्फूर्तियाँ प्रकट करके मुझे विलक्षण—अलौकिक रसदान देते रहते हैं और स्वयं भी पवित्र रसका पान करते रहते हैं।

अनोखी उनकी लीला सर्व। दूर कर सारे मिथ्या गर्व॥
खींचती नित अपनी ही ओर। सदा रखती आनन्द विभोर॥
एक ही बने नित्य दो रूप। कर रहे लीला मधुर अनूप॥

(सखी! श्यामसुन्दरकी सभी लीलाएँ बड़ी विलक्षण हैं, उनकी लीला-माधुरी सारे (देवता, ऋषि, ज्ञानी, योगी, तपस्वी आदिके समस्त स्तर-गण) मिथ्या गर्वको (अभिमानको) दूर करके नित्य-निरन्तर अपनी ही ओर खींचती रहती है और सदा ही दिव्य आनन्द-निमग्न बनाये रखती है। (वास्तवमें) हम दोनों नित्य एक ही हैं। पर नित्य ही दो रूप बने हुए मधुर अनुपम लीला कर रहे हैं।

साधक, सिद्ध, भक्त, प्रेमी, ज्ञानी—सभीके लिये अपने-अपने भावानुसार सीखनेकी चीज है।



झाँकी २९

अनन्ताचिन्त्य-अनिर्वचनीय सद्गुणोंसे सम्पन्न, अतुलनीय रूप-सुषमा-सौन्दर्य-माधुर्य-ऐश्वर्यरूप प्रियतम भगवान् श्रीकृष्णका अपने प्रति अत्यन्त विलक्षण अनुराग देखकर और अपनेमें सब प्रकारसे गुणहीनता, दीनता, मलिनता तथा दोषपूर्णताका अनुभव कर एक दिन श्रीराधाजी एकान्त निकुञ्जमें बैठी विषाद कर रही थीं कि प्रियतम श्रीकृष्ण वहाँ जा पहुँचे और श्रीराधासे विषादका कारण पूछते हुए उनकी महिमाका गान करके अपनी सहज परमानुरक्ति प्रकट करने लगे। तब श्रीराधाके मनमें भगवान्‌के परम तत्त्व-स्वरूपका प्रकाश हो गया और उन्होंने अत्यन्त कातर तथा दीनभावसे पूछा—

अतुल रूप-सौन्दर्य तुम्हारा, अनुपम सर्वविलक्षण रूप।
अतुल परम ऐश्वर्यरूप तुम, तत्त्व-महत्त्व असीम अनूप॥
नहीं प्राप्त करना कुछ तुमको, है कर्तव्य नहीं कुछ शेष।
निज महिमामें तृप्त सर्वदा, नहीं कहीं अतृप्ति लवलेश॥
जीव मात्रके तुम्हीं आत्मा, करते सब तुममें हैं, प्रीति।
तुम्हीं सभीके एकमात्र हो, आश्रय, यही सनातन नीति॥
फिर तुम तुच्छ नगण्य दीनामें, क्यों इतने रहते आसक्त?।
क्यों निज महिमा भूल, बन रहे तुच्छ मलिनाके इतने भक्त?॥
दोषमयी मैं नित्य, नहीं कोई भी, मुझमें गुण निर्दोष।
क्यों तुम रीझ रहे हो मुझपर, देख न पावे कुछ भी दोष?॥

भगवन्! तुम्हारा रूप-सौन्दर्य तुलनासे रहित है, तुम्हारा रूप सबसे विलक्षण और उपमासे रहित है। तुम अतुलनीय परम ऐश्वर्य रूप हो, तुम्हारा तत्त्व और तुम्हारा महत्त्व सीमारहित और अनुपम है। तुम्हें न तो कुछ प्राप्त करना है और न तुम्हारे लिये कोई कर्तव्य ही शेष है। तुम सदा-सर्वदा अपनी महिमामें तृप्त हो, तुममें कहीं अतृप्तिका तनिक भी लेश नहीं है। तुम ही जीवमात्रके आत्मा हो और सभी तुममें प्रेम करते हैं। तुम्हीं सभीके एकमात्र आश्रय हो। यही सनातन नीति (मर्यादा) है। इतना होनेपर भी तुम मुझ नगण्य दीनाके प्रति क्यों इतने आसक्त रहते हो? क्यों अपनी महिमाको भूलकर मुझ मलिनाके इतने भक्त बन रहे हो? मैं तो सदा दोषमयी ही हूँ, मुझमें कोई भी ऐसा गुण नहीं है जो दोषरहित हो। फिर तुम क्यों मुझपर रीझ रहे हो जो कुछ भी दोष नहीं देख पाते? (बताओ—इस तुम्हारे मोहका क्या कारण है?)

श्रीराधाकी इस दैन्यमयी उक्तिको सुनकर श्रीकृष्ण प्रेम-गद्गद होकर बड़ी ही प्रीतिभरी, रसमयी और विनयपूर्ण वाणीमें बोले—

राधे ! क्यों मैं रीझा तुमपर, क्यों मैं तुममें हूँ आसक्त ।
आज बताता हूँ, रहस्य कुछ, क्यों मैं सदा तुम्हारा भक्त ॥
तुममें जो सौन्दर्य अतुल है निर्मल मधुर विचित्र अपार ।
वैसा कहीं न देखा मैंने, वर्धनशील सतत सुकुमार ॥
तनका भी सौन्दर्य तुम्हारा, सर्वविलक्षण परम अनूप ।
पर, मैं देख पा रहा, उत्तम परम तुम्हारा मानस रूप ॥
पावन मन है बना तुम्हारा, शुद्ध प्रेमका पारावार ।
नहीं कहीं कुछ मिश्रण उसमें, नहीं तनिक-सा कहीं विकार ॥
नहीं मलिन ममता, मैंपन कुछ, नहीं मोह, कुछ रागद्वेष ।
नहीं कहीं अभिमान तनिक निज सुख इच्छाका कहीं न लेश ॥
सर्व त्यागकर, मेरे सुखके लिये किया जो आत्मोत्सर्ग ।
नहीं कहीं भी तुलना उसकी सहज, विमलतम वर्जित वर्ग ॥
जग-जग भुक्ति-मुक्ति सबसे तुम, हृदय देशको खाली कर ।
रक्खा केवल शुद्ध हृदयमें, नित्य निरन्तर मुझको भर ॥
यह मानस-सौन्दर्य तुम्हारा, प्रकट नित्य अङ्ग-प्रत्यङ्ग ।
मुग्ध बनाता रहता मुझको, नवनव नित्य दिखाता रंग ॥

प्रियतमे राधिके ! मैं तुमपर क्यों रीझ रहा हूँ, क्यों तुम्हारे प्रति आसक्त हूँ और क्यों सदा तुम्हारा भक्त बना हूँ, इसका किंचित्-सा रहस्य आज बता रहा हूँ (वाणीके द्वारा पूरा रहस्य बताना तो सम्भव ही नहीं) । तुम्हारे अंदर जो निर्मल, मधुर और विलक्षण अपार सौन्दर्य है, उसकी कहीं भी किसीसे भी तुलना

नहीं हो सकती। मैने वैसा सौन्दर्य कहीं भी नहीं देखा। ऐसा यह तुम्हारा सौन्दर्य निरन्तर अपनी सुकुमारताको लिये ही बढ़ता रहता है। तुम्हारे शरीरका सौन्दर्य भी सबसे श्रेष्ठ, सबसे विलक्षण और उपमासे रहित है। परंतु मैं तो उससे भी परम श्रेष्ठ तुम्हारे मानस रूप-सौन्दर्यको देख पा रहा हूँ। तुम्हारा पवित्र करनेवाला यह मन विशुद्ध प्रेमका समुद्र बना लहरा रहा है। उसमें न तो (विशुद्ध प्रेमके अतिरिक्त) किसी दूसरी वस्तुकी कुछ भी मिलावट है, न उसमें तनिक-सा भी कहीं (काम-क्रोध-लोभादि) विकार ही है। न उसमें मेरी 'ममता' है, न 'मैं' पन है, न कुछ भी मोह है और न कहीं कुछ राग-द्वेष ही है। उसमें न कहीं तनिक-सा भी अभिमान है और निजसुखकी इच्छाका तो कहीं लेश भी नहीं है। तुमने सब कुछ त्यागकर मेरे सुखके लिये जो सहज ही आत्मोत्सर्ग कर दिया है, वह निर्मलता भी निर्मल है, उसमें कहीं किसी धर्मकी कल्पना नहीं है। उसकी कहीं भी कोई तुलना नहीं है। तुमने समस्त जग-जालको, भोग-मोक्षको—सबको अपने हृदयदेशसे निकाल दिया है और हृदयको बिल्कुल खाली करके (उन सब-संस्कारशून्य) विशुद्ध हृदयमें नित्य-निरन्तर केवल मुझको बसाकर मुझसे ही भर रखा है। तुम्हारा यह मानस रूपसौन्दर्य तुम्हारे अङ्ग-प्रत्यङ्गमें नित्य प्रकट हो रहा है और नित्य नये-नये रंग दिखलाकर मुझे मुग्ध बनाता रहता है।

है कर्तव्य नहीं कुछ मुझको, नहीं कहीं कुछ पाना शेष।
साध्य, तुम्हारी किंतु रूपगुणमाधुरी मैं नित्य रहा अशेष॥

सत्य सभीका आत्मा हूँ मैं, करते हैं सब मुझमें प्रेम ।
किंतु, 'अहं'से भरे, चाहते सभी 'अहं'का 'योगक्षेम' ॥
अतुल गुणवती रूपवती तुम, अनुपम पावन रससे पीन ।
रहती अहंकारसे विरहित नित्य मानती निजको दीन ॥
तुम फिर जो यह नहीं जानती अपने शुद्ध सत्वका तत्त्व ।
मानरहित नित भूली रहती अपना उपमारहित महत्त्व ॥

"राधे ! यह सत्य है कि मेरे लिये कुछ भी कर्त्तव्य नहीं है और न मुझको कहीं कुछ प्राप्त करना ही शेष है । परंतु तुम्हारी रूप-शोभासे मैं सदा ही खिंच रहा हूँ, यह खिंचावट कभी पूरी होती ही नहीं । यह भी सत्य है कि मैं सभीका आत्मा हूँ और सभी मुझमें प्रेम करते हैं, परंतु उन सभीमें 'अहं' भरा है और वे सभी सदा अपने उस 'अहं'का ही 'योगक्षेम' चाहते रहते हैं । इधर, तुम अतुलनीय गुणवती और सौन्दर्यमयी हो और उपमारहित पवित्र करनेवाले रससे प्रवृद्ध हो; तथापि अहंकारसे रहित बनी नित्य-निरन्तर अपनेको दीन समझती हो । (इतना ही नहीं,) तुम्हें जो अपने इस शुद्ध-सत्वके तत्वका भी ज्ञान नहीं है । तुम नित्य-निरन्तर मानसे रहित रहकर अपने उपमारहित महत्त्वको भूली रहती हो ।

इसमें पल-पल और निखरता पावन रूप तुम्हारा सत्य ।
पल-पल मुझे खींचता रहता, यह नव-नव आकर्षण नित्य ॥
ललचाता रहता मेरा मन, करनेको इस रसका पान ।
शुचितम, परम सुधाकर, सुन्दर, मधुर-मधुर, अति दिव्य, महान ॥
इसीलिये मैं रहता करता नित्य प्रलुब्ध रसास्वादन ।
मेरी आत्माकी तुम आत्मा, मेरी एक साध्य-साधन ॥

रहता बसा, तुम्हारे मन-मन्दिरमें, सन्निधिमें दिन-रैन।
इसी हेतु, मैं तुम्हें छोड़कर पलक नहीं पा सकता चैन॥
विवश, प्रेमवश हूँ, मैं तुमपर नहीं कहीं कुछ भी एहसान।
सहन नहीं कर सकता मैं हूँ, कैसा भी क्षणिक व्यवधान॥

"राधिके ! इससे तुम्हारा यह पवित्र करनेवाला सदा रूप-सौन्दर्य पल-पलमें और भी निखरता रहता है और इसी रूपका नित्य नया-नया आकर्षण मुझे पल-पलमें खींचता रहता है। मेरा मन तुम्हारे इस परम पवित्र, परम सुगन्धी पान, सुन्दर मधुर-से-मधुर अत्यन्त महान् दिव्य रसका पान करनेके लिये ललचाता ही रहता है, इसीलिये मैं नित्य प्रलुब्ध रहता हूँ। (मेरा लोभ कभी पूरा होता ही नहीं) और नित्य इस रसका आस्वादन करता रहता हूँ। तुम्हीं मेरी आत्माकी आत्मा हो और तुम्हीं एकमात्र मेरी साध्य और (तुम्हीं एकमात्र) मेरी साधना हो। इसीसे मैं तुम्हारे मन-मन्दिरमें, तुम्हारे तनके समीप दिन-रात बसा रहता हूँ। तुम्हें छोड़कर पलभर भी मैं सुखसे नहीं रह सकता। मैं विवश हूँ, तुम्हारे प्रेमके वश हूँ। (इसीसे ऐसा करता हूँ।) तुमपर मेरा कहीं कुछ भी एहसान नहीं है। इसमें क्षणभरके लिये भी, कैसे भी, कुछ भी व्यवधान मैं सहन ही नहीं कर सकता।"

श्रीराधाका रूप-सौन्दर्य क्या है और उनके प्रति श्रीकृष्ण क्यों इतने आसक्त हैं ! इसका किंचित् संकेत है उपर्युक्त शब्दोंमें। इसे समझकर राधा-माधवके पवित्रतम मधुर आदर्शकी कल्पना कीजिये।



झाँकी ४०

एक समय श्रीराधाकी परम त्यागमयी प्रीति, उनका परमोच्च योगी-ज्ञानी-दुर्लभ भाव, उनकी प्रियतम-सुखमयी स्वरूपस्थिति, उनकी अलौकिक रूप-शील-सौन्दर्य-माधुर्य-गुण-गरिमा, उनकी नित्य नव-उल्लासमयी नित्य नववेगमयी महाभाव-प्रेम-सुधा-सरिता, उनका सहज सुन्दर निरतिशय अचिन्त्यानन्त दिव्य-गुण रूप-माधुर्यसमन्वित लोकोत्तर विनम्र भाव, उनका सहज स्वाभाविक विशुद्ध सत्त्वमय दैन्य और उनकी विचित्र भावमयी सर्वाकर्षक-कर्षिणी लोकातीत चुम्बक-शक्तिको देख-देखकर अनन्त-ऐश्वर्य-निकेतन, अनन्त-गुणगण-स्वरूप अनन्तनिधि, रसामृत-सिन्धु, अचिन्त्यानन्तविरोधी-गुणधर्माश्रय, विश्वविमोहन ... स्वमहिमामें स्थित स्वमनमोहन श्यामसुन्दरने ... ण, रू... ील, व्यवहार—सभीमें हीनताका

! जान-अजान ।
विनु-परिमान ॥
अनेकन भाँति ।
अवगुन-पाँति ॥

'राधे ! मुझसे जान-अनजानमें अगणित भूलें हुई हैं। अब भी पद-पदपर और पल-पलमें इतनी भूलें होती रहती हैं, जिनका कोई माप-तौल नहीं है। मैंने तुमको अनेकों दुःख दिये हैं, अब भी देता ही रहता हूँ। मैं अपनी अवगुणावलियोंको देखकर भी नहीं देखता, उनका कभी परित्याग नहीं करता—

तुम-सी परम सती कहँ, पावन सतियन की सिरताज।
स्वसुख-वासनारहित, सुखाकर, जियत-मरत मम काज॥
कहँ मैं अज्ञ विशुद्ध-प्रीति-रस, नित अटपट गँवार।
कितव, नित्य नूतन रस-लोभी, लंपट, ढँगर, लबार॥
तुम्हरो प्रेम परम शुचि, पावन अति, अनन्य एकान्त।
जुग जुग हौं मन रम्यो, सब को, कोटि कामिनीकान्त॥
नहीं तुम्हारी मेरी राधे ! तुलना काहु प्रकार।
तुम उज्ज्वल प्रकाश-गुन-निधि, हौं कारो, निरगुन भार॥
तुम सौं करौं प्रीति जो कबहूँ सो अपने सुख-काम।
नहीं त्याग रंचक या मैं, नहिं निरमल प्रीति ललाम॥

'कहाँ तो सबको पवित्र करनेवाली सतियोंकी सिरमौर तुम-सरीखी परम सती, जो अपने सुखकी वासनासे रहित, (मेरे) सुखकी खान और मेरे लिये ही जीने-मरनेवाली, और कहाँ मैं विशुद्ध प्रीति-रससे अनभिज्ञ, सदा अटपट, मूर्ख, छलिया, नित्य नये रसका लोभी, लंपट, ढीठ और लबार (अनर्गल बोलनेवाला)! तुम्हारा अत्यन्त पवित्र करनेवाला पवित्र प्रेम अनन्य और एकान्त है और मैं युग-युगमें सबका मन रमानेवाला करोड़ों-करोड़ों कामिनियोंका कान्त हूँ। राधे ! किसी प्रकार भी (कहीं भी) तुम्हारे साथ मेरी तुलना

नहीं है। तुम उज्ज्वल प्रकाश और गुणोंकी निधि हो और मैं काला तथा पूरा गुणरहित हूँ। मैं जो तुमसे कभी प्रेम करता हूँ, वह स्वयं सुख पानेकी कामनासे ही। उसमें न तो रंचकभर त्याग ही है और न निर्मल सुन्दर प्रेम ही।

तदपि न चढ़यौ दोष एकहु मन, गुन करि जाने दोष।
बढ़त न रुकी, प्रेम-रस-सरिता अमित नित नये जोस॥
तुम्हरे विमल हृदय-रस कौ मैं करूँ नित्य अपमान।
तदपि बढ़त देखौं, मैं तुम्हरी पावन प्रीति अमान॥

इतनेपर भी तुम्हारे मनपर मेरा एक भी दोष नहीं चढ़ सका, वरं तुमने मेरे दोषोंको गुण समझा। तुम्हारी प्रेम-रसकी नदी नित्य नये अपार वेगसे बढ़ती ही रही, वह कभी नहीं रुकी। तुम्हारे निर्मल (स्व-सुख-काम-गन्ध-शून्य) हृदय-रसका मैं सदा अपमान ही करता रहता हूँ। इतनेपर भी तुम्हारे पवित्र करनेवाले प्रेमको सदा माप-तौलसे परे बढ़ता ही देखता हूँ।'

सर्व त्यागमय अति महान यह तुम्हरौ दुरलभ भाव!
तदपि दैन्य तें सन्यौ सहज नित, तनिक न मान-लगाव॥
भाव-सुधा-रस-वारिधि या कौ मिलै जु सीकर एक।
बनै धन्य मेरौ जीवन, तब रहै प्रेमकी टेक॥

'तुम्हारा यह सर्वत्यागमय 'महाभाव' अत्यन्त ही दुर्लभ है। तथापि यह सदा सहज ही दैन्यसे सना रहता है। इसमें तनिक भी अभिमानका सम्पर्क नहीं है। तुम्हारे इस महाभाव-सुधा-रस-समुद्रकी मुझे जो कहीं एक बूँद भी मिल जाय तो मेरा जीवन धन्य हो जायगा और तभी प्रेमकी टेक भी रह सकेगी। (अर्थात् मैं भी

तुम्हारी भाँति स्व-सुख-वासना-शून्य प्रेमको सीखकर प्रेमकी मर्यादाको सुरक्षित रख सकूँगा।)

'राधे! मैं कैसे तुम्हारे गुणगान करूँ, कैसे अपनेको समझाऊँ और कैसे तुम्हारे इस अनन्त ऋणका परिशोध करूँ? (नहीं-नहीं, इस ऋणका परिशोध नहीं हो सकता।) प्रियतमे! मैं सदा तुम्हारा ऋणी ही रहूँगा, सदा तुम्हारा सेवक ही रहूँगा। तुम तो सदा ही सीमा-रहित परम उदार हो। (देते-देते थकती ही नहीं, सदा देती ही रहोगी।) तुम्हारे इस स्वभावको धन्य है!'

श्रीराधा तो यह सुनते-सुनते ही विकल हो गयीं। वे स्वभावसे ही कभी अपनी प्रशंसा सुनना नहीं चाहतीं। उन्हें स्वभावसे ही अपनी मान-प्रतिष्ठा-प्रशंसा विष-सी लगती है। फिर इस क्षेत्रमें तो वे अपनेको सर्वथा दीन, मलिन, गुणहीन मानती हैं, वे प्रशंसा कैसे सुनें—फिर प्राणप्रियतम श्रीश्यामसुन्दरके मुखसे अपनी प्रशंसाके वाक्य सुनना तो उनके लिये असह्य हो गया।

सहम गई, लज्जित भई भारी, राधा सुनि प्रिय बैन।
धरती लगीं कुरेदन, धारा बही सलिल दोउ नैन॥
बानी रुकी, घट भये गद्गद बोली बचन सुछंद।
सालन लगी अमित उर अतर सहन नँद-नंद रस-कंद॥
अधम, निपट गुनहीन मलिन मन अवगुनको आगार।
विरहित निज सौन्दर्य रहित माधुर्य गुनाकार॥
ऐसी कहाँ नित्य गुन छिनके निज मुख की नित चाव।
सुनती ही प्रेमास्पद रहे मन पहा मम महाताप॥

वे राधाजी अपने प्रियतमके मुखसे ऐसे वचनोंको सुनते ही सहम गयीं, भारी लज्जासे भर गयीं, धरती कुरेदने लगीं और

उनके दोनों नेत्रोंसे अश्रुजलकी धारा बह चली ! उनकी वाणी रुक गयी, कण्ठ गद्गद हो गया, उनकी कञ्चन-काया काँप उठी और उनके हृदयके अंदर सहज ही दैन्यरसकी वर्षा होने लगी। (वे सोचने लगीं—) मैं नीच, गुणोंसे सर्वथा रहित, मलिन मनवाली और अवगुणोंकी भण्डार हूँ। मैं सदा-सर्वदा सौन्दर्यसे सर्वथा रहित, माधुर्यसे रहित, कुरूप-आकृति हूँ। मैं सदा उनसे अपना सुख ही लेती रही हूँ, सदा ही मुझे उनसे अपना सुख प्राप्त करनेका ही चाव लगा रहता है। मेरे मनने तो प्रेमका इतना ही अर्थ समझा है और यही मेरा 'महाभाव' है ।

बोलीं—अति धीरज धर राधा—'सुनो, जीवनाधार ।
हौं अति नीच मानकी भूखी मन अति तुच्छ विचार ॥
निकसे नहीं बिषम बानी सुन, या तें ये पवि-प्रान ।
बिदर्यौ नहीं हियौ कुलिसाधिक तुम तें लहि सम्मान ॥

(यों मनमें विचार करके फिर) राधाजी अत्यन्त धैर्य धारण करके बोलीं—'जीवनाधार ! सुनो, मैं अत्यन्त नीच, मानकी भूखी हूँ, मेरे मनमें बहुत ही ओछे विचार हैं। तभी तो (मेरी प्रशंसारूप) तुम्हारी यह कठोर वाणी सुनकर भी मेरे ये वज्र-सदृश प्राण नहीं निकले, तभी तो तुमसे ऐसा सम्मान पाकर मेरा यह वज्रसे भी अधिक कठोर हृदय विदीर्ण नहीं हो गया ।'

निस्चै ही प्रानेस्वर हौ तुम इतने अर्थ 'गँवार' ।
देख रहे जो मो-सी नीच अधम मैं गुन-संभार ॥
इसी भाँति तुम निस्चै ही हौ इतने अर्थ 'लबार' ।
जो गुन-रूप-हीन मेरे गुन गाते बारंबार ॥
निस्चै ही 'लंपट' हौ जो तुम करौ सबहिं सुख-दान ।
नित 'नव-रस-लोभी' तुम, तुम कूँ प्रेम-तत्त्वको ग्यान ॥

कितव, लँगर, साँचे तुम छल सब ठगत फिरत संसार।
सुखमय निज निरमल रस दै तुम लेते स्वयं उबार॥
कोटि कोटि हैं शक्ति-स्वरूपा प्यारिन की विस्तार।
मन हर, बने कांत तुम सबके प्रियतम एक उदार॥

(इतनेमें ही सर्वेश्वरी तत्त्वज्ञशिरोमणि श्रीराधाके मनमें भगवान्‌का तत्त्व-स्वरूप जाग उठा और वे स्नेह-सी मधुर वाणीमें बोलीं—) 'प्राणेश्वर! तुम निश्चय ही इस अर्थमें 'धूर्त' (गँवार) हो, जो मुझ-सरीखी नीच अधममें गुणसमूह देख रहे हो, और इसी प्रकार इस अर्थमें तुम निश्चय ही 'लबार' (अनर्गल बोलनेवाले) हो, जो मुझ गुण-रहितके बारंबार गुण गाते रहते हो। निश्चय ही तुम 'लंपट' भी हो (एकमें प्रीति न रखकर बहुतोंसे प्रीति करनेवाले हो।) क्योंकि तुम सभी प्रेमियोंको सुख प्रदान करते हो और तुम नित्य नये प्रेम-रसके लोभी भी हो; क्योंकि तुमको प्रेमतत्त्वका पूर्ण ज्ञान है, (सबमें पवित्र प्रेम-रसका विस्तार करके उसका आस्वादन किया करते हो।) तुम सचमुच छलिया और ठग भी हो; क्योंकि तुम (अपनी दिव्य-रूप-गुण-माधुरीसे) सबको छलकर उनके संसारको (संसारकी ममता-आसक्तिको ठग (कर छीन) लेते हो और स्वयं अपना सुखमय निर्मल रस देकर उन्हें (सुखमय संसारसे) उबार लेते हो। (यह भी सत्य है कि) तुम्हारी (अपनी ही) शक्तिस्वरूपा करोड़ों-करोड़ों प्रियाएँ (सब ओर) फैली हुई हैं, तुम उन सबका मन हरते हो और तुम एक ही उदार उन सभीके प्रियतम कान्त हो।

मो तें अधिक सकल सुंदर सुचि मधुर मंजु गुनधाम।
सहज समर्पित जीवन, अति गुनदर्पिनि परम ललाम॥

स्मृति, स्मृतिकर्ताके अभावमें उपजा मनमें भाव नवीन।
विस्मय परम हुआ जब दीखा, खाली हृदय सहज स्वाधीन॥

एक वार वे अपने परम प्रियतम श्यामसुन्दरकी स्मृतिमें अत्यन्त तल्लीन हो गयीं। वे अपनी सारी सुध-बुध भी भूल गयीं, स्वयं 'श्रीकृष्णस्मृति' रूपमें ही परिणत हो गयीं। वे श्यामसुन्दर हैं, मैं राधा हूँ, मुझे श्यामसुन्दरकी स्मृति हो रही है, इस त्रिपुटीका—इन तीनों भावोंका अभाव हो गया। न आस्वाद्य रहा, न आस्वादन और न आस्वादकपनकी ही भावना रही। यों जब स्मृति तथा स्मृति करनेवाली स्वयं राधाका ही भान नहीं रहा, तब उनके मनमें एक नवीन भाव उदय हुआ। (वे सब कुछ भूलकर मानो अपनेको शून्य देखने लगीं। श्यामसुन्दरकी स्मृतिरूपा बननेपर भी स्मृतिजनक अनन्त सुखका आस्वादन करनेवाली स्वयं जब नहीं दिखायी दीं, तब स्मृतिकर्ताके अभावमें 'स्मृति' कोई वस्तु नहीं रह गयी। अतः श्यामसुन्दरकी स्मरणजनित मिलनानुभूति नहीं रही। सर्वत्र अभाव-ही-अभावका बोध होने लगा।) उन्होंने देखा हृदय सहज स्वतन्त्र हो रहा है और वह सर्वथा खाली है। इससे उनको बड़ा आश्चर्य हुआ।

जानें कैसे दीं दिखलायी, भाव भरी आँखें पल एक।
पता नहीं क्यों, जाग उठा कुछ, हार चला सब बुद्धि-विवेक॥
दीखा नेत्र-भावमें उसको रसका बहता विमल प्रवाह॥
उसके प्रति आया द्रुत गतिसे, भरा शून्य उर अमित अथाह॥
उदय हुई जिज्ञासा, थे ये किसके नेत्र सुधा-रस-पूर।
रसवन्याने किया उसे अति विवश, विचित्र मधुर मद चूर॥

यों वे आश्चर्यचकित हो रही थीं, इतनेमें ही, जाने कैसे, एक क्षणके लिये उन्हें (मधुरतम) भावसे परिपूर्ण नेत्र दिखायी दिये । उन नेत्रोंके देखते ही पता नहीं क्यों, कुछ (परवश कर देनेवाली मधुरतम स्मृति) मनमें जाग उठी। (मनको समझानेमें) सारा बुद्धि-विवेक हार गया । उनको दिखायी दिया—उन नेत्रोंके भावसे विशुद्ध रसका प्रवाह बह रहा है । वह रस-प्रवाह तीव्रगतिसे राधाजीके पास आ पहुँचा और इनके सारे हृदयमें अपरिमित अगाधरूपसे भर गया । उसी समय मनमें यह जाननेकी इच्छा उत्पन्न हो गयी कि वे सुधा-रससे भरपूर नेत्र किसके थे । जिसने रसकी बाढ़ आ गयी और जिसने राधाको अत्यन्त विवश कर दिया, एवं उन्हें एक विचित्र मधुर मादकतासे चूर कर दिया ।

बसे नेत्र, नेत्रोंके द्वारा, आकर उर-मन्दिर तत्काल ।
बता दिया इन नेत्रोंने, ये नेत्रवान् हैं श्रीनँदलाल ॥
टूट गया सब मनका बंधन, बरबस तुरत हुआ अभिसार ।
कहाँ, कौन, यह क्यों जाती है, रहा न इसका तनिक विचार ॥
चली सरितकी तरह उमड़कर मिलने स्वयं प्रियका सधान ।
पहुँच गयी वह प्रिय-चरणोंमें देखे पावन-अमल रसखान ॥

श्रीराधाके नेत्रोंके द्वारा आये जाकर वे नेत्र उसी समय राधाके हृदय-मन्दिरमें बस गये । अतः उन नेत्रोंने बता दिया कि इन नेत्रोंवाले श्रीनन्दनन्दन हैं । (उन नेत्रोंको देखकर राधाने पहचान लिया, नेत्र उनके परम प्रियतम श्रीश्यामसुन्दरके ही हैं ।) अब तो राधाके मनका बाँध टूट गया । उन्होंने मानो बलात्कारसे तुरंत

अभिसार करना पड़ा । (वे श्रीकृष्ण-मिलनके लिये बरबस निकल पड़ीं ।) वे कहाँ हैं, कौन हैं, कहाँ जा रही हैं, इसका तनिक भी विचार नहीं रह गया । वे लक्ष्यकी ओर तीरकी तरह चलीं, उन्हें प्रियतम श्रीकृष्णका पता मिल गया और उन्होंने प्रियतमके चरणोंमें पहुँचकर उन रसके खान चरणकमलोंके दर्शन किये ।

देख मृदु स्मित, दृष्टि-भंगिमा, चित्तवित्तहारी भ्रू-भंग ।
बाह्य चेतना गयी, पड़ी प्रिय अंक, शिथिल सब अवयव-अंग ॥

फिर तो श्रीश्यामसुन्दरकी मृदु मधुर मुस्कान, उनकी दृष्टिकी विचित्र भंगिमा तथा चित्तरूपी धनको चुरानेवाली भ्रुकुटियोंके संचालनको देखकर उनकी बाह्य-चेतना जाती रही, उनके समस्त अङ्ग-अवयव शिथिल हो गये और वे प्रियतम श्रीश्यामसुन्दरकी गोदमें गिर पड़ीं ।

सिर कर धर, कर पवन, कराया प्यारीको प्रियतमने चेत ।
सहमी, उठी, दूर जा बैठी, देख रही माधुर्य-निकेत ॥
देख वदन मोहन रसवर्षी, हुआ हृदय साहस-संचार ।
बोली मधुर विनम्र वचन शुचि बनकर स्वयं 'दैन्य' साकार ॥

तब प्रियतम श्रीकृष्णने उन प्रियतमा श्रीराधाके मस्तकपर हाथ रखकर, उन्हें हवा करके चेत करवाया । चेतना आते ही वे सहमकर उठ खड़ी हुईं और दूर जाकर बैठ गयीं । वहींसे वे माधुर्य-सदन श्रीश्यामसुन्दरको देखने लगीं । प्रियतम श्रीकृष्णके रसवर्षा करनेवाले मोहन-मुखको देखकर उनके हृदयमें साहसका संचार हो आया और वे स्वयं 'दैन्य' की साकार मूर्ति बनकर विनम्रताके साथ मधुर तथा पवित्र वचन बोलीं—

प्रियतम ! इस नगण्य दासीपर क्यों इतना रखते शुभ भाव ?।
शुद्ध चित्तमें क्यों उठता प्रिय ! इसके लिये नित्य नव चाव ?॥
खाली हृदय हो गया इसका रही सुवस्तु कुवस्तु न कोय।
इसके लिये अवस्तु हुआ सब सृष्टि-प्रपञ्च अब हे हृदयेश !॥

'प्रियतम ! इस नगण्य दासीके प्रति आप इतना भाव क्यों रखते हैं ? आपके विशुद्ध (शुद्धसत्त्वमय) चित्तमें इसके लिये नित्य-नवीन चावका क्यों उदय होता है ? आपने इसमें क्या देखा है ? प्रियतम ! इसका हृदय तो सर्वथा खाली है। उसमें कुछ भी वस्तु नहीं है। न तो उसमें सुवस्तु रह गयी है, न कुवस्तु। इसके लिये हे हृदयेश ! सृष्टि-प्रपञ्च सभी अवस्तु—सत्ताहीन हो गये हैं।'

श्यामसुन्दर श्रीराधाकी यह दीनताभरी रहस्यमयी वाणी सुनकर गद्गद हो गये तथा बोले—

मिटे अहंता-ममता, आशा-तृष्णा, भोग-वासना-काम।
हो समत्व सर्वत्र सर्वदा मिटे द्वन्द्वका भेद तमाम॥
रह न जाय जब किंचित्-सा भी भुक्ति मुक्ति-इच्छाका लेश।
परम शान्तिका अनुभव हो जब, तब खाली हो हृदय प्रदेश॥

'हृदय तो निःशेषरूपसे तब खाली होता है, जब अहंकार-ममता, आशा-तृष्णा, भोगोंकी वासना-कामना सब मिट जाती है। समस्त (सुख-दुःख, लाभ-हानि, जीवन-मरण, जय-पराजय, मान-अपमान, स्तुति-निन्दा, प्रिय-अप्रिय, शुभ-अशुभ, राग-द्वेष, मैं-तू आदि) द्वन्द्वोंका भेद, मिटकर सदा-सर्वत्र समत्व हो जाता है। जब भोग-मोक्षकी इच्छाका किंचित् लेश भी नहीं रह जाता और जब परम शान्तिका अनुभव होता है।

जिसका हृदय हो गया खाली पूरा, यों न रही कुछ चीज ।
उसमें पड़ता पावन रसमय 'प्रिय-सुख-सुखी प्रेम'का बीज ॥
पा वह प्रेमी-जन-मनके मधुमय निर्मल रस-जलका संग ।
वचनावलि-अनुकूल-पवन पा बीज बदलता अपना रंग ॥
होता वह अंकुरित, पल्लवित, पुष्पित, देता मधु फल दान ।
मिलता परमाह्लाद मुझे, मन बढ़ता अति लालच निर्मान ॥
इसीलिये मैं सदा चाहता, रहे नित्य वह मेरे पास ।
पलभर, तिलभर भी न परे हो, रस-समुद्र आह्लाद-निवास ॥

इस प्रकार जिसका हृदय पूर्णरूपसे खाली हो गया, जिसमें कुछ भी वस्तु नहीं रह गयी, उस हृदय (क्षेत्र) में सबको पवित्र करनेवाले 'प्रियके सुखसे सुखी' होना जिसका रूप है, ऐसे रसमय (भगवत्-) प्रेमका बीज पड़ता है । फिर वह बीज प्रेमी जनोंके मनके मधुमय निर्मल भाव-रससे सींचा जाता है—उस रस-जलका सङ्ग पाता है और प्रेमी जनोंकी प्रेमचर्चारूपी अनुकूल हवा पाकर अपना रंग बदलता है । (वह फिर बीजरूपमें नहीं रहकर) अङ्कुरित होता है, पल्लवित होता है, पुष्पित होता है और तदनन्तर मुझ (भगवान्)को बड़ा मीठा फल प्रदान करता है । उस (प्रेमरूप) फलसे मुझे परम आह्लादकी प्राप्ति होती है और मेरे मनमें उसके लिये परिमाणरहित अत्यन्त लालच बढ़ जाता है । इसलिये मैं सदा चाहता हूँ वह (मधुर) रसका समुद्र और (मेरे) आह्लादका आवास प्रेम (प्रेमस्वरूप प्रेमी) नित्य निरन्तर मेरे पास ही रहे; पलभरके लिये भी, तिलभर भी मुझसे पृथक् न हो ।

केवल परमाह्लाद-प्रदान ही न मुझे करती लाचार।
प्रेम यही बन जाता मेरे जीवनका केवल आधार॥
पर उस रसका उदय कठिन अति, नहीं सहज संभव संसार।
हार गये ऋषि-मुनि, योगी-त्यागी, सुरपति विधि मदनमार॥

केवल परम आह्लाद प्रदान करनेकी लालसा ही मुझे (उसके पास रहने एवं उसको पास रखनेके लिये) लाचार नहीं करती। वह प्रेम ही मेरे जीवनका एकमात्र आधार बन जाता है। परन्तु उस रस (परम प्रेम) का उदय बड़ा ही कठिन है, वह इस संसारमें सहज सम्भव नहीं है। (बड़े-बड़े) ऋषि-मुनि, योगी-त्यागी देवराज इन्द्र, ब्रह्मा और कामनाशक भगवान् शङ्कर भी प्रयत्न करके हार गये (पर उन्हें वह मिला नहीं)।

राधे! तुम स्वरूपतः ही हो सहज उसी रसकी भंडार!
तुममें सदा उमड़ता रहता दिव्य प्रेम-रस-पारावार॥
रानी, तुम मुझको जीवन मन तन धन दिव्य गुणोंसे युक्त।
देकर निज सर्वस्व बनाता महिमा निज सुषमा-संयुक्त॥
मेरे जीवनकी आशा तुम सदा एक सहाय उदार।
मेरे प्राणोंकी नन्दन तुम परम हृदयगति प्राणाधार॥

(यह भी उनकी बात है जो सर्वस्व-त्यागरूप प्रेमका साधन करके प्रेमरसको प्राप्त करते हैं) राधिके! (तुमको साधन करके उस रसकी प्राप्ति नहीं करनी पड़ती) तुम तो स्वरूपतः ही सहज ही उस रसका भण्डार हो। तुम्हारे अंदर उस दिव्य प्रेम-रसका समुद्र सदा ही उमड़ता रहता है। (सचमुच) तुम्हीं मुझको दिव्य जीवन, दिव्य मन, दिव्य तन, दिव्य धन (आदि सबको) दिव्य गुणोंसे सम्पन्न करती हो (तुम ये सब मुझे न देती तो मैं इन सबसे रहित ही रहूँ)। तुम्हीं आग

नित्य-निरन्तर मेरी परम शोभामयी महिमा बढ़ाती रहती हो। तुम मेरे जीवनकी आशा हो, तुम मेरी एकमात्र उदार सहायिका हो। तुम मेरे दिव्य प्राणोंकी स्पन्दन हो और तुम ही मेरे प्राणोंकी आधार श्रेष्ठ हृदय-गति हो।

न हो 'दाहिका' शक्ति अग्निमें, न हो सूर्यमें ताप-प्रकाश।
अग्नि-सूर्य तव नहीं कहाते हो जाता अस्तित्व विनाश॥
इसी भाँति मैं, शक्ति-राधिका ! हो जाऊँ यदि तुमसे हीन।
रहे न कुछ भी सत्ता मेरी, बन जाऊँ अस्तित्व-विहीन॥
शक्तिमान् मैं बना तुम्हींसे तुम्हीं नित्य हो मेरी शक्ति।
हटती नहीं हृदयसे मेरे किसी तरह तुममें आसक्ति॥
जैसे चाहे खेल खेलाओ, जैसे जचे कराओ नृत्य।
तुम स्वामिनि सब भाँति एक नित, मैं नित सहज तुम्हारा भृत्य॥

राधिके ! अग्निमें यदि दाहिका शक्ति न हो, सूर्यमें यदि गरमी और प्रकाश न हो तो वे जैसे अग्नि-सूर्य नहीं कहलाते, उनका (अग्नि-सूर्यरूपसे) अस्तित्व ही मिट जाता है, वैसे ही हे (मेरी) शक्ति राधिके ! यदि मैं तुमसे रहित हो जाऊँ तो मेरी (शक्तिमान् भगवान्‌की) कुछ भी सत्ता न रह जाय और मैं अस्तित्वरहित हो जाऊँ। मैं तुम्हींसे शक्तिमान् बना हुआ हूँ, तुम्हीं मेरी नित्य शक्ति हो। इसीसे मेरे हृदयमें तुम्हारे प्रति रहनेवाली आसक्ति कभी हटती ही नहीं। तुम (शक्ति हो, लीलामयी हो, रासेश्वरी हो) जैसे तुम्हारा मन चाहे मुझसे लीला करवाओ; जैसे मन हो, वैसे ही मुझे नचाओ। तुम सभी तरहसे मेरी एकमात्र नित्य स्वामिनी हो और मैं तुम्हारा सहज नित्य भृत्य हूँ।

इस प्रेममें कितना महान् त्याग है, कितना समर्पण है। मनन कीजिये।

झाँकी ४२

श्रीश्यामसुन्दरकी वियोगकल्पनामें श्रीराधारानी एक दिन अत्यन्त व्याकुल हो गयीं। उनको लगा कि 'मैंने प्रियतम श्यामसुन्दरके अहैतुक प्रेमका सत्कार तो कभी किया ही नहीं, उलटा सदा मैं तिरस्कार ही करती रही, ठुकरा देती रही। उन्होंने अपार प्रेम करके मुझे अपना सर्वस्व दे दिया, तथापि मैं अत्यन्त दर्पित होकर भी मान-मदमें उनको ठुकराती रही। आज श्यामसुन्दर मुझसे मानकर छिपे बैठ गये हैं, अब मैं क्या करूँ!' इन विचारोंसे ओतप्रोत होकर वे अकेली एकान्त निकुञ्जमें चली गयीं और वहाँ

जाकर यह कल्पना करके कि मेरी प्यारी सखी मेरे साथ है, उससे रो-रोकर कहने लगीं—

नित्य उन्होंने चाहा मुझको, मैंने सदा किया अपमान।
नित्य उन्होंने मान दिया, पर मैंने किया सदा अभिमान॥
मेरे ही सुख-हेतु नित्य ही दिया उन्होंने सारा प्यार।
पर मैंने अवहेला की नित, देती रही सदा दुतकार॥
बार बार वे मुझको सुखी बनाने, आये मेरे पास।
मधुर बोल सत्कार न करके, लौटा दिया निराश उदास॥

'(प्रिय सखी !) उन्होंने (प्रियतमने) सदा ही मुझको चाहा, पर मैंने सदा उनका अपमान किया। उन्होंने नित्य मुझे मान प्रदान किया; किंतु मैं सदा अभिमान ही करती रही। उन्होंने (केवल) मेरे ही सुखके लिये (क्योंकि उनको तो सुखकी कभी कोई कमी ही नहीं) नित्य-निरन्तर मुझे अपना सारा प्रेम दिया; पर मैंने सदा उसकी अवहेलना की, मैं सदा ही दुत्कार देती रही। वे (प्रियतम) मुझको सुखी बनानेके लिये ही बार-बार मेरे पास आये, पर मैंने मीठे वचनोंसे भी उनका सत्कार नहीं किया और उन्हें निराश उदास लौटा दिया।'

पर वे तनिक न हुए रुष्ट, मुझपर न कदापि किया कुछ रोष।
उनके मनको कभी न दीखा, मेरा सहज अल्प-सा दोष॥
देते देते थके न पल भर, देते रहे सदा सर्वस्व।
मानिनि, किंतु उन्हें क्या देती मैं दरिद्र स्वाभाविक निःस्व॥

'(सखी !) इतनेपर भी वे कभी न तो मुझपर रुष्ट हुए, न कभी मुझपर तनिक-सा रोष ही किया, उनके मनको स्वभावसे ही

कभी भी मेरा तनिक-सा दोष दिखायी ही नहीं दिया। वे मुझे देते-देते कभी एक पल भी थके नहीं, सदा अपना सर्वस्व ही देते रहे। मैं मानिनि (मिथ्या अभिमानमें भरी रही), परंतु मैं स्वाभाविक दरिद्र-अकिंचन उन्हें देती भी क्या? (मेरे पास था ही क्या!)'

अब रो रही अभागिनि, पतिता, दीना मैं अविरल दिन रात।
याद आ रही मुझको उनकी एक एक अब मीठी बात॥
इसी योग्य हूँ मैं, मिलना है उचित मुझे बस यह परिणाम।
रोना, अश्रु बहाना, व्याकुल स्मृतिमें रहना आठों याम॥
पर मैं मर न सकूँगी, कारण मृत्यु रहेगी मुझसे दूर।
होता नित्य रहेगा उनका स्मरण-सुधा-सिंचन भरपूर॥

'(पर सखी! अब वे चले गये—अतएव) अब मैं पतित, दीन, अभागिनी दिन-रात लगातार रो रही हूँ। अब मुझे उनकी एक-एक मीठी बात याद आ रही है। मैं इसी योग्य हूँ, मुझे बस, यह उचित ही फल मिल रहा है—रोना, आँसू बहाना और आठों पहर उनकी स्मृतिमें व्याकुल रहना। पर (सखी!) मैं मर नहीं सकूँगी, कारण, मृत्यु मुझसे सदा दूर रहेगी; क्योंकि मुझपर सदा ही उनके स्मृति-सुधाका भरपूर सिंचन होता रहेगा। (मैं सदा उनकी स्मृति-सुधामें डूबी रहूँगी, तब मृत्यु मेरे समीप कैसे आ सकेगी।)'

यों कहती, रोती वह राधा सिसक-सिसककर करुण विलाप।
मूर्छित हुईं, लगीं गिरने, त्यों थाम भुजामें लिये आप॥
हुए प्रकट, रक्खा सिर अपनी मधुर मनोहर कोमल गोद।
दैन्यापहारी बोले वचन, वे करने लगे परम मन-मोद॥

गिरे अचानक मुखपर, प्रियतम—प्रेमामोद-सुधाके बिन्दु ।
चेत हुआ पा प्रिय गोदीमें, उमड़ा उरमें आनँदसिन्धु ॥
देखा, प्रियतम अपने कर-कमलोंको फिरा रहे सब गात ।
अश्रुपूर्ण दृग देख रहे प्रिय अपलक प्यारी-मुख अवदात ॥
उठीं हृदयसे लगीं, बही दोनोंके नेत्रोंसे शुचि धार ।
वाणी रुद्ध, अमन मन, सारा हुआ निरुद्ध सहज व्यापार ॥

यों कहती वे सिसक-सिसककर रोती तथा करुण-विलाप करती हुई मूर्च्छित होकर गिरने लगीं कि स्वयं प्रियतम (श्यामसुन्दर)-ने उन्हें अपनी भुजाओंमें थाम लिया । वे प्रकट हो गये और उन्होंने श्रीराधाका मधुर मनोहर मस्तक अपनी कोमल गोदमें रख लिया । (तदनन्तर) पीताम्बरसे उनका वदन (-चन्द्र) पोंछकर वे मनमें मोद भरे हुए उनको हवा करने लगे (प्रेमकी बाढ़से उनके नेत्रोंमें आँसू आ गये और) प्रियतमके प्रेमानन्द-अमृतकी कुछ बूँदें सहसा श्रीराधाजीके मुखपर गिर पड़ीं; बस (उसी समय) उन्हें चेत हो गया और अपनेको प्रियतमके अङ्कमें पाकर उनके हृदयमें आनन्दका सागर उमड़ चला । राधाजीने देखा, प्रियतम अपने करकमलोंको उनके अङ्गोंपर फेर रहे हैं और वे प्रियतम अश्रुपूर्ण नेत्रोंसे प्रियाके उज्ज्वल-गौर मुखकी ओर निहार रहे हैं । नेत्रोंकी पलकें नहीं पड़ रही हैं । वे उठीं और प्रियतमके हृदयसे चिपट गयीं । (प्रिया-प्रियतम) दोनोंके नेत्रोंसे पवित्र धारा बह चली, दोनोंकी वाणी रुद्ध हो गयी, मन अमन हो गये और सारी चेष्टाएँ सहज ही रुक गयीं ।'

मधुर प्रेम तथा मधुरातिमधुर श्रीराधा-माधवकी जय-जय !

झाँकी ४२

प्रेम अनिर्वचनीय होता है तथा होता है सूक्ष्मतर एवं अनुभवरूप । प्रेम देना जानता है, लेना नहीं । भगवान् श्यामसुन्दरके लिये सर्वत्याग करके, प्रियतम श्यामसुन्दरको अपना सर्वस्व समर्पण करके, एक गोपी अपने तन-मन-वचनसे, अपने जीवनके कण-कणसे, क्षण-क्षण अनवरतरूपसे श्यामसुन्दरकी प्रेममयी पूजा-अर्चना करती रहती है । किसीको पता नहीं, अन्तर्यामी भगवत्से काम न लें तो परम प्रियतम श्यामसुन्दरको भी पता नहीं कि यह कौन है । उसकी सर्वस्व-समर्पणमयी अर्चनासे श्यामसुन्दरको सहज सुख मिलता है, पर यह इतनी रहस्यमयी अर्चना होती है कि प्रियको पूजा-सुखकी मधुर अनुभूति प्राप्त होनेपर भी पूजा करनेवालीका उन्हें पता नहीं है । एक अनजान प्रेमस्वरूपी पगली गोपीके बहुत आग्रह करनेपर यह गोपी अपनी सर्वत्यागमयी परम विशुद्ध सेवाका किंचित् संकेत करती है । वह कहती है

मन कौ मन मनहीं मन उठै, पूजन प्रति नहिं कहिंहूँ जोग ।
एक मात्र प्रियतम की सेवी मेरो मधुर मिलन कौ जोग ॥

मिटी सकल ममता अग-जग की खुले सकल माया के बंध।
रह्यौ न कितहुँ, कबहुँ कछु अपनौ रह्यौ एक प्रिय कौ संबंध॥
निज-पर कोउ न रह्यौ अब जग में तिन बिनु मेरो प्रानि-पदार्थ।
वे ही परम स्वार्थ हैं मेरे, वे ही मेरे सब पुरुषार्थ॥

'सखी! (मेरे) मनकी बात केवल मन ही जानता है। वह अत्यन्त गोपनीय है, कहने योग्य नहीं है। (बात यह है कि—) एकमात्र प्रियतमसे ही मेरा नित्यका मधुर संयोग हो गया है। अग-जगकी सारी ममताएँ मिट गयी हैं, मायाके सारे बन्धन खुल गये हैं, अब कहीं, कभी, कुछ भी 'मेरा' नहीं रह गया है। एक प्रियतमसे ही (सारी ममताका) सम्बन्ध रह गया है। उनके सिवा अब जगत्‌में कोई भी प्राणी-पदार्थ 'मेरा' अपना-पराया नहीं रहा है। वे (परम प्रियतम) ही मेरे परम स्वार्थ हैं और वे ही मेरे समस्त पुरुषार्थ हैं।'

मन तिन कौ, मति तिन की, रति में तिन की ही बिसर्‌यो सब ग्यान।
निसि दिन करत रहत छिप-छिप, सुचि, तिन की ही पूजा ये प्रान॥
पल-पल नव-नव पूजन-पद्धति, पल-पल नव-नव रस-आस्वाद।
पल-पल बढ़त सहज सुख, सुख-रुचि, सुख-रति नव-नव बिनु मरजाद॥

'(मेरा मन उनका है, बुद्धि उनकी है, उनकी प्रीतिमें ही सारा ज्ञान भुला गया है। (मेरे) ये प्राण दिन-रात छिप-छिपकर उन्हींकी पवित्र पूजा करते रहते हैं। पल-पलमें नयी-नयी पूजा-पद्धति (प्रकट होती है), पल-पलमें नये-नये रसका आस्वादन होता है और पल-पलमें बिना मर्यादाके सहज ही नये-नये सुखका (नयी-नयी सुखकी रुचिका) और (नयी-नयी) सुखकी प्रीतिका संवर्धन होता है।'

प्रियतम अजहुँ जानि नहिं पाये, है यह मूक पुजारिन कौन।
अर्पन रत नित, अर्पित जीवन छिपी निरंतर रहती मौन॥
सखि! मैं भई बावरी या बिधि करौं नित्य अभिलाषा एक।
प्रियतम देख न पावैं कबहुँ मो कूँ पूजा रत सबिबेक॥
समुझौं सदा मोय वे प्यारे श्रद्धा प्रीति अर्चना-हीन।
करत रहैं वे करुना मो पर जानि मोय अति दीन मलीन॥
पूजा कौ फल मो कूँ बस, यह मिलतौ रहै एक अनिवार।
बढ़त रहै अर्चा नित मेरी छिन छिन रति अति बढ़ै अपार॥

'(परंतु मेरे) प्रियतमको अबतक यह पता नहीं लग पाया है कि यह मूक पुजारिन कौन है, जो समर्पण-जीवन है, निरन्तर छिपी रहती है और नित्य मौन रहकर पूजामें लगी है। सखी! मैं (भी) पगली हो गयी जो नित्य-निरन्तर एकमात्र इस प्रकारकी अभिलाषा करती हूँ। (अभिलाषा क्या है—) मेरे प्रियतम मुझे कभी विवेकसहित पूजा करती हुई देख न पायें। वे प्रियतम मेरे लिये सदा यही समझते रहें कि यह श्रद्धा-प्रीति तथा पूजासे रहित है और वे सदा मुझे अत्यन्त दीन-मलिन मानकर मुझपर करुणा (दया) करते रहें (प्रेम-सुख न दें)। मुझको पूजाका बस, एक यही फल अनिवार्य रूपसे मिलता रहे, मेरी यह पूजा नित्य बढ़ती रहे और (इस पूजामें ही) क्षण-क्षणमें मेरी अत्यन्त प्रीति अपाररूपसे बढ़ती रहे।'

जान न पावैं यद्यपि प्रियतम मेरी पूजा की कछु बात।
रहै सदा ही नित की मेरी यह प्रियतम-पूजा अज्ञात॥
किंतु जानते जो सखि! प्रियतम सहज हृदय सुचि परम उदार।
मानैंगे न दिये बिनु मो कूँ अपनौ प्रेम-सुधा-रस सार॥

या तें जौं जगि उठै कबहुँ, मो मन प्रिय-सुख मिलिबे की चाह ।
या विधि पूजा रति न रहैगी, नहीं रहैगो यह उत्साह ॥
सुख न मिलै प्रियतम तें मो कूँ जातें जगै न मन सुख-काम ।
पूजा सदा छिपाऊँ या तें छिप-छिप छबि निरखूँ अभिराम ॥
चलै सदा यह पूजा मेरी, प्रियतम सुख-हित काल अनंत ।
मिलै सदा प्रिय कौं सुख नव-नव नवता कौ नहिं आवै अंत ॥

'इतनेपर भी प्राणप्रियतम मेरी पूजाकी कुछ भी बात न जान पायें। उनके लिये मेरी यह प्रियतम-पूजा सदा ही अज्ञात रहे। सखि! वे मेरे प्रियतम पवित्र रसपूर्णहृदय हैं, परम उदार हैं, वे जान जायँगे तो अपना स्नेह-सुधा-रस-सार मुझे दिये बिना मानेंगे नहीं और इससे (उनसे स्नेह-सुधा-रसका सुख पानेसे) यदि कहीं मेरे मनमें प्रियतमसे सुख प्राप्त करनेकी चाह जाग उठेगी तो फिर मेरी इस प्रकारकी न तो (विशुद्ध) पूजा-प्रीति रह जायगी, न यह (विशुद्ध) उत्साह ही रहेगा। इसीलिये मैं चाहती हूँ प्रियतमसे मुझे सुख न मिले, जिससे मेरे मनमें सुखकी कामनाका उदय हो न हो। इसीलिये मैं पूजाको सदा छिपाती रहती हूँ और छिप-छिपकर (अपने प्रियतमकी) सुन्दर छबि निरखा करती हूँ। मेरी यह पूजा प्रियतमके सुखके लिये अनन्त कालतक निरन्तर चलती रहे। इससे प्रियतमको नित्य नया-नया सुख मिलता रहे और उस नवीनताका कभी अन्त आवे ही नहीं।'

इसपर क्या टीका की जाय। हृदयमें ही अनुभव कीजिये।

झाँकी ४४

श्रीगोपी-प्रेमकी अमित महिमा है, उसमें त्याग-ही-त्याग है। इसलिये दीनताका बोध तथा प्रियतम श्रीकृष्णमें अनन्त गुणोंके दर्शन उसके सहज लक्षण हैं। इसीके अनुरूप श्रीकृष्ण भी इसी भावसे उनसे लीलाविहार करते हैं। श्रीराधारानी कहती हैं—

(गीत)

अनोखौ प्रेम निहारौ स्याम!
बिनु कारन तुम नेह करत नित सुख-दुख बिसरि अभिमान॥

स्वारथ भर्यौ हतौ हिय मेरो, छूँछो सदा प्रेमके नाम ।
काम-कलुष पूरित, नित कारौ, ता मैं कियौ आय बिस्राम ॥
नहीं प्रवेस प्रेम-चटसारैं, नहीं ककहरा सौं हू काम ।
दिव्य प्रीति-रस मोय पियायौ अपने-आप आय रसधाम ॥
छकी, प्रेम-रस छलक्यौ पावन मधुर भयौ जीवन सुखधाम ।
तुम्हरे सुरभित गुन-सुमनोंके तुम ही नित्य सुभग आराम ॥

श्यामसुन्दर ! तुम्हारा प्रेम बड़ा ही विलक्षण है ! तुमने अपने सहज सुन्दर स्वभावके विवश होकर ही मुझसे प्रेम बढ़ाया है । मेरा हृदय तो स्वार्थ (निज-सुखकी इच्छा) से भरा था, प्रेमके तो नामसे ही शून्य था, कामनाके कलुषसे पूर्ण सदा काला था, पर तुमने (अपने स्वभाववश ही) स्वयं आकर उसमें विश्राम किया । मैंने तो कभी प्रेमकी प्राथमिक पाठशालामें भी प्रवेश नहीं किया, न मेरा प्रेमका ककहरा सीखनेसे ही कुछ काम रहा । प्यारे रसधाम ! तुमने अपने-आप ही आकर मुझे अपने दिव्य (भौतिक नहीं) प्रेमरसका पान कराया; मैं उससे छक गयी । सबको पवित्र करनेवाला वह मधुर प्रेमरस (मुझमें समाया नहीं) छलक पड़ा । मेरा जीवन सुखका धाम बन गया । (प्रियतम !) तुम्हारे सुगन्धित गुण-समूह-पुष्पोंके तुम ही नित्य सुन्दर बगीचे हो !

(गीत)

निर्मल प्रेम नित्य यों बोलै ।
अपने दोष विमल गुन पियके लाख करि काढ़ै—तोलै ॥

छवयो प्रेम-रस-सुधा निरंतर अंग-अंग भरो बगरी होवै।
दोऊ हियो प्रेम-रस कूँडो पाय प्रेम-धन रतन अमोवै॥
प्रेम-पियास बढ़त नित पावन प्रेम अभाव दिखावत गोवै।
धनि-धनि ऐसो प्रेम धनी जो नित नव प्रेम-तरंगहि जोवै॥
मोय परम सुख पहुँचावन हित नित अति मधुर अमोरस घोहै।
तुम ऐसी, याते मैं हिलिया, तेरो मधुवन होहि होहि॥

प्रियतम श्रीकृष्णने कहा—

प्रियतमे ! विशुद्ध प्रेम यों ही खेला करता है। (प्रेमकी यही भाषा है) प्रेम सदा ही आगे स्वयं-स्वयं दोनोंको तथा प्रियतमके स्वयं-स्वयं निज गुणोंको प्रकट करके उनकी तुलना किया करता है। प्रेमी नित्य-निरन्तर प्रेम-रस-सुधाके उस अंगमें उन्मत्त हुआ विचरण करता है। वह अमूल्य प्रेम-रस धन पा चुकता है तथापि (प्रेमके स्वभाववश) उसे अपना हृदय प्रेमरससे सदा शून्य ही दिखायी देता है; क्योंकि प्रेमकी प्यास निरन्तर नित्य बढ़ती तथा प्रेमके अभावका अनुभव हुआ प्रकट दिखाती रहती है। ऐसा प्रेमधनी धन्य-धन्य है, जो नित्य नवीन प्रेमकी तरंगको जोहता रहता है और मुझे परम सुख पहुँचानेके लिये ही नित्य अनन्त मधुर प्रेम-सुधा-रस घोला करता है। प्रिये राधिके ! तुम वस्तुतः ऐसी ही हो, इसीसे मैं तुम्हारा नित्य ऋणी हूँ तथा बड़े ही सकोचके साथ धीरे-धीरे तुम्हारी सेवा किया करता हूँ।

अहो ! इस-भाँति प्रियतमयुगल-किशोर [illegible] [illegible] कब लखेंगे।

झाँकी ४५

बैठी राधा थीं यमुना-तट मन-ही-मन कर रहीं विचार।
मेरे कारण प्रियतमको होता है कितना कष्ट अपार॥
आते मेरे पास, सभी आवश्यक कार्योंका कर त्याग।
सहते हिम-आतप-वर्षा अति, रखते नहीं कहीं कुछ राग॥
बड़े-बड़े तार्किक, सिद्धान्ती, तत्त्वज्ञानी, सिद्ध, विदेह।
निन्दा करते, खण्डन करते कर भगवत्तामें संदेह॥
महान् ईश्वर सब लोकोंके, सबके एकमात्र आधार।
सर्वातीत, सर्वमय, जिनसे सबका होता है विस्तार॥
वही परात्पर प्रभु करते हैं, मुझमें कैसा पावन मोह?
नहीं पलक भर भी सह सकते मेरा कभी नितान्त बिछोह॥

श्रीमती राधाजी यमुनातटपर (एकान्तमें) बैठी हुई मन-ही-मन यह विचार कर रही थीं कि मेरे कारण प्रियतम श्यामसुन्दरको कितना अपार कष्ट होता है। वे अपने सभी आवश्यक कार्योंका परित्याग करके मेरे समीप चले आते हैं। अत्यन्त सर्दी-गरमी और वर्षा सहन करते हैं। (मेरे सिवा) कहीं कुछ भी राग नहीं

रखते। (उनके इस प्रकारके प्रेमाचरणको देखकर) बड़े-बड़े तर्कशील, सिद्धान्तवादी, तत्त्वज्ञानी, सिद्ध और विरक्त लोग उनकी निन्दा करते और उनकी भगवत्तापर संदेह करके उनका खण्डन करते हैं। (आश्चर्य है—) जो सब लोकोंके महान् ईश्वर हैं, जो सबके एकमात्र आधार हैं, जो सर्वातीत तथा सर्वमय हैं और जिनसे (समस्त अनन्त ब्रह्माण्डोंका) विस्तार होता है, उन्हीं परात्पर प्रभुका मुझमें कैसा पावन मोह है, जो एक पलक छिन भी कभी मेरा [illegible] वियोगको किसी प्रकार भी सहन नहीं कर सकते।

परम प्रेममय, प्रेम-रसिक-वर प्रेमविवश वे प्रेमाधार।
मेरे मनके तोष-हेतु वे करते सब कुछ अङ्गीकार॥
कहाँ मानव, तुच्छ मैं रूप-गुणोंसे विरहित दोषागार।
कहाँ सर्व सद्गुण-सुषमा-सौन्दर्य [illegible] भंडार॥
मेरे दोषोंपर प्रियतमकी नहीं कदापि दृष्टि जाती।
लगता, उनके गुणकी मुझमें सब गुणराशि समान पाती॥
सब भगवत्ता भूल, बात करते वे सुन्दर, कह, कटु।
देख तनिक सुख म्लान मुख हो आतुर वे भर लेते अङ्क॥
नहीं तनिक भी इच्छा करते, करते नहीं तनिक संकोच।
ध्यान नहीं देते कदापि वे, कोई कहे भला या पोच॥

वे परम प्रेमस्वरूप, प्रेमके श्रेष्ठ रसिक, प्रेमाधार (प्रभु) प्रेमविवश होकर मेरे मनको तुष्ट करनेके लिये सभी कुछ (गुण-दोष) अङ्गीकार कर लेते हैं। कहाँ मैं मानव, तुच्छ, रूप-गुणोंसे सर्वथा रहित और दोषोंकी खान और कहाँ समस्त अनन्त सद्गुणोंके तथा शोभा-सौन्दर्यके भण्डार वे (श्यामसुन्दर)! पर मेरे दोषोंकी ओर

मेरे प्रियतमकी दृष्टि कभी जाती ही नहीं। (उन्हें तो) यही लगता है कि मुझमें उनको सुखी करनेवाली सभी गुणावलियाँ ढेर-की-ढेर स्थान पा रही हैं। इसीसे वे अपनी सारी भगवत्ताको भूलकर (मेरे लिये) निन्दा, कष्ट और कलङ्कका वरण करते हैं। कभी तनिक-सी भी मेरे मुखपर म्लानता देख पाते हैं तो वे आतुर होकर तुरंत मुझे अपने अङ्कमें भर लेते हैं। न तो तनिक भी लज्जा करते हैं न तनिक संकोच ही। कोई उन्हें भला कहे या बुरा, वे कभी उसपर ध्यान ही नहीं देते—

मेरे वे सर्वस्व एक ही, वे ही मेरे इह-परलोक।
गति-मति-रति, मन-जीवन वे ही, एक मात्र वे ही आलोक॥
इस मेरी बाह्याभ्यन्तर स्थितिका उनको है पूरा ज्ञान।
इसीलिये वे मुझपर सदा निछावर रहते हैं भगवान्॥
कैसे भी मैं, क्षण भर भी, इस स्थितिका त्याग न कर पाती।
सहते उन्हें देख, पर, निन्दा-श्रम, जलती मेरी छाती॥
यद्यपि उनको होता अति सुख मुझे देखकर सुखी अपार।
पर, मुझको लगता, वे सहते कष्ट नित्य अति प्राणाधार॥
कैसे, मैं क्या करूँ, मिटे जिससे यह प्रियका कष्ट तुरंत।
मेरे कारण होनेवाले कष्टोंका हो कैसे अंत॥

वे (ही) मेरे सर्वस्व हैं, वे ही मेरे लोक-परलोक हैं और वे ही मेरी गति, मति, प्रीति, मन और जीवन हैं एवं वे ही (मेरे जीवनके) एकमात्र प्रकाश हैं। मेरी इस बाह्याभ्यन्तर स्थितिको वे पूर्णरूपसे जानते हैं, इसीलिये वे भगवान् मुझपर सदा न्यौछावर रहते हैं। (मेरी यह स्थिति ही उनके कष्ट-कुत्साका कारण है। मैं चाहती हूँ कि मुझमें ऐसी कोई बात रहे ही नहीं, जिससे उन

प्रियतमको निन्दा-दुःख सहना पड़े; पर क्या करूँ,) किसी प्रकार भी, क्षणभरके लिये भी मैं इस स्थितिका त्याग नहीं कर सकती। (एकमात्र उन प्रियतमके अतिरिक्त मैं किसीको भी किसी अंशमें भी न अपना सर्वस्व मान सकती हूँ और न गति, मति, प्रीति तथा प्रकाश ही;) परंतु (इसलिये) मैं उन्हें निन्दा तथा कष्ट पाते देखती हूँ तो मेरी छातीमें (भीषण) आग जलने लगती है। मैं जानती हूँ (मेरी इस स्थितिके कारण) मुझे अपार सुखी देखकर उन्हें अत्यन्त सुख होता है; पर मुझे लगता है कि वे मेरे प्राणाधार (मेरे लिये) नित्य-निरन्तर अत्यन्त कष्ट सहन करते हैं। अब मैं कैसे क्या करूँ, जिससे प्रियतमका यह कष्ट तुरंत मिट जाय, मेरे कारण होनेवाले तमाम कष्टोंका अन्त हो जाय।

इस दुश्चिन्ताकी ज्वालामें जला हृदय, वे हुईं अचेत।
स्वर्ण-देह यह पड़ी भूमिपर मलिन-वदन सौन्दर्य-निकेत॥
प्यारे वहीं खड़े थे, गिरते देख तुरत ले लिया गोद।
सिर सहलाने लगे मधुर मुखचन्द्र देखने लगे समोद॥

इस दुश्चिन्ताकी ज्वालासे उनका हृदय जल उठा, वे अचेत हो गयीं और उनका वह सौन्दर्यका धाम स्वर्ण-शरीर मलिनमुख होकर भूमिपर गिर पड़ा। प्रियतम श्यामसुन्दर वहीं खड़े थे, श्रीजीको गिरते देखते ही उन्होंने तुरत अपनी गोदमें ले लिया। वे अपने हाथों उनका सिर सहलाने लगे और प्रमुदित मनसे उनका मुखचन्द्र निरखने लगे।



झाँकी ४६

अति एकान्त, विकल बैठी थी आतुर मन कालिन्दी-कूल ।
श्याम विरह दुस्सह पीड़ासे व्यथित गयी थी सब कुछ भूल ॥
"आवेंगे अब नहीं कभी, वे छोड़ गये मुझको मतिमान ।
जान गये मुझको सब विधिसे हीन, मलीन दोषकी खान ॥
नहीं बाह्य सौन्दर्य तनिक भी, नहीं हृदय सुन्दरता-लेश ।
अमित दोष पूरित बाह्यान्तर, कलुषित कठिन कुबुद्धि विशेष ॥
इसी हेतु वे गये, किया प्रियतमने समुचित निस्संदेह ।
नहीं कदापि योग्य है उनके कुत्सित अति कुरूप यह देह ॥
सुख पायें वे प्राननाथ, है अमित मुझे इसमें आनन्द ।
प्रिय-वियोग-विष-ज्वाला विषम जलाती रहे मुझे स्वच्छन्द ॥"

यमुनाके तटपर अत्यन्त एकान्त स्थलमें श्रीराधाजी सब कुछ भूलकर व्याकुल बैठी हैं, मनमें बड़ी आतुरता है। श्यामसुन्दरके वियोगकी दुस्सह पीड़ासे वे अत्यन्त व्यथित हैं। वह सोचती हैं—श्यामसुन्दर अब कभी नहीं आयेंगे। वे बड़े बुद्धिमान् हैं; वे जान गये हैं कि राधा सब प्रकारसे हीन, मलिन और दोषोंकी खान है। इसीलिये वे मुझे सदाके लिये छोड़ गये हैं। सत्य ही

है, मुझमें न तो तनिक-सा भी बाह्य सौन्दर्य है, न मेरे हृदयमें ही सुन्दरताका लेश है। मेरा बाहर-भीतर अपरिमित दोषोंसे भरा है, अत्यन्त कठोर तथा कलुषित है। मुझमें कुबुद्धिकी विशेषता है (यह कुबुद्धि ही तो है जो मैं अपनेको उनके योग्य मानती हूँ)। इसीसे मेरे प्रियतम चले गये हैं। निस्संदेह यह उन्होंने सर्वथा उचित ही किया है। यह कुत्सित और अत्यन्त कुरूप देह उनके योग्य कदापि नहीं है। (वे गये, अच्छा ही हुआ) मेरे वे प्राणनाथ सुख प्राप्त करें। इसीमें मुझे अपरिमित आनन्द है। मुझे उन प्रियतमके वियोगकी भीषण विष-ज्वाला स्वच्छन्दतासे सदा जलाती रहे (और वे सुखी रहें)।

करती यों विचार थी, थी यह भावमुग्ध सब विधि बाला।
मन-ही-मन जप रही निरन्तर थी वह प्रिय-सुखकी माला॥
प्रिय-सुख-स्मृतिसे एक-एक पल, नव-नव हृदय मोद भरता।
किंतु साथ ही प्रिय-वियोग-दावानल हृदय दाह करता॥
भूल गयी यह कल-कल करती बहती कालिन्दी-धारा।
कूद पड़ी, कमनीय कलेवर सलिल-निमग्न हुआ सारा॥

सब प्रकारसे इस (प्रेमवैचित्यके) भावमें मुग्ध हुई बाला (श्रीराधा) यों विचार कर रही थीं और वे मन-ही-मन निरन्तर प्रियतमके सुखकी माला जप रही थीं। प्रियतमकी सुखमयी स्मृतिसे एक-एक पलमें उनका हृदय नये-नये आनन्दसे भर रहा था। पर साथ-ही-साथ प्रियतमके वियोगकी दावाग्नि हृदयमें दाह पैदा कर रही थी। इसी भावविमुग्धतामें वे यह भूल गयीं कि यह कलकल-ध्वनि करती हुई यमुनाजीकी धारा बह रही है और उसी भावावेशमें वे

उसमें कूद पड़ीं। उनका परम सुन्दर सम्पूर्ण शरीर जलमें निमग्न हो गया।

लगा, किसीने लिया गोदमें, हुआ सुकोमल तनका स्पर्श।
भरा सुधा-रस अंग-अंगमें मिटा खेद, छाया अति हर्ष॥
हर्षपूर्ण हो गया हृदय अति, रहीं बंद आँखें कुछ काल।
उठी गुदगुदी तन-मनमें, तब खुले नयन-अरविंद विशाल॥
देखा बँधी हुई अपनेको प्रियतमके कोमल भुजपाश।
देखा, देख रहे अपलक प्रिय, छाया अधरोंपर मृदु हास॥
हुआ अमित आनन्द परस्पर, विकसे हृदय-कुसुम तत्काल।
होने लगा प्रिया-प्रियतममें रसालाप अति दिव्य रसाल॥

इतनेमें ही उन्हें ऐसा लगा—किसीने उन्हें गोदमें उठा लिया है। सुकोमल तनका स्पर्श होते ही अङ्ग-अङ्गमें अमृत-रस भर गया। सारा खेद मिट गया और अत्यन्त हर्ष छा गया। हृदय अत्यन्त हर्षपूर्ण हो गया, (इस आनन्दरसके आस्वादनमें) कुछ कालतक आँखें बंद रहीं। फिर तन-मनमें एक गुदगुदी उठी और श्रीराधाके विशाल नयनकमल खुल गये। उन्होंने देखा—वे प्रियतम श्यामसुन्दरके कोमल भुजपाशमें बँधी हैं। फिर देखा, प्रियतम निर्निमेष नेत्रोंसे उनकी ओर निहार रहे हैं। अधरोंपर मृदु मुसकान छायी है। दोनोंको परस्पर अपरिमित आनन्द प्राप्त हुआ, दोनोंके ही हृदयकुसुम तत्काल खिल उठे। तदनन्तर प्रिया-प्रियतममें अत्यन्त दिव्य रसमय रसालाप होने लगा।

बोले प्रियतम—"भूल गयी तुम, आये थे हम दोनों साथ।
दोनों ही बैठे यमुना-तट लिये परस्पर कोमल हाथ॥

हुआ प्रेम-वैचित्त्य तुम्हें तब, जागा मन वियोगका ज्ञान।
हुआ विमुग्ध देख मैं अनुपम दिव्य प्रेमकी दशा महान॥
कूदा मैं भी साथ तुम्हारे, लिया अंकमें भुजा पसार।
मैंने तुमको प्रिये! उसी क्षण, मिला दिव्य आनन्द अपार॥
रहा देखता निर्निमेष मैं प्यारी-मुख-सरोजकी ओर।
उमड़ा प्रेम-सुधा-रस-सागर, रहा कहीं भी ओर न छोर॥
छूटा भाव वह पाकर मुझको, हुआ तुम्हें तब बाह्यज्ञान।
महिमामयी! नहीं तुमको है किंचित् निज-महिमाका भान॥

प्रियतम श्यामसुन्दर बोले—तुम भूल गयीं हम दोनों साथ ही तो आये थे और दोनों ही यहाँ यमुना-तटपर एक दूसरेका कोमल हाथ हाथमें लिये बैठे थे। इसी बीच तुम्हें प्रेमवैचित्त्य हो गया। (तुम सब भूल गयीं) और तुम्हारे मनमें यह ज्ञान (प्रेमावेश) जाग उठा कि (प्रियतम यहाँ नहीं हैं), प्रियतमका विछोह हो रहा है। तुम्हारी अनुपम प्रेमकी इस अतुलनीय महान् स्थितिको देखकर मैं मुग्ध हो गया। (फिर तुम जब कूदी, तब) मैं भी तुम्हारे ही साथ यमुनामें कूद पड़ा और प्रिये! मैंने भुजाएँ पसारकर तुरंत तुमको गोदमें उठा लिया। मुझे अपार दिव्य आनन्दकी प्राप्ति हुई। मैं प्रियतमाके मुखकमलकी ओर अपलक दृष्टिसे देखता रहा। प्रेम-सुधा-रसका समुद्र उमड़ पड़ा। कहीं भी उसका ओर-छोर नहीं रहा। फिर मुझे प्राप्त हुए जानकर तुम्हारे 'प्रेमवैचित्त्य' का वह भाव छूट गया और तब तुमको बाहरी ज्ञान हुआ। महिमामयी राधे! तुमको अपनी महिमाका तनिक भी भान नहीं है।

झाँकी ४७

श्रीराधारानी दिव्य भावोन्मादमें कभी नव-नील-नीरधर मेघको देखतीं तो उन्हें लगता—मेरे प्रियतम प्राणधन श्रीश्यामघन पधारे हैं। यह समझकर वे अपने प्राणधनपर प्रेमाक्षेप करतीं, उनको न मालूम क्या-क्या कहने लगतीं। जब बदलेमें कोई उत्तर नहीं मिलता, तब यह पता लगता कि यह तो निरा बादल है, श्यामसुन्दर नहीं हैं। ऐसा होते ही वे अत्यन्त विषण्ण होकर अचेत हो जातीं। एक दिन सचमुच ही प्राणधन श्यामसुन्दर पधारे और निकुञ्ज-द्वारपर खड़े होकर उन्होंने मृदु-मन्द स्वरसे मुरलीकी मधुर तान छेड़ दी। राधा चौंकीं—देखा तो प्रियतम श्यामसुन्दर दिखायी दिये, पर सहसा विश्वास नहीं हुआ। सोचा—कहीं बादल न हो। बहुत काल नहीं बीता था, तथापि वे प्रियतम श्रीकृष्णके मिलनानन्दको अपने लिये दुर्लभ मानने लगी थीं, इस कारणसे भी श्रीकृष्णको देखकर भी वे अपने सौभाग्यपर विश्वास नहीं कर सकीं, सोचा, वे क्यों आने लगे, मेघ ही उमड़ा है। पर फिर दृष्टि गयी तो प्रियतम श्यामसुन्दर दीख पड़े। तब भ्रम मिटानेके लिये उन्होंने प्यारी सखी ललिता-विशाखासे कहा—

खड़ा यह कौन कुंजके द्वार ?
देखो ललिते ! अरी विशाखे ! करो न तनिक अबार ॥
है घनश्याम वारिधर ? है या गिरिधर श्याम सुजान ? ।
उमड़ा घन नूतन ? या आये वर मोहन रसखान ? ॥
नव-जलधरमें इन्द्रधनुष है ? या है सिर शिखि-पक्ष ? ।
बक-पाँती उड़ रही ? हिल रही मुक्त-माल या वक्ष ? ॥

घन-तनपर बिजली है ? या है मोहन-तन पट पीत ?।
मन्द मेघगर्जन है ? या है प्रियका मुरली-गीत ?॥
सजनी ! जाओ तुरत, बताओ आ मुझको सब बात।
हँस बोलीं—सखि ! माधवसे मिल करो सुशीतल गात॥

अरी ललिते, विशाखे ! देखो तो कुञ्जके द्वारपर वह कौन खड़ा है ? जरा भी देर न करो। (दीखते तो हैं श्यामसुन्दर ही, पर मेरा भ्रम भी हो सकता है—देखो तो—) यह जलधर श्याममेघ है, या गिरिधारी सुजान मेरे श्याम हैं ? जलभरा बादल ही उमड़ आया है या रसकी खान मोहन घर पधारे हैं ! (श्यामसुन्दरके मस्तकपर मोर-पंख देखकर कहने लगीं—) नवीन जलधर मेघमें यह बहुरंगा इन्द्रधनुष दिखायी दे रहा है या श्यामसुन्दरके सिरपर मयूर-पक्ष लहरा रहा है ! (श्रीकृष्णके वक्षःस्थलपर उज्ज्वल मोतियोंका हार देखकर बोलीं—) यह बगुलोंकी कतार उड़ी जा रही है या प्रियतमके हृदयपर मुक्तामाला हिल रही है ! (फिर प्रियतमके चमकते हुए पीताम्बरको देखकर पूछने लगीं—) यह मेघके शरीरपर बिजली कौंध रही है या प्यारे मोहनके तनपर पीला वस्त्र फहरा रहा है ! (तदनन्तर श्यामकी मधुर मुरलीकी ध्वनि सुनकर कहती हैं—) यह मेघका मृदु गर्जन है या प्रियतमका मधुर वंशी-गान है ! सजनी ! जाओ और लौटकर मुझे सब बातें तुरंत बताओ। श्रीराधाजीकी बात सुनकर दोनों सखियोंने हँसकर कहा—प्यारी सखी ! मेघ नहीं है, तुम्हारे प्रियतम माधव ही हैं, उनसे मिलकर अपने शरीरको सुशीतल करो !

झाँकी ४८

बड़ी वियोगवेदनाके पश्चात् आनन्द-प्रेम-सुधासिन्धु प्रियतम श्यामसुन्दरके एकान्तमें दर्शन पाकर श्रीराधाजी उनके चरण पकड़कर बैठ गयीं और कहने लगीं—

मेरे इस प्रणको सुन लो हे मेरे प्राण-प्राण सर्वस्व।
छोड़ूँगी अब मैं न परम निधि बहुत दिनोंपर मिला निजस्व॥

हे प्राणोंके प्राण, मेरे सर्वस्व! मेरे इस प्रणको सुन लो। बहुत दिनोंके बाद मेरे अपने परम निधिरूप तुम मुझे मिले हो, अब मैं तुमको कभी नहीं छोड़ूँगी।

तुम मैं एक हृदय हैं दोनों, एक प्राण हैं दोनों नित्य।
जान रही मैं इसे—यही है हम दोनोंका तात्त्विक सत्य॥
पर मैं नहीं जानती, नहीं बता सकती क्यों हुआ वियोग?
अति संतप्त जल रही थी कर रही भयानक पीड़ा भोग॥
यह भी सत्य, सदा देते रहते थे तुम दर्शन-आनन्द।
खेल रहे लीलामय तुम छिपने दिखनेका खेल अमंद॥

तुम और मैं नित्य एक-हृदय हैं, नित्य एक-प्राण हैं, मैं इसे जान रही हूँ। यही हम दोनों ही तात्त्विक सत्यस्वरूप हैं। परंतु मैं न तो जानती हूँ और न बतला ही सकती हूँ कि हमलोगोंका यह वियोग क्यों हो गया? सचमुच मैं इस वियोगकी आगमें अत्यन्त संतप्त हुई जल रही थी और भयानक पीड़ा भोग रही थी। साथ ही यह भी सत्य है कि इस वियोगमें भी हे लीलामय! तुम सदा-सर्वदा मुझे अपने मधुर दर्शनका आनन्द देते रहते थे। मानो तुम छिपने-प्रकट होनेका (आँखमिचौनीका) श्रेष्ठ खेल कर रहे थे।

अब तो बाहर भी मैं तुमको सहज पा गयी हूँ प्रिय! आज।
भीतर-बाहर, पद-तलमें अब पड़ी रहूँगी तज सब लाज॥

खाने, पीने, सोने, उठनेमें मैं सदा रखूँगी साथ।
कभी नहीं हटने दूँगी, मैं नहीं हटूँगी, मेरे नाथ! ॥
मिटी सभी ममता अग-जगसे हुई सभीमें समता प्राप्त।
रहा एक बस, तुममें ही मेरा सम्बन्ध मधुर नित व्याप्त ॥
नहीं कामना भोग-मोक्षकी किंचित् भय-लज्जा न विषाद।
हुई मत्त पीकर मैं प्रियतम प्रेम-सुधामद दिव्य प्रसाद ॥

अब तो हे प्रियतम! मैं तुमको आज बाहर भी पा गयी हूँ। अतः अब बाहर-भीतर सदा ही मैं सारी लज्जा-संकोच छोड़कर तुम्हारे चरणतलमें ही पड़ी रहूँगी। खाने-पीने, सोने-उठनेमें मैं सदा-सर्वदा तुमको अपने साथ रखूँगी। कभी भी तुम्हें हटने नहीं दूँगी और मेरे नाथ! न मैं ही हटूँगी। अग-जगसे (सब प्राणी-पदार्थोंसे) मेरी सारी ममता मिट गयी है। सबमें समता प्राप्त हो गयी है। अब तो मेरा बस, मधुर सम्बन्ध एकमात्र तुम्हींमें नित्य व्याप्त हो गया है। न कहीं भोग-मोक्षकी कामना रही है और न कहीं तनिक भी भय, लज्जा और विषाद ही रह गया है! मेरे प्रियतम! मैं तुम्हारे प्रेमामृतरूप दिव्य मद—प्रसादको पीकर मत्त (पगली) हो गयी हूँ।

प्रियतम श्यामसुन्दर बोले—

बोले प्रियतम राधे! हम तुम नित संयुक्त नित्य हैं एक।
अमिलन-मिलन रस-सुधास्वादन कर रखते सुप्रेमकी टेक ॥

प्रियतमने कहा—राधिके! हम-तुम दोनों नित्य ही मिले हुए हैं, नित्य ही एक हैं। यह अमिलन-मिलन (वियोग-संयोग) प्रेम सुधा-रस है, इसका आस्वादन करके हम श्रेष्ठ प्रेमकी मर्यादारक्षा करते हैं। प्रेमलीला करते हैं!

झाँकी ४९

प्रेम ही मधुर है और वह मधुर प्रेम अत्यन्त दिव्य, परम त्यागमय तथा भोगासक्ति, भोगकामना और भोग-वासनासे सर्वथा रहित केवल प्रेमास्पद-सुख-रूप होता है। यही प्रेम श्रीश्रीव्रजाङ्गनाओंको प्राप्त है। इसका प्रधान हेतु है उनका सर्वस्वत्याग—इसीसे वे सर्वात्मा भगवान्‌को सर्वात्मभावसे नित्य प्राप्त हैं। उनके भावकी पवित्र मूर्तिका चित्रण शब्दोंके द्वारा संसारमें आजतक न कोई कर सका है, न कर सकेगा। वह अनिर्वचनीय और अचिन्त्य है। प्रतिक्षण-वर्धमान स्वभाव होनेसे वर्णन करनेकी चेष्टा करते-करते ही उसका स्वरूपविकास होता चला जाता है। मनमें आये हुए चित्रकी आभासे विलक्षण दूसरी विशेष आभाका उदय हो जाता है। एक मनोभावनाके चित्रमें वियोगपीड़िता श्रीगोपाङ्गनाओंके बीचमें सहसा प्रकट होकर प्रियतम परम प्रेमास्पद श्रीश्यामसुन्दर उनसे कहते हैं—

तुम लोगोंसे हुआ न होगा कभी प्रेमदेवियो! वियोग।
दिव्य नित्यलीलामें रहता है अविच्छिन्न नित्य संयोग॥

प्रेमकी देवियो! तुमलोगोंसे मेरा (तुम्हारे प्रेमास्पद भगवान्‌का) वियोग न कभी हुआ है, न होगा। दिव्य नित्यलीलामें मेरा-तुम्हारा सदा ही कभी न टूटनेवाला संयोग बना रहता है।

जैसे रहता छिपा सूर्य कुहरेमें होता नहीं प्रकाश।
वैसे ही वियोग-क्रन्दनमें रहता छिपा नित्य मैं पास॥

पर वियोगकी स्थितिमें जब तुम्हारी क्रन्दन-ध्वनि उठती है, तब मैं वैसे ही छिपा हुआ सदा तुम्हारे पास रहता हूँ, जैसे कुहरेमें सूर्य (प्रकाशित रहनेपर) छिपकर रहता है, प्रकट नहीं होता।

होता मैं उस काल देखकर मुग्ध तुम्हारे भाव अनन्य।
विरह-दुःख अति स्मृति-सुख युगपद् दिव्य देख कह उठता धन्य॥

उसे वियोगदशामें मैं तुम्हारे अनन्य प्रेमके भावोंको देख-देख मुग्ध होता रहता हूँ और एक ही साथ दिव्य अत्यन्त भीषण विरह-दुःख तथा अत्यन्त स्मृति-सुखको देखकर मैं 'धन्य-धन्य' पुकारने लगता हूँ।

जगत, जगतके सुख, इन्द्रिय, इन्द्रियके सभी अर्थका त्याग।
मन मति इह पर भूल विरह कातर होती मन भर अनुराग॥
अमिलनमें तुम देख वदन विधु यों बन जाती चारु चकोर।
हो प्रमुदित उन्मत्त नृत्य करने लगता तब मानस मोर॥

जब तुम जगत्को, जगत्के सुखोंको, इन्द्रियोंके सभी अर्थोंको और इन्द्रियोंको भी त्यागकर, मन, बुद्धि, इहलोक-परलोक सबको भूलकर, मनमें मेरा शुद्ध प्रेम भरकर विरह-कातर हो जाती हो और फिर तुरंत ही उस अमिलनमें मेरे मुखचन्द्रको देखकर सुन्दर चकोर बन जाती हो, मनकी आँखोंमे निर्निमेष होकर दृष्टि जमा देती हो, तब मेरा मानस-मयूर प्रमुदित, उन्मादित होकर नृत्य करने लगता है।

बढ़कर मैं मन-बुद्धि, प्राण, इन्द्रिय, सब अर्थ तुम्हारे रूप।
बनता फिर उनका अनन्य आश्रय मैं करता नित्य विहार॥

नव किशोर नटवर मुरलीधर मोर-पिच्छ-सिर मोहन रूप ।
प्रियतम सदा तुम्हारा नित नव वर्धन प्रेमानन्द अनूप ॥

उस समय मैं स्वयं ही सचमुच तुम्हारे मन-बुद्धि, प्राण, इन्द्रिय और इन्द्रियोंके सब विषय बन जाता हूँ और मैं ही उन सबका एकमात्र आश्रय बनकर नित्य सबसे मिलाप करता रहता हूँ—तुम्हारे उसी प्रियतम नित्य नवकिशोर, नटवर-वपु, मुरलीधर, मस्तकपर मोरपिच्छ धारण किये हुए मोहनरूपमें, जो सदा तुम्हारा नित्य-नवीन प्रेम तथा नित्य नवीन आनन्द बढ़ानेवाला परम अनुपम प्रियतम है ।

अतुल त्यागसे उदित तुम्हारे सहज प्रेमसे मैं भगवान ।
रहता मिला सदा ही तुमसें बाहर-भीतर सदा समान ॥
भोग-जगतसे ऊपर उठकर तुमने मुझे ले लिया मोल ।
प्रेम-सुधा-हित सदा तुम्हारे, ललचाता मन रहता लोल ॥

गोपाङ्गनाओ ! तुम्हारे अतुलनीय त्यागसे उत्पन्न तुम्हारे सहज प्रेमके कारण मैं षडैश्वर्यसम्पूर्ण स्वयं भगवान् तुम्हारे बाहर-भीतर—(संयोग-वियोगकी दशामें) सदा ही तुममें समान भावसे—अत्यन्त एकरस प्रेम-भावसे मिला रहता हूँ । भोग-जगत्से ऊपर—परम निष्काम अत्यन्त विशुद्ध प्रेमजगतमें—उठकर तुमने मुझे खरीद लिया है, इसीसे मेरा मन नित्य-निरन्तर तुम्हारे प्रेमामृतके लिये ललचाता हुआ चञ्चल बना रहता है ।

इन्द्रिय-भोग-स्वर्ग-सुख कामी मोक्षाकांक्षी भी धीमान ।
मुझे नहीं पा सकते वैसे, जैसे तुम पा चुकी समान ॥

अतएव तुमलोगोंने जिस रूपमें मुझको अनन्तरूपमें प्राप्त कर लिया है, उस रूपमें इन्द्रिय-भोग-कामी और स्वर्गसुखकी कामनावाले तो मुझे पा ही नहीं सकते। बुद्धिमान् मोक्षाकाङ्क्षी भी वैसे नहीं पा सकते।

मेरी श्रद्धा, सेवा, महिमाका रहस्य जो गोपन शुद्ध।
उसे यथार्थ जानती हो तुम जगत-वासना-शून्य विशुद्ध॥
मेरे सभी मनोरथ होते उदित यथार्थ तुम्हारे चित्त।
प्रिय अति मुझे इसीसे तुम त्यों, ज्यों प्रिय अति निर्धनके वित्त॥

मेरी श्रद्धा, मेरी सेवा, मेरी महिमाके गुप्त विशुद्ध रहस्यको भोगवासनासे सर्वथा शून्य विशुद्ध जीवनवाली तुम्हीं लोग यथार्थरूपसे जानती हो। मेरे मनके सभी मनोरथोंका यथार्थरूपमें तुम्हारे ही चित्तोंमें उदय होता है, इसीसे तुमलोग मुझे वैसे ही अत्यन्त प्रिय हो जैसे निर्धनको धन अत्यन्त प्रिय होता है।

कभी किया हो जिसने आनँदमयको यों आनन्दविभोर।
सदृश तुम्हारे तुम्हीं, जगत्‌में हुआ न कोई तुम-सा और॥

जिसने कभी सच्चिदानन्दरूप भगवान्‌को अपने मधुर भावसे इस प्रकार आनन्दविभोर कर दिया हो, ऐसा जगत्‌में तुम्हारे-सरीखा आजतक कोई भी नहीं हुआ। बस, तुम्हारे सदृश तो तुम ही हो।

त्यागकी पराकाष्ठासे ही प्रेमका प्रादुर्भाव होता है और इस वास्तविक प्रेमसे ही प्रेमास्पदरूपसे भगवान् वियोग-संयोग दोनोंमें ही नित्य वर्तमान रहते हैं। कितना मधुर है!



झाँकी ५०

मग जोहति मन व्यथित भामिनी !
प्रियतम अजहुँ कुंज नहिं आये, बीति रही मधुमयी जामिनी ॥
छटपटात अति प्रान मिलन कौं, चंदवदनि सौंदर्य-धामिनी ।
प्रेममयी प्रानेश्वरि राधा, साधारण नहिं जगत्-कामिनी !
हाय ! हाय ! क्यों प्रिय नहिं आये, बिलखि बिसूरति हृदयस्वामिनी
छायौ अति बिषाद उर अंतर मति भइ संतत सोक-गामिनी ॥

निकुञ्जमें बैठी भामिनी मार्ग देख रही है । प्रियतम अभीतक निकुञ्जमें नहीं आये । मधुमयी रजनी बीती जा रही है, इससे उसका मन व्यथित है । उस विधुवदनी सौन्दर्यधामिनीके प्राण अपने प्रियतमसे मिलनेके लिये अत्यन्त छटपटा रहे हैं । वह कोई साधारण संसारी स्त्री नहीं है । स्वयं प्रेममयी प्रियतमप्राणेश्वरी श्रीराधा है । वह अपने प्राणधन श्रीकृष्णके हृदयकी स्वामिनी है, उनके हृदयपर उसका अधिकार है । वही बिलख-बिलखकर विसूरती हुई पुकार रही है—हाय ! हाय ! अभीतक प्रियतम क्यों नहीं आये ! उसके हृदयके भीतर अत्यन्त विषाद छा रहा है और उसकी बुद्धि-वृत्ति निरन्तर वियोगजनित शोककी ओर प्रवाहित हो रही है ।

आय दूती ने बात कही ॥
चंद्रावलि की कुंज सिधारे साँवर आजु सही।
सुनत प्रफुल्लित भई राधिका धीरज सहज गही ॥
उठी अमित आनंद-लहर उर मानस-सिद्धि कही।
चंद्रावलि सम नहीं कितहुँ कोउ सुंदरि अन्य मही ॥
मधुर सुहासिनि चतुर विलासिनि, गुन समूह उमही।
मैं नित ही कहती पियतें, 'तुम क्यों न जाउ उतही' ॥
सुनी नाय पिय विनय कबहुँ उलटे मो कूँ डलही।
दूती ! भयो बिधाता दच्छिन मनकी होय रही ॥

(प्रियतमके हृदयपर इतना अधिकार है और ऐसी विलक्षण व्याकुल प्राणोंकी प्रतीक्षा है। प्रियतम उसके हैं और उसे मिलने ही चाहिये, क्यों नहीं आये अबतक।) इतनेमें ही एक दूती आती है और वह यह बात कहती है कि राधे ! आज तो सचमुच श्यामसुन्दर चन्द्रावलीजीकी कुञ्जमें पधार गये हैं।' (साधारण कामसेविका स्त्री होती, तो यह सुनकर मर्माहत हो जाती, रोती, क्षुब्ध और क्रुद्ध होती, पर श्रीराधिका तो सर्वोपरि पूर्ण महान् त्यागकी ही सजीव मूर्ति हैं।) वह दूतीके मुखसे यह सुनते ही प्रफुल्लित हो गयी। प्रियतमके वियोगमें जो धैर्य छूट चुका था, वह सहज ही पुनः ग्रहण हो गया। उसके हृदयमें आनन्दकी अपरिमित लहरें उठने लगीं। उसने अनुभव किया, अहा ! आज मेरा मनोरथ सिद्ध हो गया। इस पृथ्वीतलपर चन्द्रावलीके समान कहीं भी कोई सुन्दरी नहीं है। वह मधुर मृदु-हासिनी तथा परम विलासचतुरा है; उसमें गुणसमूहोंकी बाढ़ आयी हुई है। मैं नित्य ही प्रियतमसे कहा करती—प्यारे ! तुम चन्द्रावलीकी कुञ्जमें क्यों

नहीं पधारते !' मैं चाहती थी वे वहाँ जाकर वास्तवमें अपने योग्य अधिकारिणीको पाकर सुखी हों; परंतु प्रियतमने मेरी यह विनती कभी नहीं सुनी और ऐसा कहनेके लिये उलटे मुझे उलाहना ही दिया। (यह सब सोचकर प्रेममयी श्रीराधिकाने दूतीसे कहा—) दूती ! आज विधाता मेरे दक्षिण हो गया है, इसीसे आज मेरे मनकी बात हो गयी !'

निरखि न्यौछावर प्राणपियारे ॥
भाव प्रियाके परम मनोहर जग की विधि तैं न्यारे।
पठई हुती स्वयं दूती, छिपि ठाढ़े एक किनारे॥
व्याकुल दसा देखि प्यारी की निज वियोग मन हारे।
निरखि नयन तैं भाव प्रिया के आँसू ढारत प्यारे॥
प्रिया हृदय के भाव मधुरतम, सुचि, प्रिय, सुखमय सारे।
देखन कौं मन जग्यो मनोरथ, नहीं टर्यौ सो टारे॥
देखि प्रिया कौ सुखमय मुख अब, छूटे प्रेम-फुहारे।
पिय कौं सनमुख देखि सलज भये प्रिया नयन अरुनारे॥

(राधा-हृदयविहारी और राधासमर्पित-हृदय प्रियतम श्रीश्यामसुन्दर श्रीकृष्ण जिस समय निकुञ्जमें पधारे थे, उस समय श्रीराधा वियोगव्यथित हृदयसे निकुञ्जमें बैठी उनकी आतुर प्रतीक्षा कर रही थी।) उन्होंने अपने वियोगमें प्रियतमा श्रीराधाजीकी यह व्याकुल दशा देखी। उनके मनको हरण कर लिया राधाकी इस विचित्र प्रेम-समाधिस्थ मूर्तिने। वे अपने नेत्रोंसे प्रियतमा श्रीराधाके इन भावोंको देखकर प्रेमाश्रु बहाने लगे। वे जानते थे कि प्रियतमा श्रीराधिकाजीके हृदयके सभी भाव पवित्र, अत्यन्त प्रिय, मधुरतम

एवं सुखमय हैं, अतएव वे प्रकट नहीं हुए। उनके मनमें श्रीराधा-हृदयके और भी पवित्र भावोंको देखनेकी लालसा जाग उठी, उन्होंने चाहा कि ऐसा न किया जाय, परंतु वह मनोरथ उनके मनसे हटाये भी न हटा। तब उन्होंने एक दूतीको समझाकर चन्द्रावलीकी कुञ्जमें पधारनेकी बात कहनेको भेजा और स्वयं राधा-भावोंके मधुरतम पवित्र रसका आस्वादन करनेके लिये एक किनारे छिपकर खड़े हो गये। (दूतीने आकर जब राधाको समाचार सुनाया और सुनते ही राधा अपने वियोगदुःखको सर्वथा भुलाकर प्रियतमके सुखकी सम्भावनासे प्रफुल्लित होकर जो भाव प्रकट करने लगी, उनको प्राणप्रियतमने स्वयं देखा।) प्रियतमा श्रीराधाके वे परम भाव सर्वनियन्ता, सर्वेश्वर, पूर्णकाम, मुनिमनहारी स्वयं भगवान् श्रीकृष्णका भी मन हरण करनेवाले हैं; क्योंकि वे जगत्की पद्धतिसे सर्वथा विलक्षण हैं। (जगत् स्व-सुखके लिये रोता है और प्रेममूर्ति राधिका प्रियतम-सुखमें ही सुखका अनुभव करती है।) उन्होंने देखा प्रियतमाका मुख सुखमय हो रहा है—कहीं भी जरा भी कमी नहीं है, तब उनके प्रेमके फुहारे छूट निकले और उन्होंने अपनेको राधापर न्योछावर कर दिया। तदनन्तर मुसकराते हुए वे श्रीराधाके सामने आ गये। प्रियतमको सम्मुख पाकर श्रीराधाके अरुणिम मधुर नेत्रोंपर सहज ही लज्जाकी छाया आ गयी। धन्य!

यह परम त्याग राधा-प्रेमकी अलौकिकता तथा विलक्षणताका पावन संकेत करता है।

झाँकी ५१

श्रीश्यामसुन्दरके प्रेममें सनी हुई सर्वस्व समर्पण कर चुकनेवाली एक श्रीगोपाङ्गना अपनी प्रिय सखीके पूछनेपर उससे अपनी स्थितिका वर्णन करती है—

सखी हौं प्रीतम-प्रीति पगी ।
गति मति रति सब स्याम, रहौं हौं उन में लगी-पगी ॥
कौन काम, कैसैं, कब करिबो, कहाँ कौन के संग ।
सब कछु करैं करावैं वेई, रचैं नित नए ढंग ॥
पालन, परिचालन, चिंतन, सब भले बुरे ब्यौहार ।
वेई करैं, जहाँ जब जैसो, उनको होय विचार ॥
दोष, अभाव, भूल, भ्रम, त्रुटिकौ सोच न कछु मन आन ।
सोच-बिचार करन कौ मोकूँ नहिं कछु ग्यानाग्यान ॥
कठपुतरी उनके कर की हौं, निज मन मोहि नचावैं ।
खेल खिलावैं, जो कछु तिन मेरे प्रिय के मन भावैं ॥

मोय बनाय बावरी राखी, सुध-बुध रही न नेक।
तन-मन-धन-चेतन मेरे सब, मुरलीवारे एक॥

सखी! मैं तो प्रियतम श्यामसुन्दरके प्रेममें डूब गयी। वे श्यामसुन्दर ही मेरी गति हैं, वे ही मेरी बुद्धि हैं, वे ही मेरी रति हैं। सब कुछ वे ही हैं, मैं सदा उन्हींमें उन्हींसे सराबोर रहती हूँ। कौन-सा काम किस प्रकार कब करना है, किसके साथ कब कहाँ कुछ करना है,—सब कुछ वे प्रियतम श्यामसुन्दर ही करते-कराते हैं। वे नित्य नये ढंग रचा करते हैं। पालन, परिचालन, मनका चिन्तन, सब प्रकारके भले-बुरे व्यवहार, जब जहाँ जैसा उनका विचार होता है, अपने विचारके अनुसार वे ही किया करते हैं। दोष, अभाव, भूल, भ्रम, त्रुटि आदिका मेरे मनको कुछ भी पता नहीं है। न किसी प्रकारका सोच-विचार करनेका ही मेरे पास विवेक या अविवेक है। मैं तो उनके हाथकी कठपुतली हूँ। वे अपने मनसे मुझे नचाते रहते हैं (मैं उसमें किंतु-परंतु करना जानती ही नहीं)। जैसा जो कुछ उन मेरे प्रियतमके मन भाता है, वैसे खेल खेलाते हैं। मुझको तो उन्होंने पगली बना रक्खा है। मुझमें ज़रा भी सुध-बुध (होश-हवास) नहीं रह गयी है। मेरे सब तन, मन, धन ही नहीं, मेरे आत्मा भी वे एकमात्र मुरलीधर श्यामसुन्दर ही हैं।

कितना कैसा मधुर पूर्ण समर्पण है! भगवान्‌के प्रति किस प्रकार अपने-आपको समर्पित करना चाहिये—इसका परम सुन्दर आदर्श है।

झाँकी ५२

पूर्णतम समर्पणकी परम आदर्श जीवित प्रतिमा श्रीराधाजी अपनी कायव्यूहरूपा गोपाङ्गनाओंमें अन्यतम कुछ सखियोंसे घिरी बैठी हैं। बड़ी ही पवित्र दिव्य मधुर चर्चा हो रही है। इसी बीचमें एक अन्तरङ्ग सखीने 'श्रीश्यामसुन्दरके साथ श्रीमतीजीका क्या सम्बन्ध है और उस सम्बन्धका क्या स्वरूप है'—यह जानना चाहा। तब श्रीराधाजीके श्रीमुखसे त्यागकी पराकाष्ठारूप परिपूर्ण समर्पण तथा एकात्मताको सिद्ध करनेवाले निम्नलिखित उद्गार निकले—

मैं तो सदा वस्तु हूँ उनकी, उनकी ही हूँ भोग्य महान्।
मेरी पीड़ा, मेरे सुखका, इसीलिये उनको ही ज्ञान॥
मेरे तनका घाव तथा मेरे मनकी जो व्यथा अपार।
उसके सारे दुःख दर्दका वही वहन करते हैं भार॥

'मैं तो सदा-सर्वदा उन्हींकी वस्तु हूँ और उन्हींकी एकमात्र महान् भोग्या हूँ। वस्तु कैसी है—मीठी है या खारी, इसका पता जैसे उसे खानेवालेको होता है, वैसे ही मैं एकमात्र उन्हींकी भोग्य होनेके कारण मेरे दु:ख-सुखका, मेरी पीड़ा और मेरे आनन्दका भी सारा ज्ञान केवल उन्हींको है। मेरे तनके घाव और मेरे मनकी अपार पीडा, मेरे सारे दु:ख-दर्द सबका वही अनुभव करते हैं। सबका सारा भार वही मेरे प्रियतम वहन करते हैं।

अगर किसी मेरे सद्गुणसे होता है उनको आह्लाद।
तो वह सद्गुण भी है दिया उन्हींका अपना कृपा-प्रसाद॥
जीवन उनका, मति उनकी, मन उनका, तन उनका ही धन।
वे ही इन्हें सुरक्षित रक्खें, तोड़ें फोड़ें मारें घन॥

'मुझमें कोई सद्गुण देखकर यदि उनको आह्लाद होता है तो वह सद्गुण भी तो उन्हींका दिया हुआ है, उन्हींका तो कृपा-प्रसाद है। आह्लादिनी शक्ति उन्हीं आनन्दमय-आह्लादमयकी ही तो वस्तु है। यह सारा जीवन ही उनका है, बुद्धि उनकी है, मन उनका है, शरीर भी उन्हींका धन है, वे ही चाहें तो इन सबको सुरक्षित रक्खें, चाहें तो घनोंकी मारसे सबको तोड़-फोड़ डालें।

जैसे रुच जो कुछ करवावें और नचावें थनन थनन।
कटु कुत्सावें, गीत गवावें, कहलावें अति मधुर वचन॥
सुग्गा नहीं जानता कुछ भी अर्थ बोलता—'राधेश्याम'।
जिसने उसे सिखाया है, उसका ही अर्थ जानना काम॥
स्वयं मधुर संगीत सिखाकर, सुनते करते यदि यश-गान।
वह यशगान उन्हींका अपना, करे किस तरह शुक अभिमान॥

'वे जब, जैसे, जो कुछ भी करवाना चाहें, करवायें; शान्त कर दें या थनन-थनन नचा दें। कठोर बुलवावें, मधुर बुलवावें या मधुर-मनोहर वचन कहलावें। अपनी वस्तुको चाहे जैसे काममें लें। मैं तो कुछ भी जाननेवाली रही ही नहीं। जैसे तोता 'राधेश्याम' बोलता है, पर उसका कुछ भी अर्थ नहीं जानता। जिसने उसे 'राधेश्याम' बोलना सिखाया, अर्थ जानना भी उसीका काम है। शुकको वे आप ही मधुर संगीत सिखायें, आप ही उससे गवाकर सुनें और फिर आप ही उसके संगीतका यश गायें; तो यह वास्तवमें उनका अपना ही यशगान होता है। तोता बेचारा किस प्रकार क्या अभिमान करे। वह तो सब कुछ उनके कराये करता है।

जीवनमें अपना मधु भर वे करें स्वयं उस मधुका पान।
यों अपने सुखसे ही हों वे सुखी, व्यर्थ दें मुझको मान॥
पर जब मेरा नहीं कहीं भी कुछ भी रहा पृथक् अस्तित्व॥
तब सुख-मान सभी हैं उनके, क्योंकि सभी उनका कर्तृत्व॥

'मेरे जीवनमें उन्होंने अपना ही मधु भर दिया है (मुझमें तो कुछ था ही नहीं) और अब वे स्वयं ही उस मधुका पान भी कर रहे हैं;—यों वे सदा अपने ही सुखसे सुखी हो रहे हैं। 'मुझसे उनको सुख मिलता है,' यह कह मुझे तो व्यर्थ ही मान दे रहे हैं। परन्तु जब मेरा कहीं भी कुछ भी पृथक् सत्ता रही ही नहीं, तब यह सब सुख भी उनका अपना ही है और सारा मान भी उनका ही; क्योंकि सब करनेवाले तो वही हैं।

मेरा यह 'सम्बन्ध' श्याममें, श्याम बने मेरे आकार।
तन-मन-वचन, भोग्य-भोक्ता सब, वे ही हैं आधेयाधार॥
यदि मेरा अपना कुछ भी हो, छिपा कहीं भी हो कुछ भाव।
आग लगे उसमें इस ही क्षण, हो जावे अत्यन्ताभाव॥

'मुझमें और मेरे प्रियतम श्यामसुन्दरमें यह सम्बन्ध है। श्यामसुन्दर ही मेरे आकारमें अपनेको बनाये हुए हैं। मेरा शरीर, मन, वाणी तथा भोग्य और भोक्ता सब वे ही हैं। वे ही आधेय हैं और वे ही आधार हैं। मैं या मेरा कहीं कुछ है ही नहीं और यदि कहीं भी मेरा 'अपना' कुछ भी छिपा हो, कुछ भी 'मेरा' भाव अवशेष हो तो उसमें इसी क्षण आग लग जाय। उसका अत्यन्त अभाव हो जाय।'

× × ×

प्रश्न करनेवाली सखीके साथ ही वहाँ विराजित सभी सखियाँ प्रेमसागरमें लहराने लगीं। यह त्याग-प्रेमकी सिद्धान्त तथा स्वरूप-चर्चा अत्यन्त प्रिय थी सबको। चर्चा आगे चले—इस सहज भावसे एक अन्य सखीने प्रश्न किया—'आपके इस 'सम्बन्ध'में आप दोनों क्या करते हैं। किस प्रकारकी आपकी स्थिति होती है?'' इसपर राधारानीने सहज ही श्रीश्यामसुन्दर प्रेरित शब्दोंमें यह बतलाते हुए कि 'वहाँ एक ही परमतत्त्व शक्तिमान और शक्तिके रूपमें, आह्लादिनी और आह्लादके रूपमें रसमयी और पूर्ण रसके रूपमें लीलायमान रहते हैं'—समझने-समझानेकी-सी चेष्टा की और मानो अतीतकी बात कह रही हैं—इस भावसे निम्नलिखित शब्दोंमें अपने कहा—

बच रहे थे दो, नहीं जग-भान था । लोकसत्ताका मिटा सब ज्ञान था ॥
नहीं कुछ कर्तव्य मनमें शेष था । नहीं तिलभर जगत्-स्मृतिका लेश था ॥
मिट गया सब भोगका अस्तित्व था । कर्म था न कहीं तनिक कर्तृत्व था ॥
मैं तथा मेरे हृदय-धन-श्याम थे। खेलते रहते सदा अविराम थे॥

'उस समय हम दो ही शेष थे, जगत्का भान ही नहीं था, लोकसत्ताका सारा ज्ञान मिट चुका था, इसलिये कहीं कुछ भी कर्तव्य मनमें शेष नहीं था । जगत्की स्मृतिका तिलभर लेश भी नहीं था । समस्त भोगोंका अस्तित्व मिट गया था, न कोई कर्म था, न कहीं तनिक भी कर्त्तापन था । मैं थी और थे मेरे हृदयधन श्रीश्यामसुन्दर ! हम दोनोंमें सदा-सर्वदा अविराम खेल चल रहा था ।

थी नहीं मनमें कहीं कुछ वासना । थी नहीं कुछ भी किसीकी त्रासना ॥
अखिल प्राणिपदार्थ थे मनसे हटे । सभी ममता-रागके बन्धन कटे ॥
श्याम शेषी, मैं उन्हींकी शेष थी । एक यह 'प्यारी अहंता' शेष थी ॥
एक 'प्रिय' हैं, 'प्रिया' उनकी एक मैं । एक 'वे' बस, दूसरी हूँ एक 'मैं' ॥
नहीं दो से भिन्न कुछ भी था कहीं । सब सिमट मिट कर समाया था यहीं ॥

'मनमें न कहीं कुछ भी वासना थी । वासनाके लिये कोई भोग था ही नहीं और न कहीं किसीका कुछ भी भय था; क्योंकि तीसरा कोई था ही नहीं । सारे प्राणी-पदार्थोंकी सत्ता मनसे हट चुकी थी और ममता-आसक्तिके समस्त बन्धन कट चुके थे । एकमात्र शेषी श्रीश्यामसुन्दर थे और एकमात्र मैं उनकी शेष थी । बस, एकमात्र यही 'प्यारी अहंता' बच रही थी । एक 'प्रियतम' हैं और एक मैं उनकी 'प्रियतमा' हूँ । एक 'वे' हैं और दूसरी एक 'मैं' हूँ । इन दोके अतिरिक्त और कुछ भी कहीं था ही

नहीं। सब सिमटकर, सब मिटकर यहाँ हम दोमें ही समा गया था।

चल रही दो में सदा रँगरेलियाँ। हो रही थीं सुखमयी रस-केलियाँ॥
था नहीं व्यवधान कोई भी कहीं। एक ही दो बने लीलारत वहीं॥

'बस हम दोमें नित्यरँगरेलियाँ चल रही थीं, नित्य सच्चित्-सुखमयी रस-क्रीडा हो रही थी। कोई भी व्यवधान नहीं था। वहाँ एक ही दो बनकर लीलापरायण थे।

× × ×

दो मिटे, फिर, एक ही बस हो गये। भेद सारे सब तरहके खो गये॥
मैं समायी श्याममें हो श्याम ही। प्रिया बन मुझमें समाये श्याम भी॥
कौन जाने श्याम हैं या राधिका? नहीं अब आराध्य हैं, आराधिका॥
सब तरह घुल-मिल हुए बस, एक हैं। इन्द्रियाँ, मन, चित्त, मति न अनेक हैं॥
सभी अवयव अंग आपसमें मिले। एक ही प्रिय मधुरिमासे हैं खिले॥
एक थे पहले, अभी भी एक हैं। यही दोनोंकी मधुमयी टेक है॥

'फिर दो नहीं रहे, बस, एक ही हो गये। सब प्रकारके सारे भेद खो गये। मैं श्यामसुन्दर बनकर श्यामसुन्दरमें समा गयी और श्यामसुन्दर भी अपनी प्रियतमा (मेरा) रूप बनकर मुझमें समा गये। अब कौन जानता है—श्याम हैं या राधिका हैं? न अब कोई आराध्य रहे और न कोई आराधिका (आराधना करनेवाली) ही है। सब प्रकार घुल-मिलकर दोनो बस एक हैं। इन्द्रिय, मन, चित्त, बुद्धि कोई भी दो नहीं रहे। सभी अवयव—सभी अङ्ग परस्पर मिलकर एक हो गये। एक ही प्रियतम अपनी मधुरिमामें खिल उठे। पहले भी एक ही थे, अब भी एक ही हैं, दो बने रहते समय भी दोनोंकी यही मधुमयी टेक निश्चित स्थिर है।'

झाँकी ५३

(१)

श्रीकृष्णस्वरूपभूता, श्रीकृष्णप्रेममयी, नित्यरासेश्वरी, नित्य-निकुञ्जेश्वरी, श्रीकृष्णाराध्या और श्रीकृष्णराधिका श्रीराधिकाजीका श्रीकृष्णानुराग परम विशुद्ध, अनन्य, परम-त्याग और पूर्ण-समर्पणमय है। इस प्रकारके दिव्यानुरागका उदय हो जानेपर फिर अन्य किसी भी प्राणी, पदार्थ, परिस्थितिमें—किसी भी गति, सद्गति, परम गतिमें भी कोई भी रति नहीं रह जाती। परम प्रियतम श्रीश्यामसुन्दर ही उसके तन-मन-वचन-प्राण, भाव-क्रिया-चेष्टा आदि बनकर अपने-आपमें ही सब कुछ करते-कराते रहते हैं। श्रीकृष्ण स्वयं ही परस्पर परम प्रिय नित्य दो (राधा-कृष्ण) पृथक् रूपोंमें रसास्वादन करते और रसास्वादन कराते रहते हैं। वे ही आस्वाद्य हैं, आस्वादन हैं और वे ही आस्वादक हैं। वे ही वहाँ अविरामरूपसे अतुलनीय अपरिमित दिव्य रस-सुधा बरसाते रहते हैं और उस रस-सुधाकी पवित्र मधुर स्रोतस्विनीमें अवगाहन कर, उस रससुधाका अतृप्त पानकर श्रीराधाकी कायव्यूहरूपा श्रीगोपाङ्गनाएँ धन्य होती रहती हैं। इसी परम दुर्लभ स्थितिका संकेत विशुद्ध अनन्यानुरागरूपिणी मूर्तिमान् त्यागस्वरूपा श्रीराधाजीके निम्न उद्गारोंमें मिलता है। वे अपनी एक अन्तरङ्गा सखीको सम्बोधन करके कहती हैं—

धन-जन-अभिजन-भवन सफल सुख साधन, कलित कीर्ति, सम्मान।
इह पर-लोक भोग-वैभव लोकोत्तर सद्गति मुक्ति महान॥

कहीं, किसी भी वस्तु, परिस्थिति में न रहा सखि! रंचक राग।
छाया नित्य एक अनुपम आत्यन्तिक प्रियतम-पद अनुराग॥

'सखी! धन, जन, कुटुम्ब-परिवार, भवन, अन्य समस्त सुखसाधन, कमनीय कीर्ति, परम सम्मान, इहलोक और परलोकके समस्त भोग-वैभव, लोकोत्तर सद्गति और महान् मुक्ति—इनमें कहीं, किसी भी वस्तुमें, किसी भी परिस्थितिमें मेरा तनिक-सा भी राग नहीं रह गया है। एकमात्र मेरे प्रियतमके पद-कमलोंमें ही मेरा अनुपमेय आत्यन्तिक अनुराग नित्य निरन्तर छाया रहता है'—

लोक और परलोक-नाशके नहीं नरकके भयका, लेश।
प्रियतम पूर्ण सकल जीवनमें रही न कहीं अन्य स्मृति शेष॥
नित्य नवीन मधुरतम अनुभव नित्य नवीन त्याग-वैराग।
नित्य नवीन रसास्वादन रस-पूर्ण दिव्य नव-नव अनुराग॥

'जैसे उपर्युक्त सकल-बुधजनवाञ्छित सुखमय वस्तुओंमें रागका अभाव हो गया है, वैसे ही मुझे अब न तो लोक बिगड़नेका भय रहा है और न परलोक-नाशका ही। नरक-भयका भी किञ्चित् लेश नहीं रहा है, क्योंकि मेरा समस्त जीवन एकमात्र मेरे प्रियतमसे ही परिपूर्ण हो रहा है। दूसरी कोई स्मृति ही वहीं नहीं रह गयी है। मेरे प्रियतम मुझे नित्य नवीन मधुरतम अनुभव कराते रहते हैं, इससे अन्यत्र सर्वत्र ही मेरा त्याग-वैराग्य नित्य नवीन रूपमें प्रकट हो रहा है। नित्य नया-नया रसास्वादन होता है और नित्य नया-नया रसपूर्ण दिव्य प्रेम उदय हो रहा है।'

सत्ता नहीं किसीकी, कुछ भी, कहीं नहीं होती कुछ बोध।
अब किसीमें नहीं, बचा कुछ राग, नहीं कुछ वैर-विरोध॥

नहीं कल्पनाको भी खाली रहा न कोई मनमें स्थान ।
मन भी नहीं रहा अब, उसको भी हरि हर ले गये सुजान ॥

'अब मुझे एक प्रियतमके अतिरिक्त कहीं भी, किसीकी भी तनिक-सी भी सत्ताका बोध नहीं होता । जब सत्ता ही नहीं, तब न तो किसीमें कुछ भी राग रह गया है और न कहीं कुछ भी वैर-विरोध—द्वेष ही रहा । विलक्षण बात तो यह हुई कि प्रियतम मेरे मनमें इतने भर गये कि दूसरी किसी कल्पनाके लिये भी मनमें स्थान नहीं रह गया । वास्तविक सत्य तो यह है कि अब मेरा मन ही नहीं रह गया । चित्तवित्तहरण कुशल प्रेमप्रवीण हरि उसको भी हरकर ले गये ।'

अपने मनसे अपने मनका, अपने तनसे तनका काम ।
पूर्णकाम प्रिय करते रहते निज कामना-पूर्ति अविराम ॥
क्या करते, क्यों करते, कैसे करते ? उनसे पूछे कौन ?
मनमें आता वही बोलते, मनमें आता रहते मौन ॥

'तब कोई पूछे कि 'फिर तुम्हारे मन-मनके सब कार्य कैसे चल रहे हैं ?' तो इसका सत्य उत्तर यह है कि—'मेरे वे प्रियतम ही अपने मनसे अपने मनका और अपने तनसे अपने तनका काम कर रहे हैं तथा वे 'पूर्णकाम प्रियतम ही अपनी मधुरतम दिव्य कामनाओंको बिना विराम निरन्तर पूर्ण करते रहते हैं । वे क्या करते हैं, क्यों करते हैं, कैसे करते हैं—जब दूसरा कोई है ही नहीं, तब उनसे यह कौन पूछे ? वे प्रियतम जब जो मनमें आता है, वही बोलते हैं और मनमें आता है तब मौन हो रहते हैं—'

बिलग बोधकर तदपि स्वयं करते अनुभव संयोग-वियोग।
करते स्वयं कराते रहते नित नव मधुर दिव्य रस-भोग॥
परम रसिक वे रसमय रहते बने-बनाये दो प्रिय रूप।
रस लेते, रस-पान कराते, रस बरसाते अमित अनूप॥

'इतनेपर भी वे पृथक्ताका बोध करते हुए स्वयं ही संयोग-वियोग—मिलन-बिछुड़नका अनुभव करते रहते हैं। वे स्वयं ही नित्य नवीन मधुरतम दिव्य-रसका भोग करते-कराते रहते हैं। वे मेरे *रसिकशिरोमणि प्रियतम सदा दो अत्यन्त प्यारे रसमय रूप* बने-बनाये रहते हैं और स्वयं दिव्य रसका पान करते, स्वयं ही रस पान कराते और नित्य-निरन्तर उपमारहित अपरिमित रसकी वर्षा करते रहते हैं'—

(२)

दिव्य प्रेम-रस-सुधा-पान-प्रमत्त, राधा-रस-वैभव-विमुग्ध, योगीन्द्र-मुनीन्द्र-सुरेन्द्र-वाञ्छित-पदकमलरेणु, नित्य-शुद्ध-बुद्ध, सच्चिदानन्दघन, सत्य-रसस्वरूप भगवान् श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण अपना राधा-स्मृतिमयताका वर्णन और राधा-प्रेमके पावन स्वरूपकी झाँकी करते हुए भावविह्वल होकर श्रीराधाके सामने यथार्थ सत्य प्रकट कर रहे हैं। वे कहते हैं—

प्रिये ! तुम्हारी मधुर मनोहर स्मृतिका होता नहीं विराम।
सदा तुम्हारी मूर्ति माधुरी रहती मुझसे मिली ललाम॥
मुझे बनानेको अपना, अति तुमने किया अनोखा त्याग।
जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति-तुरीयमें रहता तुममें ही अनुराग॥

'प्रिये राधिके ! तुम्हारी मधुर-मनोहर स्मृतिका तार कभी टूटता ही नहीं। तुम्हारी परम रमणीय माधुरी मूर्ति निरन्तर मुझसे

मिली ही रहती है। तुमने मुझको अपना बनानेके लिये अत्यन्त विलक्षण त्याग किया, यहाँतक कि जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय—चारों ही अवस्थाओंमें सबको विस्मृत करके केवल मुझमें ही विशुद्ध प्रेम रक्खा'—

नहीं लिया देनेपर भी कुछ जगका सुख-वैभव-सौभाग्य।
दिव्य लोक, कैवल्य मुक्तिमें भी रक्खा अनुपम वैराग्य॥
फिर, उस शुचि वैराग्य विलक्षणमें भी, नहीं रखा कुछ राग।
उसकी भी परवाह न की करके मुझमें विशुद्ध मधु-राग॥

'जगत्के अपरिमित सुख-ऐश्वर्य और सौभाग्य देनेपर भी तुमने नहीं लिये। जगत्के भोगोंकी तो बात ही क्या है, दिव्य लोक और कैवल्यमोक्षमें भी तुमने अनुपमेय वैराग्य रक्खा। भुक्ति-मुक्ति सभीमें वैराग्य हो जाना बहुत ही ऊँची स्थिति है। ऐसे वैराग्य-रसके रसिक भी कोई विरले ही होते हैं; परंतु तुमने तो इस परम विशुद्ध विलक्षण वैराग्यमें भी कुछ भी राग नहीं रक्खा। तुमने इस वैराग्यकी भी परवा नहीं की और मुझमें विशुद्ध मधुर प्रीति की।'

नहीं तुम्हारे मनमें भोगासक्ति, नहीं वैराग्यासक्ति।
भोग-त्याग कर त्याग सभी की मुझमें ही अनन्य अनुरक्ति॥
बना तुम्हारा शुचि सेवक मैं, बना ऋणी रहता मैं सत्य।
रहती बसी प्रियतमे! तुम मेरे बाह्याभ्यन्तरमें नित्य॥

'प्रिये! तुम्हारे मनमें न तनिक भी भोगासक्ति है और न वैराग्यासक्ति ही है। तुमने भोग और त्याग सभीका त्याग करके मुझमें ही अनन्य अनुराग किया। इसीसे मैं तुम्हारा शुद्ध सेवक बना हुआ सचमुच सदा तुम्हारा ऋणी बना रहता हूँ। मुझपर तुम्हारा ऋण बढ़ता ही रहता है, उसे मैं कभी

चुका ही नहीं सकता । प्रियतमे ! तुम मेरे बाहर और भीतरमें नित्य-निरन्तर बसी ही रहती हो ।'

रसमय मैं अति स-रस तुम्हारा निर्मल रस चखनेके हेतु ।
रहता नित्य प्रलुब्ध छोड़ मर्यादा, तोड़ सभी श्रुति-सेतु ॥
प्रिये ! तुम्हारे लिये सहज बन रहता मैं कामी, निष्काम ।
सहज तुम्हारे रसका लोभी—मैं रस-रत रहता अभिराम ॥

'मैं स्वयं रस रूप हूँ—रसमय हूँ, परंतु तुम्हारे अत्यन्त सरस निर्मल रसका आस्वादन करनेके लिये सारी मर्यादाका त्याग करके और समस्त श्रुति-सेतुओंको भङ्ग करके मैं नित्य-निरन्तर अत्यन्त ललचाया रहता हूँ । प्रिये ! मैं नित्य निष्काम—पूर्णकाम हूँ, परंतु तुम्हारे लिये मैं सहज ही 'कामी' बना रहता हूँ । मैं तुम्हारे रसका सहज लोभी सदा ही तुम्हारे मनोहर रसमें डूबा रहता हूँ ।'

भोग-मोक्षकी शुद्ध कामनाका भी जिसमें रहा न शेष ।
वही मधुर रस निर्मल मुझको आकर्षण करता सविशेष ॥
तुम अति, और तुम्हारी व्यूह-स्वरूपा गोपीगण भी धन्य ।
जिनमें भरा समुद्र इसी रसका लहराता नित्य अनन्य ॥

'जिस रसमें भोग-मोक्षकी विशुद्ध कामनाका भी लेश नहीं रहता, वही निर्मल मधुर रस मुझको विशेषरूपसे आकर्षित करता है । फिर तुम तो उस रसमें भी विरक्त होकर केवल मेरे अनुराग-रसकी ही मूर्तिमान् प्रतिमा हो चुकी हो । अतएव तुम अत्यन्त धन्य हो और तुम्हारी कायव्यूहरूपा वे गोपाङ्गनागण भी धन्य हैं, जिनमें इसी अनन्य रसका समुद्र नित्य-निरन्तर भरा लहरा रहा है ।'

ऐसे दिव्य प्रेमकी कल्पना भी परम कठिन है !



मिली ही रहती है। तुमने मुझको अपना बनानेके लिये अत्यन्त विलक्षण त्याग किया, यहाँतक कि जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय—चारों ही अवस्थाओंमें सबको विस्मृत करके केवल मुझमें ही विशुद्ध प्रेम रक्खा'—

नहीं लिया देनेपर भी कुछ जगका सुख-वैभव-सौभाग्य।
दिव्य लोक, कैवल्य मुक्तिमें भी रक्खा अनुपम वैराग्य॥
फिर, उस शुचि वैराग्य विलक्षणमें भी, नहीं रखा कुछ राग।
उसकी भी परवाह न की करके मुझमें विशुद्ध मधु-राग॥

'जगत्के अपरिमित सुख-ऐश्वर्य और सौभाग्य देनेपर भी तुमने नहीं लिये। जगत्के भोगोंकी तो बात ही क्या है, दिव्य लोक और कैवल्यमोक्षमें भी तुमने अनुपमेय वैराग्य रक्खा। भुक्ति-मुक्ति सभीमें वैराग्य हो जाना बहुत ही ऊँची स्थिति है। ऐसे वैराग्य-रसके रसिक भी कोई विरले ही होते हैं; परंतु तुमने तो इस परम विशुद्ध विलक्षण वैराग्यमें भी कुछ भी राग नहीं रक्खा। तुमने इस वैराग्यकी भी परवा नहीं की और मुझमें विशुद्ध मधुर प्रीति की।'

नहीं तुम्हारे मनमें भोगासक्ति, नहीं वैराग्यासक्ति।
भोग-त्याग कर त्याग सभी की मुझमें ही अनन्य अनुरक्ति॥
बना तुम्हारा शुचि सेवक मैं, बना ऋणी रहता मैं सत्य।
रहती बसी प्रियतमे! तुम मेरे बाह्याभ्यन्तरमें नित्य॥

'प्रिये! तुम्हारे मनमें न तनिक भी भोगासक्ति है और न वैराग्यासक्ति ही है। तुमने भोग और त्याग सभीका त्याग करके मुझमें ही अनन्य अनुराग किया। इसीसे मैं तुम्हारा शुद्ध सेवक बना हुआ सचमुच सदा तुम्हारा ऋणी बना रहता हूँ। मुझपर तुम्हारा ऋण बढ़ता ही रहता है, उसे मैं कभी

चुका ही नहीं सकता । प्रियतमे ! तुम मेरे बाहर और भीतरमें नित्य-निरन्तर बसी ही रहती हो ।'

रसमय मैं अति मधुर तुम्हारा निर्मल रस चखनेके हेतु ।
रहता नित्य प्रलुब्ध छोड़ मर्यादा, तोड़ सभी श्रुति-सेतु ॥
प्रिये ! तुम्हारे लिये सहज बन रहता मैं कामी, निष्काम ।
सहज तुम्हारे रसका लोभी—मैं रस-रत रहता अभिराम ॥

'मैं स्वयं रस-रूप हूँ—रसमय हूँ, परंतु तुम्हारे अत्यन्त सरस निर्मल रसका आस्वादन करनेके लिये सारी मर्यादाका त्याग करके और समस्त श्रुति-सेतुओंको भङ्ग करके मैं नित्य-निरन्तर अत्यन्त ललचाया रहता हूँ । प्रिये ! मैं नित्य निष्काम—पूर्णकाम हूँ, परंतु तुम्हारे लिये मैं सहज ही 'कामी' बना रहता हूँ । मैं तुम्हारे रसका सहज लोभी सदा ही तुम्हारे मनोहर रसमें डूबा रहता हूँ ।'

भोग-मोक्षकी शुद्ध कामनाका भी जिसमें रहा न लेश ।
वही मधुर रस निर्मल मुझको आकर्षित करता सविशेष ॥
तुम अति, और तुम्हारी व्यूह-स्वरूपा गोपीगण भी धन्य ।
जिनमें भरा समुद्र इसी रसका लहराता नित्य अनन्य ॥

'जिस रसमें भोग-मोक्षकी विशुद्ध कामनाका भी लेश नहीं रहता, वही निर्मल मधुर रस मुझको विशेषरूपसे आकर्षित करता है । फिर तुम तो उस रससे भी विरक्त होकर केवल मेरे अनुराग-रसकी ही मूर्तिमान् प्रतिमा हो चुकी हो । अतएव तुम अत्यन्त धन्य हो और तुम्हारी कायव्यूहरूपा वे गोपाङ्गनागण भी धन्य हैं, जिनमें इसी अनन्य रसका समुद्र नित्य-निरन्तर भरा लहरा रहा है ।'

ऐसे दिव्य प्रेमकी कल्पना भी परम कठिन है !

मिली ही रहती है। तुमने मुझको अपना बनानेके लिये अत्यन्त विलक्षण त्याग किया, यहाँतक कि जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय—चारों ही अवस्थाओंमें सबको विस्मृत करके केवल मुझमें ही विशुद्ध प्रेम रक्खा'—

नहीं लिया देनेपर भी कुछ जगका सुख-वैभव-सौभाग्य।
दिव्य लोक, कैवल्य मुक्तिमें भी रक्खा अनुपम वैराग्य॥
फिर, उस शुचि वैराग्य विलक्षणमें भी, नहीं रखा कुछ राग।
उसकी भी परवाह न की करके मुझमें विशुद्ध मधु-राग॥

'जगत्के अपरिमित सुख-ऐश्वर्य और सौभाग्य देनेपर भी तुमने नहीं लिये। जगत्के भोगोंकी तो बात ही क्या है, दिव्य लोक और कैवल्यमोक्षमें भी तुमने अनुपमेय वैराग्य रक्खा। भुक्ति-मुक्ति सभीमें वैराग्य हो जाना बहुत ही ऊँची स्थिति है। ऐसे वैराग्य-रसके रसिक भी कोई विरले ही होते हैं; परंतु तुमने तो इस परम विशुद्ध विलक्षण वैराग्यमें भी कुछ भी राग नहीं रक्खा। तुमने इस वैराग्यकी भी परवा नहीं की और मुझमें विशुद्ध मधुर प्रीति की।'

नहीं तुम्हारे मनमें भोगासक्ति, नहीं वैराग्यासक्ति।
भोग-त्याग कर त्याग सभी की मुझमें ही अनन्य अनुरक्ति॥
बना तुम्हारा शुचि सेवक मैं, बना ऋणी रहता मैं सत्य।
रहतीं बसीं प्रियतमे! तुम मेरे बाह्याभ्यन्तरमें नित्य॥

'प्रिये! तुम्हारे मनमें न तनिक भी भोगासक्ति है और न वैराग्यासक्ति ही है। तुमने भोग और त्याग सभीका त्याग करके मुझमें ही अनन्य अनुराग किया। इसीसे मैं तुम्हारा शुद्ध सेवक बना हुआ सचमुच सदा तुम्हारा ऋणी बना रहता हूँ। मुझपर तुम्हारा ऋण बढ़ता ही रहता है, उसे मैं कभी

चुका ही नहीं सकता । प्रियतमे ! तुम मेरे बाहर और भीतरमें नित्य-निरन्तर बसी ही रहती हो ।'

रसमय मैं अति मन-रस तुम्हारा निर्मल रस चखनेके हेतु ।
रहता नित्य प्रलुब्ध छोड़ मर्यादा, तोड़ सभी श्रुति-सेतु ॥
प्रिये ! तुम्हारे लिये सहज बन रहता मैं कामी, निष्काम ।
सहज तुम्हारे रसका लोभी—मैं रस-रत रहता अभिराम ॥

'मैं स्वयं रस-रूप हूँ—रसमय हूँ, परंतु तुम्हारे अत्यन्त सरस निर्मल रसका आस्वादन करनेके लिये सारी मर्यादाका त्याग करके और समस्त श्रुति-सेतुओंको भङ्ग करके मैं नित्य-निरन्तर अत्यन्त ललचाया रहता हूँ । प्रिये ! मैं नित्य निष्काम—पूर्णकाम हूँ, परंतु तुम्हारे लिये मैं सहज ही 'कामी' बना रहता हूँ । मैं तुम्हारे रसका सहज लोभी सदा ही तुम्हारे मनोहर रसमें डूबा रहता हूँ ।'

भोग-मोक्षकी शुद्ध कामनाका भी जिसमें रहा न लेश ।
वही मधुर रस निर्मल मुझको आकर्षित करता सविशेष ॥
तुम अति, और तुम्हारी व्यूह-स्वरूपा गोपीगण भी धन्य ।
जिनमें भरा समुद्र इसी रसका लहराता नित्य अनन्य ॥

'जिस रसमें भोग-मोक्षकी विशुद्ध कामनाका भी लेश नहीं रहता, वही निर्मल मधुर रस मुझको विशेषरूपसे आकर्षित करता है । फिर तुम तो उस रसमें भी विरक्त होकर केवल मेरे अनुराग-रसकी ही मूर्तिमान् प्रतिमा हो चुकी हो । अतएव तुम अत्यन्त धन्य हो और तुम्हारी कायव्यूहरूपा वे गोपाङ्गनागण भी धन्य हैं, जिनमें इसी अनन्य रसका समुद्र नित्य-निरन्तर भरा लहरा रहा है ।'

ऐसे दिव्य प्रेमकी कल्पना भी परम कठिन है !

झाँकी ५४

(१)

सौंप दिये मन प्राण तुम्हींको सौंप दिये ममता अभिमान ।
जब, जैसे, मन चाहे, बरतो, अपनी वस्तु सर्वथा जान ॥
मत सकुचाओ मनकी करते, सोचो नहीं दूसरी बात ।
मेरा कुछ भी रहा न अब तो, तुमको सब कुछ पूरा ज्ञात ॥

एक सर्वात्मसमर्पण कर चुकनेवाला साधक गोपीरूपसे अपने एकमात्र अनन्य प्रियतम भगवान् श्यामसुन्दरसे कहता है— 'प्रियतम ! मैंने अपने तन-मन-प्राण तुम्हें समर्पण कर दिये हैं । मेरे ममता और अभिमान तुम्हारे समर्पण हो चुके हैं । अब तुम

मुझको सर्वथा अपनी वस्तु जानकर जब जैसे मन चाहे, बरतो। अपने मनके अनुसार करते तनिक भी संकोच न करो, दूसरी कोई बात सोचो ही मत। तुमको सब पूरा पता है कि अब मेरा कुछ रह ही नहीं गया है—

मान-अमान, दुःख-सुखसे अब मेरा रहा न कुछ सम्बन्ध।
तुम्हीं एक कैवल्य मोक्ष हो, तुम ही केवल मेरे बन्ध॥
रहूँ कहीं, कैसे भी, रहती बसी तुम्हारे अंदर नित्य।
छूटे सभी अन्य आश्रय अब मिटे सभी सम्बन्ध अनित्य॥
एक तुम्हारे चरणकमलमें हुआ विसर्जित सब संसार।
रहे एक स्वामी बस, तुम ही, करो सदा स्वच्छन्द विहार॥

'मान-अपमान, दुःख-सुखसे मेरा अब कुछ भी सम्बन्ध नहीं रह गया। मेरे लिये तो बस, तुम्हीं एक कैवल्य मोक्ष हो और तुम्हीं एक केवल बन्धन हो। मैं कहीं, कैसे भी रहूँ, सदा-सर्वदा तुम्हारे ही अंदर बसी रहती हूँ। अब मेरे सभी दूसरे आश्रय छूट गये हैं, मेरे सभी अनित्य सम्बन्ध मिट गये हैं। एक तुम्हारे चरणकमलोंमें ही मेरा समस्त संसार विसर्जित हो गया है। बस, तुम्हीं एक मेरे स्वामी रहे हो, अतः सदा स्वच्छन्द विहार करो।'

कैसा अनुपम सर्वात्मसमर्पण है!

(२)

एक दूसरी भाव-तरङ्ग है—एक प्रेमहृदया गोपी सदा सर्वत्र अपने मन-बुद्धि-इन्द्रिय सबमें एकमात्र प्रियतम श्रीकृष्णके ही मधुरतम स्पर्शका अनुभव करती है और श्रीकृष्णके द्वारा उनकी मधुर उक्ति सुनती है। यह अपना अनुभव कहती है—

रहते नित्य हृदयमें मेरे, कभी न ओझल होते ।
वहाँ अचल डेरा डाले, बस, रहते सुखसे सोते ॥
नहीं किसीको घुसने देते, नहीं झाँकने देते ।
पूरा निज अधिकार जमाये पूरा आनँद लेते ॥
बाहर भी वे रहते मेरे चारों ओर निरन्तर ।
नहीं किसीको आने देते, इन्द्रिय-सीमा अंदर ॥

'वे मेरे प्रियतम श्यामसुन्दर नित्य-निरन्तर मेरे हृदयमें रहते हुए दर्शन देते रहते हैं, कभी अदृश्य होते ही नहीं । बस, वे मेरे हृदयदेशमें ही निश्चल डेरा डाले सदा सुखसे सोते रहते हैं । वे मेरे हृदयमें किसी अन्यको घुसने तो देते ही नहीं, उधर झाँकने भी नहीं देते । (हृदयमें उनके अतिरिक्त अन्य किसी विषयकी कल्पनाकी छाया भी नहीं पड़ती ।) वे वहाँ अपना पूर्ण अधिकार जमाये हुए पूर्ण आनन्द लेते हैं । हृदयकी तो बात ही क्या, बाहर भी मेरे चारों ओर वे सदा निवास करते हैं । अतः मेरी इन्द्रियोंकी सीमाके भीतर कभी किसीको नहीं आने देते ।

रहते सदा दृगोंमें छाये, वे नयनोंके तारे ।
कानोंमें मधु-वचन-सुधा संगीत सुनाते प्यारे ॥
नासाको मीठी अति अङ्ग-सुगन्ध सुँघाते अनुपम ।
सरस प्रसाद-सुधा रसनाको मधुर चखाते हरदम ॥
अंग-अंगको स्पर्श दानकर धन्य सदा वे करते ।
अन्य सभी जगके सम्बन्धोंको वे बिल्कुल हरते ॥
यों मतिमें, मनमें, इन्द्रियमें सदा बसे वे रहते ।
एकछत्र अधिकार किये वे दृढ़ स्वरमें यों कहते ॥

'वे मेरे नयनोंके तारे सदा मेरी आँखोंमें छाये रहते हैं। कानोंमें वे प्रियतम सदा मधुर वचन तथा संगीत सुनाकर अमृत उड़ेलते रहते हैं। नासिकाको अनन्य मधुर अनुपम अपने अङ्गकी सुगन्ध सुँघाते रहते हैं। रसनाको सदा-सर्वदा अपना रसमय परम मधुर प्रसादामृत चखाते रहते हैं। अङ्ग-अङ्गको नित्य-निरन्तर अपना मधुर स्पर्श देकर धन्य करते रहते हैं। यों उन्होंने जगत्के अन्य समस्त सम्बन्धोंका बिल्कुल हरण कर लिया है।'

इस प्रकार मेरी बुद्धिमें, मनमें और समस्त इन्द्रियोंमें वे सदा बसे रहते हैं और मुझपर एकच्छत्र पूर्णाधिकार किये हुए वे दृढ़ स्वरमें यों कहते हैं—

> तुमपर, वस्तु तुम्हारी सबपर, पूरा कब्जा मेरा।
> मेरे सिवा अन्यको तुम भी कभी न कहती 'मेरा'॥
> यों मैं सिर्फ तुम्हारा, तुम हो केवल मेरी प्यारी।
> एक, सदा ही एक रहेंगे, कभी न न्यारा न्यारी॥

'सुनो! तुमपर, तुम्हारी समस्त वस्तुओंपर मेरा पूर्ण अधिकार हो चुका है और तुम भी मेरे अतिरिक्त अन्य किसीको कभी 'मेरा' नहीं कहती हो। इस प्रकार केवल एक मैं तुम्हारा हूँ और केवल तुम एक मेरी प्रियतमा हो। हम दोनों एक हैं, सदा एक ही रहेंगे। न कभी मैं पृथक् हो सकता हूँ और न कभी तुम पृथक् हो सकती हो।'

कितना आदर्श समर्पण और एकत्वभाव है। जगत् रहा ही नहीं। बस, प्रेमास्पद प्रभु और प्रेमी दो ही एक होकर रह गये!



झाँकी ५५

(१)

एक गोपीने एक दिन भगवान्‌की मधुर झाँकी देखी । बस, तभीसे उसकी विचित्र स्थिति हो गयी । वह सब कुछ भूल गयी, कभी भगवान् श्यामसुन्दरको वह अपने पास देखती, कभी वियोगका अनुभव करके पूर्वकी मधुर स्मृति करती, कभी नित्य-मिलनका अनुभव करती और कभी सर्वथा उनमें प्रवेश कर जाती । उस गोपीका अनुभव है—

पता नहीं कुछ रात-दिवसका, पता नहीं कब संध्या-भोर ।
जाग्रत, स्वप्न दिखायी देता श्याम सदा मेरा चितचोर ॥
भूल गयी मैं नाम-धाम निज, भूल गयी सुधि, हूँ मैं कौन ।
नग्न नचाकर, प्राण हरण कर, सदा हँस रहा धरकर मौन ॥

मुझे न रात-दिनका कुछ पता है, न सुबह-शामका । जाग्रत्‌में तथा स्वप्नमें मुझे अपना वह चित्तचोर श्यामसुन्दर ही सदा दिखायी देता है । मैं अपना नाम भूल गयी, घर भूल गयी; मैं

कौन हूँ, इसकी याद भी भूल गयी। अहा! देखो न! वह आँखें नचा-नचाकर मेरे प्राण हरण कर रहा है और मौन धारणकर मन्द-मन्द हँस रहा है।

> कैसी मधुर मूर्ति, वह कैसा था विचित्र मनहारी रूप।
> आँखें झर रहीं, झरतीं नित, करतीं स्मृति सौन्दर्य अनूप॥
> मर्म बेध कर धर्म मिटाया, किया चूर सारा अभिमान।
> लोक-लाज, कुल-कान मिटी सब, रहा न कुछ निज-परका भान॥
> हा! कहाँ विधु-वदन सुधामय, विचर रहा कालिन्दी-कूल।
> हर सर्वस्व बाँध सब तोड़े, मिटे सभी मर्यादा-कूल॥

(इतनेमें ही उसने देखा, श्यामसुन्दर तो नहीं हैं, तब पूर्वदर्शनकी स्मृति करके वह कहने लगी —) अहा! कैसी मधुर छवि थी, वह कैसा विचित्र मनहरणकारी रूप था। उस अनुपम सौन्दर्यकी मधुर स्मृति करती हुई फिर उसे देखनेके लिये मेरी ये आँखें झर रही हैं और नित्य निरन्तर इनसे प्रेमके आँसू झर रहे हैं। अहा, वह कैसी वस्तु है—जिसने मेरे मर्मको बेध डाला। जो हृदय सदा समस्त पदार्थोंमें लगा था, वह वहाँसे सर्वथा कट गया और उसमें निरन्तर वियोग-व्यथाकी पैनीधार कटारी बिंध गयी। मेरी सारी हृदयग्रन्थि सर्वथा कट गयी। जिसके दीखते ही सारे लोकधर्म अपने आप ही मिट गये, सब प्रकारके अभिमान (वर्णाभिमान, विद्याभिमान, धनाभिमान, रूपाभिमान, देहाभिमान आदि) चूर-चूर हो गये, लोककी लाज छूट गयी, कुलमर्यादा मिट गयी, अपने-परायेका कुछ भान ही नहीं रहा—न कहीं मेरापन रहा, न परायापन, हा! हा! वह कैसा सुधामय चन्द्रवदन

कालिन्दी-तटपर विचर रहा था, जिसने मेरा सर्वस्व हरण कर लिया। बलात्कारसे सर्वस्वार्पण करा लिया, सारे बन्धन छिन्न-भिन्न हो गये और मर्यादाके सारे किनारे अपार स्नेह-सागरमें विलीन हो गये।

अब फिर उसे मनसे नित्य संयोगका अनुभव होने लगा—तब बोली—

मनसा मिल रहते मेरे सब अंग नित्य प्रियतमके अंग।
नहीं छूटता कभी, सभी विधि रहता सदा स्यामका संग॥
रसमय हुई नित्य रस पाकर रसिक-रसार्णवका सब ओर।
वही रस सुधा सरिता धारा प्लावित कर सब, रहा न छोर॥

अहा! वे तो कभी मुझसे अलग होते ही नहीं। मनके दिव्य धाममें मेरे सारे अङ्ग प्रियतमके अङ्गसे नित्य ही मिले रहते हैं। सब प्रकार सदा श्रीश्यामसुन्दरका सङ्ग बना रहता है, वह कभी छूटता ही नहीं। मैं तो उन परम रस ('रसो वै सः'); रसिक, रस-समुद्रका नित्य दिव्य रस प्राप्त करके रसमयी ही बन गयी। अब तो सबको—समस्त जगत्‌को—सम्पूर्ण लोक-परलोकको प्लावित करती हुई सब ओर रसामृत-नदीकी ही धारा बह चली है। कहीं उसका अन्त रहा ही नहीं।

अन्तमें अपनेको श्यामसुन्दरके साथ एकमेक पाकर वह कहती है—

श्याम रहे या रही मैं—कहाँ, कुछ भी नहीं रहा संधान।
श्याम बने मैं, श्याम बनी मैं, एकमेक हो रहे महान॥

अब श्यामसुन्दर हैं या मैं कहीं हूँ, इसका कुछ भी पता नहीं

रहा; क्योंकि श्यामसुन्दर 'मैं' बन गये और मै श्यामसुन्दर बन गयी। महान् एकमेकता हो गयी।

यही रसराज्यमें पूर्ण प्रवेश है—'विशते तदनन्तरम्।'

(२)

एक गोपीकी धारणा

नहीं चाहती मनोनाश मैं, नहीं चाहती चित्तनिरोध।
श्याम-सिन्धुमें सुरसरिवत् नित वृत्ति प्रवाहित हो अविरोध॥
जैसे सुर-सरिता बहती नित करती सब विघ्नोंका नाश।
वैसे ही सब भूल, दौड़ता रहे चित्त प्रियतमके पास॥

वेदान्ती कहते हैं 'मनोनाश' हुए बिना ब्रह्मसाक्षात्कार नहीं होता; योगका तो सिद्धान्त ही है—'चित्तका निरोध'। पर गोपी कहती है—मैं न तो मनका नाश चाहती हूँ, न चित्तका निरोध ही। मेरा मन सदा जीवित रहे और चित्तकी वृत्तियाँ निरुद्ध भी न हों, वे बिना बाधा सुरसरि (गङ्गा) की भाँति प्रियतम श्यामसुन्दर-समुद्रकी ओर प्रवाहित होती रहें। बीचमें कोई बाधा-विघ्न आयें तो जैसे गङ्गाकी प्रखर धारा पत्थर, चट्टान, पेड़ आदि समस्त विघ्नोंको चूर-चूर करती हुई सदा समुद्रकी ओर बहती रहती है, वैसे ही समस्त जगत्को भूलकर सब विघ्नोंका नाश करके मेरा चित्त सदा प्रियतमकी ओर दौड़ता रहे।

'मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ।'
(भागवत)

नहीं चाहती इन्द्रिय संयम, बनी रहें ये सक्रिय सत्य।
शब्द स्पर्श रस रूप गन्ध प्रियतमके सेवन-रत हों नित्य॥

लोग कहते हैं—इन्द्रियोंको संयमित करो, उन्हें शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धके सेवनमें मत लगने दो—पर मैं नहीं चाहती कि मेरी इन्द्रियाँ संयमित रहें । मैं तो चाहती हूँ कि वे सचमुच ही सक्रिय रहें और वे प्रियतमके शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धके सेवनमें सदा-सर्वदा संलग्न होकर रहें—

नहीं चाहती हटे कभी मेरे मनसे किंचित् आसक्ति ।
बढ़ती रहे सदा प्रियतममें दिन-प्रति-दिन अतिशय अनुरक्ति ॥

मुझे उपदेश दिया जाता है कि आसक्तिको हटाओ; पर मैं नहीं चाहती कि मेरे मनसे आसक्ति जरा भी हटे। मैं तो चाहती हूँ कि प्रियतमके प्रति मेरी आत्यन्तिक आसक्ति सदा दिनोंदिन बढ़ती ही रहे ।

नहीं चाहती मिटे कामना, कभी वासनाका हो अन्त ।
तीव्र कामना नित्य वासना प्रियकी बढ़ती रहे अनन्त ॥

उस दिन एकने मुझसे कहा—कामना-वासनाका अनन्त होना आवश्यक है; परंतु मैं तो नहीं चाहती कि मेरी कामना-वासनाका कभी अन्त हो । प्रियतमके लिये मेरी तीव्र कामना हो और वासना अनन्तरूपमें सदा बढ़ती ही रहे ।

नहीं चाहती मैं जीवनभर ममताका हो अन्त कभी ।
सबसे हटकर रहें सदा प्रियतममें पूर्ण अनन्य सभी ॥

किसीने बतलाया ममता न रक्खो; पर मै तो नहीं चाहती, जीवनभरमें कभी भी ममताका नाश हो । मैं तो यही चाहती हूँ कि मेरी ममता जगत्के प्राणी-पदार्थोंसे—सबसे बिल्कुल हट जाय

और सारी ममता पूर्णरूपसे तथा अनन्यभावसे केवल प्रियतममें ही हो जाय।

नहीं चाहती मिटे कभी भी मेरा अहंकार भारी।
मैं प्रियतमकी नित्य सहचरी—रहे सदा यह सुखकारी॥

मुझसे मेरे एक हितैषीने कहा—अहंकारका त्याग कर दो। पर मैं नहीं चाहती मेरा भारी अहंकार कभी भी मिट जाय। मैं अपने प्रियतमकी नित्य सहचरी हूँ—यह परम सुखदायी अहंकार सदा अनुभवमें आता ही रहे।

नहीं चाहती कोई भी मैं कभी समाधि, राज लय योग।
बना रहे प्रियतमसे मेरा नित्य अनन्य मधुर संयोग॥

एक योगिराजने बतलाया—समाधियोग, राजयोग या लययोग आदि किसी योगका साधन करो; पर मैंने तो कहा—योगिराज! मैं कभी किसी भी समाधियोग, राजयोग या लययोगको नहीं चाहती। मेरा तो बस, प्रियतम श्यामसुन्दरसे सदा-सर्वदा अनन्य मधुर मधुर संयोग बना रहे।

नहीं चाहती कभी मिटे यह अति विचित्र भव संसार।
प्रियतम ही दीखें सबमें, सर्वत्र सदा शुचि सौन्दर्याकार॥

अधिक क्या कहूँ, मैं तो यह भी नहीं चाहती कि यह अनन्त विचित्रताओंसे भरा हुआ संसार कभी मिटे। मैं तो चाहती हूँ—इस अनन्त संसारमें सदा सर्वत्र मुझे अपने परम प्रियतम ही लीला करते हुए दिखायी देते रहें।

इससे बढ़कर और कौन-सा सर्वश्रेष्ठ [illegible]

झाँकी ५६

किसी भगवत्प्रेमी महात्माके द्वारा भगवान्‌के स्वरूप, गुण, महत्त्व, रहस्य आदिकी कथा सुननेसे जब सांसारिक भोग-सुख-वासनाका मोह नष्ट हो जाता है तथा इस मोहका नाश होते ही भगवान्‌में दृढ़ अनुराग होता है, तब ध्यानमें, स्वप्नमें प्रत्यक्षवत् अथवा भगवत्कृपासे किसी प्रकार प्रत्यक्षमें भगवान्‌की मधुर झाँकी होती है। फिर तो उसका जीवन उन प्रियतम प्रभुके ही समर्पण हो जाता है और उसके जीवनका प्रत्येक पल परम प्रेमास्पद एकमात्र प्रभुके ही चिन्तन, स्मरण, कथनमें ही व्यतीत होता है। उसे प्रियतम प्रभुके मधुरतम स्वरूपकी अनवरत स्मृति बनी रहती है और वह सब कुछ भूलकर केवल उन्हींके मिलनकी तीव्र आकाङ्क्षासे व्याकुल रहता है। मिलनकी आकाङ्क्षामें जो तीव्र विरह-वेदना होती है, उसमें उनकी स्मृतिजन्य महान् मधुरता भरी रहती है, इसलिये वह उस स्थितिमें भी परमानन्दका अनुभव करता है।

श्रीराधारानीकी प्रेमानुकरणपरायण एवं प्रेमके उच्चस्तरपर आरूढ़ भाग्यवती एक गोपाङ्गना अपनी प्यारी सखीसे कहती है—

जब तें मैं देखे मनमोहन ठाढ़े रवितनया के तीर।
तब तें कल न परत पल भर मोहि, मन अति विकल, धरत नहिं धीर॥

नैननि झरत सलिल निसि बासर, नींद नेकु नहिं आवत रात।
बिरमत मन न कितहुँ छिन एकहु, घर आँगन बन कछु न सुहात॥

सखी! जिस क्षण मैंने श्रीयमुनाजीके तीरपर मनमोहन श्यामसुन्दरको खडे देखा था, उसी क्षणसे एक पल भी मुझे चैन नहीं पड़ रहा है। मन अत्यन्त व्याकुल हो रहा है, कभी धैर्य धारण करता ही नहीं। नेत्रोंसे प्रेमाश्रुजल रात-दिन झरता रहता है, रात्रिको जरा भी नींद नहीं आती। मन एक क्षणके लिये भी कहीं भी नहीं लगता। घर, आँगन, वन कुछ भी नहीं सुहाता।

अहा! कैसा अनुपम स्वरूप-सौन्दर्य था उनका—

अधर मधुर मृदु हास, सरद ससि लजत बदन-बिधु अनुपम देख।
बिधि रचना अतीत, अतुलित अतिसय रसमय सुषमा अवरेख॥
बिकट भ्रकुटि कटि पीत बसन, सिर मुकुट-मोर, कल कुंचित केस।
झलमलात स्रुति कुंडल द्युति दमकत कपोल, सुचि नटवर बेस॥
मधुर दृष्टि मानो बरछी-सी करि घायल पियूष भरती।
घाव हरो ही रहत नित्य मधु तीखी कसक मोद करती॥

मधुर अधरपर मृदु हास है, अनुपम मुख-चन्द्रको देखकर शरद्-पूर्णिमाके चन्द्र लज्जित हैं। ब्रह्माकी रचनासे अतीत अतुलनीय आत्यन्तिक रसमयी शोभा है। टेढ़ी भ्रुकुटी है, कटिमें पीत वस्त्र है, सिरपर मयूर-मुकुट है, सुन्दर घुँघराले केश हैं। कानोंमें कुण्डल झलमला रहे हैं, जिनकी द्युति कपोलोंपर दमक रही है। पवित्र नटवर-वेष है, दृष्टि मानो बर्छीके सदृश घायल कर देती है, पर घायल करके अमृत भर देती है, इससे वह घाव सदा हरा ही रहता है और उसकी तीक्ष्ण मधुर कसक सदा आनन्द प्रदान करती रहती है।

मेरी क्या दशा हो रही है, सखी ! सुनो—

परसन कौं अँग अंग बिसूरत, तिलमिलात मन होत अधीर।
तड़फड़ात ये प्रान नित्य, ढूँढ़त उड़ि मिलिबी की तदबीर॥
देखन कौं पुनि सुखद स्याम-घन बने पपीहा हैं ये नैन।
पल-पल पीउ रटत, न हटत मन, बिकल सुनन कौं मधुरे बैन॥

मेरा एक-एक अङ्ग उसका स्पर्श प्राप्त करनेके लिये बिसूर रहा है। मन तिलमिलाता और अधीर हो रहा है। प्राण निरन्तर तड़प रहे हैं और उड़कर तुरंत ही जा मिलनेका उपाय ढूँढ़ रहे हैं। ये मेरे नेत्र उन सुखद श्याम-घनको देखनेके लिये पपीहा बने हैं और प्रतिपल 'पिउ-पिउ' की रट लगाये हैं। मन हट नहीं रहा है। मधुर वचन सुननेके लिये प्राण व्याकुल हैं।

वह सखीसे अनुरोध करती है—

सखि ! तुम जतन करौ काहू बिधि, दरसन करि पावउँ चितचोर।
प्रान रहैं, मन नाचि उठै, भरि मोद नचत जिमि घन लखि मोर॥

सखी ! तुम ऐसा प्रयत्न करो, जिससे किसी भी प्रकार मैं उस चित्तचोरके दर्शन कर पाऊँ। दर्शन होनेपर ही मेरे प्राण रहेंगे और तब मेरा मन उसी प्रकार आनन्दमें भरकर नाच उठेगा, जैसे मेघको देखकर मोर मोदमें भरकर नाच उठता है।

कोई परम भाग्यवान् जन ही भोग-जगत्‌की परम विस्मृतिसे युक्त भगवत्स्वरूपकी नित्य अनुभूतिके इस उच्चतम सौभाग्य-स्तरपर पहुँच पाता है।

———

झाँकी ५७

पवित्रतम प्रेमसुधामयी श्रीराधाने प्रियतम प्रेमार्णव श्रीश्यामसुन्दरके दर्शन करके सर्वसमर्पण कर दिया। अब वे आठों पहर उन्हींके प्रेम-रस-सुधा-समुद्रमें निमग्न रहने लगीं। श्यामसुन्दर मिलें-न-मिलें—इसकी तनिक भी परवा न करके वे रात-दिन अकेली बैठी मन-ही-मन किसी विचित्र दिव्य भावराज्यमें विचरण किया करतीं। न किसीसे कुछ कहतीं, न कुछ चाहतीं, न कहीं जातीं-

आतीं। एक दिन एक अत्यन्त प्यारी सखीने आकर बहुत ही स्नेहसे इस पर-अज्ञात विलक्षण दशाका कारण पूछा तथा यह जानना चाहा कि तुम सबसे विरक्त होकर दिन-रात क्या करती हो? यह सुनकर श्रीराधाके नेत्रोंसे अश्रुबिन्दु गिरने लगे और वे बोलीं—'प्रिय सखी! हृदयकी अति गोपनीय यह मेरी महामूल्यमयी अत्यन्त प्रिय वस्तु, जिसका मूल्य मैं भी नहीं जानती, किसीको दिखलाने, बतलाने या समझानेकी वस्तु नहीं है; पर तेरे सामने सदा मेरा हृदय खुला रहा है। तू मेरी अत्यन्त अन्तरङ्गा, मेरे ही सुखके लिये सर्वस्वत्यागिनी परम विरागमयी मेरे रागकी मूर्तिमान् प्रतिमा है। इससे तुझे अपनी स्थिति, अपनी इच्छा, अभिलाषाका किंचित् दिग्दर्शन कराती हूँ। सुन—

हुआ समर्पण प्रभु-चरणोंमें जो कुछ था सब, मैं, मेरा।
अग-जगसे उठ गया सदाको चिरसंचित सारा डेरा॥
मेरी सारी ममताका अब रहा सिर्फ प्रभुसे सम्बन्ध।
प्रीति, प्रतीति, सगाई सबही मिटी, खुल गये सारे बन्ध॥
प्रेम उन्हींमें, भाव उन्हींका, उनमें ही सारा संसार।
उनके सिवा, शेष कोई भी बचा न, जिससे हो व्यवहार॥
नहीं चाहती जाने कोई, मेरी इस स्थितिकी कुछ बात।
मेरे प्राणप्रियतम प्रभुसे भी यह सदा रहे अज्ञात॥
सुन्दर सुमन सरस सुरभित मृदुसे मैं नित अर्चन करती।
अति गोपन, वे जान न जायँ कभी, इसी डरसे डरती॥
मेरी यह शुचि अर्चा चलती रहे सुरक्षित काल अनन्त।
रहूँ कहीं भी, कैसे भी, पर इसका कभी न आये अन्त॥

इस मेरी पूजासे पाती रहूँ नित्य मैं ही आनन्द।
बढ़े निरन्तर रुचि अर्चामें बढ़े नित्य ही परमानन्द॥
बढ़ती अर्चा ही अर्चाका फल हो एकमात्र पावन।
नित्य निरखती रहूँ रूप मैं, उनका अतिशय मनभावन॥
वे न देख पायें पर तुमको, मेरी पूजाको न कभी।
देख पायेंगे वे यदि, होगा भाव विपर्यय पूर्ण तभी॥
रह नहिं पायेगा फिर मेरा यह एकाङ्गी निर्मल भाव।
फिर तो नये-नये उपजेंगे 'प्रिय' में सुख पानेके चाव॥

'प्रिय सखी! मेरे प्रभुके श्रीचरणोंमें मैं और जो कुछ भी मेरा था, सब समर्पित हो गया। मैंने किया नहीं, हो गया। जगत्‌में पता नहीं, किस कालसे जो मेरा डेरा लगा था, वह सारा डेरा सदाके लिये उठ गया। मेरी सारी ममता सभी प्राणी-पदार्थ-परिस्थितियोंसे हट गयी, अब तो मेरी सम्पूर्ण ममताका सम्बन्ध केवल एक प्रियतम प्रभुसे ही रह गया। जगत्‌में जहाँ कहीं भी, जितना भी, जो भी मेरा प्रेम, विश्वास और आत्मीयताका सम्बन्ध था, सब मिट गया। सब ओरसे मेरे सारे बन्धन खुल गये। अब तो मैं केवल उन्हींके श्रीचरणोंमें बँध गयी। उन्हींमें सारा प्रेम केन्द्रित हो गया। उन्हींका भाव रह गया। यह मेरा संसार भी उन्हींमें विलीन हो गया। मेरे लिये उनके सिवा किसी प्राणी-पदार्थ-परिस्थितिकी सत्ता ही शेष नहीं रह गयी, जिससे मेरा कोई व्यवहार होता। पर सखी! मैं नहीं चाहती, मेरी इस स्थितिका किसीको कुछ भी पता लगे। और तो क्या, मेरी यह स्थिति मेरे प्राणवल्लभ/

प्रभुसे भी सदा अज्ञात ही रहे। प्यारी सखी! मैं सुन्दर सरस सुगन्धित सुकोमल सुमनसे (सुन्दर मनसे) सदा उनकी पूजा करती रहती हूँ, पर बहुत ही छिपाकर करती हूँ; मैं सदा इसी डरसे डरती रहती हूँ, कहीं मेरी इस पूजाका प्राणनाथको पता न चल जाय। मैं केवल यही चाहती हूँ कि मेरी पवित्र पूजा अनन्त कालतक सुरक्षित चलती रहे। मैं कहीं भी रहूँ, कैसे भी रहूँ, पर इस पूजाका कभी अन्त न हो। और मेरी यह पूजा किसी दूसरेको आनन्द देनेके उद्देश्यसे न हो, मेरी पूजासे सदा-सर्वदा मैं ही आनन्द-लाभ करती रहूँ। इस पूजामें ही मेरी रुचि सदा बढ़ती रहे, इसीसे नित्य ही परमानन्दकी प्राप्ति होती रहे। यह पूजा सदा बढ़ती रहे और यह बढ़ती हुई पूजा ही इस पूजाका एकमात्र पवित्र फल हो। इस पूजामें मैं नित्य-निरन्तर प्रियतमके अतिशय मनभावन पावन रूप-सौन्दर्यको देखती रहूँ। पर कभी भी वे प्रियतम मुझको और मेरी पूजाको न देख पायें। वे यदि देख पायेंगे तो उसी समय मेरा सम्पूर्ण भाव ही पलट जायगा। फिर मेरा यह एकाङ्गी निर्मल भाव नहीं रह सकेगा। फिर तो प्रियतमसे नये-नये सुख प्राप्त करनेके लिये मनमें नये-नये चाव उत्पन्न होने लगेंगे।'

यों कहकर राधा चुप हो गयीं, निर्निमेष नेत्रोंसे मन-ही-मन प्रियतमके रूप-सौन्दर्यको देखने लगीं।



झाँकी ५८

श्रीराधा-माधव दोनों परस्पर प्रेम-बन्धनमें बँध चुके हैं, दोनोंने ही नित्य-निरन्तर एक दूसरेके सुखसाधनको ही जीवनका स्वभाव या स्वरूप बना लिया है। दोनों ही परस्पर मिलनके लिये परमोत्सुक तथा नित्य उत्कण्ठित रहते हैं। परंतु जितना ही मिलनमें विलम्ब होता है, उतनी ही पवित्र प्रेम-रसकी वृद्धि तथा परम तन्मयताकी स्थितिका उदय होता है। यह संयोग-वियोगकी—मिलन-विरहकी प्रेमलीला सदा चलती ही रहती है। इधर कुछ काल ऐसे ही वियोगकी स्थितिमें बीत गया। परस्पर मिलन नहीं हुआ। श्रीमाधव भी मिलनोत्सुक हैं और प्रयत्न-तत्पर हैं तथा श्रीमती राधा भी वियोगकी परमपीड़ाका अनुभव करती हुई अत्यन्त उत्कण्ठित हैं।

> बिरहातुर, अति कातर, सब जग भूलि, गईं कालिंदी तीर।
> पकरि कदंब डारि ठाढ़ी हैं बावरि, बहत अमित दृग नीर॥
> चित नहिं धरत धीर नैंकहु, पल-पल प्रति कंपि रह्यो मृदु गात।
> कल न परत, हिय जरत, दाह अति दारुन, भरत आह, बिल्लात॥

एक समय विरहसे अत्यन्त आर्त, अत्यन्त कातर हुई श्रीराधा समस्त जगत्के सारे प्राणी-पदार्थों तथा सम्बन्धोंको भूलकर अकेली श्रीयमुनातटपर चली जाती हैं। वहाँ एक कदम्ब-वृक्षकी डाली पकड़कर खड़ी रह जाती हैं, उन्माद-सा छा जाता है। आँखोंसे अमित सलिल-धारा बहने लगती है। चित्त जरा भी धैर्य धारण नहीं कर रहा है, मृदुल शरीर पल-पलमें प्रकम्पित हो रहा है, हृदयमें जरा भी चैन नहीं है, हृदय जल रहा है, अत्यन्त दारुण दाह है, वे आहें भर रही हैं और करुण विलाप कर रही हैं।

अति आतुर 'प्रिय सखी' * आइ पहुँची, तहँ, देखि दशा, तजि धीर।
बोली—अति मृदु बैन मैन-मोहनको, लखि हिय बिंध्यो सु-तीर॥
'सखि! धीरज धरु, तजु गलानि, मैं जाइ तुरत सब हाल सुनाय।
प्रियतम मन-मोहन कौं अब हीं, हौं अपने सँग लाउँ लेवाय'॥

इतनेमें ही श्रीराधाकी एक प्रिय सखी अत्यन्त आतुर हुई वहाँ आ पहुँचती है, श्रीमतीकी दशा देखकर उसका धैर्य छूट जाता है, पर वह अपनेको सँभालकर अत्यन्त मृदु वचन बोलती है—वह समझ गयी है कि राधाका हृदय मोहनके तीक्ष्ण प्रेमबाणसे विंध गया है। वह कहती है—सखी! धैर्य धारण करो, ग्लानि त्याग दो। मैं तुरंत श्यामसुन्दरके पास जाकर सारा हाल उन्हें सुनाती हूँ और तुम्हारे उन प्रियतम मनमोहनको अभी-अभी अपने साथ ही लिवा लाती हूँ।

प्रिय सखिके मृदु बचन सुनत, भूली प्यारी निज तनको भान।
प्रियतम रूप भई मन, तेहि छिन, करन लगी निज गुन-गान-गान॥
'हा राधे! प्रानेस्वरि! हा मनहरनि! मधुर सुन्दरता-खानि।
सद्गुण-निधि, नित-नव-सुखदायिनि, सुमिरत होत सकल दुखहानि॥
हौं नित बिक्यौ हाथ तुव स्वामिनि! बिना मोलको चेरो मान।
प्यारी! मधुर दरस-रस कौं अब तड़फि रहे ये प्यासे प्रान॥
लाग्यौ अति दारुन वियोग-बिष तुव, सब तन अति बिषम अपार।
मुख ससि-सुधा-सींचि सत्वर, बिष हरु, अब पियकौं लेउ उबार'॥

* नायिका भाववती समस्नेहा श्रीललिता-विशाखा आदि कुञ्जसेवाकी प्रिय सखी नहीं हैं। नायिकाभाव-शून्या केवल श्रीराधा-माधवकी निभृत निकुञ्ज-सेवामें ही जीवनकी सार्थकता समझनेवाली श्रीरूपमञ्जरी आदि ही नित्य प्रिय सखी हैं।

प्राणाधिके ! मेरे प्राणोंकी पुतली ! हाय !'—यों कहती-कहती वे मूर्च्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़ीं । अब श्यामसुन्दर छिपे नहीं रह सके, प्रकट होकर दौड़े और अपनी भुजाओंमें भरकर उन्हें उठा लिया । तदनन्तर अपने परम शोभनीय पीतपटको पृथ्वीपर बिछाकर उन्हें धीरेसे उसपर सुला दिया और बड़े मोदसे उनके मस्तकको अपनी गोदमें रखकर उनकी मनोहर मुखशोभाको निरखने लगे ।

गाल-भालके घर्मबिंदु दृग-सलिल पोंछ निज पट नँदलाल ।
भये द्रवित मन, तन पुलकित, दृग प्रेम सलिल छाये तत्काल ॥
मृदु मधु निज कर-अँगुरिन तें प्रिय लगे सँवारन कुंचित केस ।
प्रियतम लखि प्यारी-सेवा-रत प्रिय सखि भई मुदित सविसेस ॥

तदनन्तर श्रीनन्दनन्दनने प्रियतमाके कपोल और भालपर छायी हुई पसीनेकी बूँदोंको तथा अश्रुजलको अपने वस्त्रसे पोंछा—यों करते-करते उनका मन द्रवित हो गया, शरीर रोमाञ्चित हो उठा और उनके नेत्रोंमें प्रेमके आँसू छा गये । वे अपनी कोमल मधुर कराङ्गुलियोंसे श्रीजीकी केशराशि सँवारने लगे । इस प्रकार प्रियतमको प्यारी श्रीराधिकाजीकी सेवामें संलग्न देखकर सखीको विशेष प्रसन्नता हुई ।

खोलि नयन छिन, निरखि स्यामघन, 'हा हृदयेस्वरि !' कहि ते काल,—
मूँदे पुनि, मुखपंकज-मधु पी, भये स्यामदृग-मधुप निहाल ॥
भई अर्ध-चेतन प्यारी तब, पुनि-पुनि खोलत-मूँदत नैन ।
घोरि अमिय-रस मधुर अमित पिय, बोले अति विनम्र सुचि बैन ॥
'नयन उघारि तनिक सो तन, निरखौ तुम हे मम जीवनमूरि ।
सेवक हौं तुव चरननिकौ नित, करौ न मोहि नेकु पल दूरि ॥

फिर एक बार श्रीप्रियाजीने क्षणभरके लिये नेत्र खोले, श्यामघनको देखा, तदनन्तर उसी भावसे 'हा हृदयेश्वरि' कहकर पुनः नेत्र बंद कर लिये। श्यामसुन्दरके नेत्रभ्रमर श्रीजीके मुखपद्मका मधु-पानकर निहाल हो गये। तदनन्तर श्रीराधाजीको आधी चेतना आ गयी और वे बार-बार नेत्र खोलने-मूँदने लगीं। तब अत्यन्त अपरिमित मधुर-अमृत-रसमें घोलकर प्रियतम अत्यन्त विनम्रभावसे पवित्र वाणी बोले। उन्होंने कहा—'हे मेरी सञ्जीवनी-बूटी! तनिक नेत्र खोलकर तुम मेरी ओर देखो। मैं तुम्हारे चरणोंका नित्यका चाकर हूँ। मुझे तनिक भी, पलभरके लिये भी दूर न करो।'

पियके वचन सुधामय सुनि, करि पूर्न चेत, उठि बैठी बाल।
दोउन के कन-कन उमग्यो अति प्रेम-सुधासागर सुबिसाल॥
सुखी भई सखि, नाचि उठयो मन, जिमि घन लखि बन नाचत मोर।
भई सफल जीवन लखि, प्यारी-प्रीतम कौं आनँद बिभोर॥

प्रियतमके अमृतमय वचन सुनते ही बाला श्रीराधाजीको पूर्णरूपसे चेत हो गया और वे तत्काल उठकर बैठ गयीं। दोनोंके कण कणमें सुविशाल प्रेम-सुधा समुद्र अत्यन्त उमड़ आया। सखी परम सुखी हो गयी, उसका मन-मयूर वैसे ही नाच उठा, जैसे मेघको देखकर वनमें मयूर नृत्य करने लगता है। प्रिया-प्रियतमको प्रेमानन्दमें निमग्न देखकर सखीका जीवन सफल हो गया।

बोलो नित्यनिकुञ्जेश्वरी श्रीराधा तथा उनके अभिन्न प्राणवल्लभ श्रीरासरसेश्वरकी जय!

झाँकी ५८

श्रीकृष्ण-वधके प्रयत्न सब बालगोपालरूप श्यामसुन्दरको मारनेमें कंसके सभी प्रयास निष्फल हो गये, तब दुष्ट कंसने असुर-मन्त्रियोंकी सलाहके अनुसार धनुर्यज्ञका बहाना रचकर कुवलयापीड हाथी और मुष्टिक-चाणूरादि पहलवानोंके द्वारा श्रीकृष्णको मरवानेका निश्चय किया और श्रीकृष्ण और बलरामको लिवा लानेके लिये परम भागवत अक्रूरजीको नन्दव्रज भेजा।

अक्रूर जी धन्य थे, वे भगवत्-चरण-दर्शनकी विशुद्ध लालसा लेकर नाना प्रकारके मङ्गलमय मनोरथ करते हुए मथुरासे चले और नन्दगाँवके समीप पहुँचकर श्यामसुन्दरके चरणचिह्नोंको देखते ही अपने आपको भूलकर प्रेमावेशमें धूलमें लोट गये। उन्हें कैसा और कितना विलक्षण आनन्द मिला, इसे वे ही जानते हैं।

तदनन्तर अक्रूरजी नन्दबाबा-यशोदामैयासे मिले। उन्हें कंसका संदेश सुनाया। श्रीराम तथा श्रीकृष्णको मथुरा भेजनेकी बात पक्की हो गयी। श्रीराम-श्याम मथुरा जा रहे हैं, कब लौटेंगे यह पता नहीं—इस समाचारसे सारा नन्द-व्रज व्याकुल हो उठा। निर्निमेष आँखोंसे रोदन करनेवाले सभी वर्गोंमें करुणारस फूट पड़ा। चारों ओर हाहाकार मच गया।

वात्सल्यरसपूर्ण यशोदामैया और नन्दबाबा तथा उनके समानवयस्क गोप-गोपी और भगवान्‌के बाल-सखाओंकी दशा अत्यन्त करुणोत्पादक हो गयी। प्रेमरसमयी श्रीगोपियोंकी दशाका तो शब्दोंसे भी वर्णन नहीं किया जा सकता और इनमें राधाकी स्थिति सबसे अधिक गम्भीर थी।

मधुपुरी गवन करत जीवनधन ।
लै दाउए संग सुफलक-सुत, सुनि जरि उठी ज्वाल मय मन-तन ॥
भई बिकल, छायौ बिषाद मुख, सिथिल भये सब अंग सु-सोभन ।
उर-रस जरयौ, रहे सूखे है दृग अपलक, तम व्यापि गयौ घन ॥
लगे आय समुझावन प्रियतम, पै न सके, प्रगटयौ, बिषाद मन ।
बानी रुकी, प्रिया लखि आरत, थिर तन भयौ, मनो बिनु चेतन ॥
भावी बिरहानल प्रिय-प्यारी, जरन लगे, बिसरे जग-जीवन ।
कौन कहै महिमा या रतिकी, गति न जहाँ पावत सुर-मुनिजन ॥

उन्होंने जब सुना कि उनके जीवनधन श्यामसुन्दर दाऊजीको सङ्ग लेकर अक्रूरके साथ मथुरा जा रहे हैं तो उनके सारे मन-तनमें भीषण ज्वाला भड़क उठी। वे अत्यन्त व्याकुल हो गयीं, मुखपर घोर विषाद छा गया, उनके समस्त परम शोभामय अङ्ग-प्रत्यङ्ग शिथिल हो गये। हृदयका सारा रस जल गया। दोनों आँखें सूख गयीं और पलकें पड़नी बंद हो गयी। जीवनमें घना अंधकार छा गया। (श्रीराधाकी ऐसी दशा सुन-समझकर) उनके प्रियतम श्रीश्यामसुन्दर उनके समीप उन्हें समझाने आये। कुछ कहना चाहते थे, पर बोल हो नहीं सके, राधाकी अत्यन्त आर्त दशा देखकर उनके मनमें भी अपार विषादका उदय हो आया। वे जड़ पाषाणवत् हो गये, मानो सारी चेतना ही विलुप्त हो गयी हो। दोनों प्रिया-प्रियतम भावी विरहकी भयानक आगमें जलने लगे। उन्हें न संसारकी सुधि रही, न अपने जीवनकी !

जिसमें सुर-मुनियोंकी भी गति नहीं है, ऐसे इस दिव्य प्रेमरसकी महिमा कौन कह सकता है !

झाँकी ५६

सच्चिदानन्दघन परात्पर प्रभु बालगोपालरूप श्यामसुन्दरको निहत करनेके कंसके सारे प्रयास निष्फल हो गये, तब दुष्ट असुर-मन्त्रियोंकी सम्मतिके अनुसार धनुर्यज्ञका बहाना रचकर कुवलयापीड हाथी और मुष्टिक-चाणूरादि पहलवानोंके द्वारा श्रीकृष्णको नियत करानेकी बुरी नीयतसे श्रीकृष्ण और बलरामको लिवा लानेके लिये कंसने अक्रूरजीको नन्दव्रज भेजा।

अक्रूरजी भक्त थे, वे भगवच्चरण-दर्शनकी विशुद्ध लालसा लेकर नाना प्रकारके मङ्गलमय मनोरथ करते हुए मथुरासे चले और नन्दी-गोकुलके समीप पहुँचकर श्यामसुन्दरके चरणचिह्नोंको देखते ही रथसे सहसा कूदकर प्रेमभावावेशमें धूलमें लोट गये। उन्हें कैसा और कितना विलक्षण आनन्द मिला, इसे वे ही जानते हैं।

तदनन्तर व्रजमें वे नन्दबाबा-यशोदामैयासे मिले। उन्हें कंसका संदेश सुनाया। श्रीराम तथा श्रीकृष्णको मथुरा भेजनेकी बात पक्की हो गयी। श्रीराम-श्याम मथुरा जा रहे हैं, कब लौटेंगे यह पता नहीं—इस समाचारसे सारा नन्द-व्रज व्याकुल हो उठा। विभिन्न भावोंसे स्नेह करनेवाले सभी वर्गोंमें करुणारस फूट पड़ा। चारों ओर हाहाकार मच गया।

वात्सल्यरसपूर्ण यशोदामैया और नन्दबाबा तथा उनके समवयस्क गोप-गोपी और भगवान्‌के बाल-सखाओंकी दशा अत्यन्त करुणोत्पादक हो गयी। प्रेमरसमयी श्रीगोपियोंकी दशाका तो संकेतसे भी वर्णन नहीं किया जा सकता और इनमें राधाकी स्थिति सबसे अधिक गम्भीर थी!

मधुपुरी गवन करत जीवनधन ।
लै दाउए संग सुफलक-सुत, सुनि जरि उठी ज्वाल सब मन-तन ॥
भई बिकल, छायौ विषाद मुख, सिथिल भये सब अंग सु-सोभन ।
उर-रस जरयौ, रहे सूखे द्वै दृग अपलक, तम व्यापि गयौ घन ॥
लगे आय समुझावन प्रियतम, पै न सके, प्रगट्यौ, विषाद मन ।
बानी रुकी, प्रिया लखि आरत, थिर तन भयो, मनों बिनु चेतन ॥
भावी बिरहानल प्रिय-प्यारी, जरन लगे, बिसरे जग-जीवन ।
कौन कहै महिमा या रतिकी, गति न जहाँ पावत सुर-मुनिजन ॥

उन्होंने जब सुना कि उनके जीवनधन श्यामसुन्दर दाऊजीको सङ्ग लेकर अक्रूरके साथ मथुरा जा रहे हैं तो उनके सारे मन-तनमें भीषण ज्वाला भड़क उठी। वे अत्यन्त व्याकुल हो गयीं, मुखपर घोर विषाद छा गया, उनके समस्त परम शोभामय अङ्ग-प्रत्यङ्ग शिथिल हो गये। हृदयका सारा रस जल गया। दोनों आँखें सूख गयीं और पलकें पड़नी बंद हो गयीं। जीवनमें घना अंधकार छा गया। (श्रीराधाकी ऐसी दशा सुन-समझकर) उनके प्रियतम श्रीश्यामसुन्दर उनके समीप उन्हें समझाने आये। कुछ कहना चाहते थे, पर बोल हो नहीं सके, राधाकी अत्यन्त आर्त दशा देखकर उनके मनमें भी अपार विषादका उदय हो आया। वे जड पाषाणवत् हो गये, मानो सारी चेतना ही विलुप्त हो गयी हो। दोनों प्रिया-प्रियतम भावी विरहकी भयानक आगसे जलने लगे। उन्हें न संसारकी सुधि रही, न अपने जीवनकी।

जिसमें सुर-मुनियोंकी भी गति नहीं है, ऐसे इस दिव्य प्रेमरसकी महिमा कौन कह सकता है?

झाँकी ५६

सच्चिदानन्दघन परात्पर प्रभु बालगोपालरूप श्यामसुन्दरको निहत करनेके कंसके सारे प्रयास निष्फल हो गये, तब दुष्ट असुर-मन्त्रियोंकी सम्मतिके अनुसार धनुर्यज्ञका बहाना रचकर कुवलयापीड हाथी और मुष्टिक-चाणूरादि पहलवानोंके द्वारा श्रीकृष्णको नियत करानेकी बुरी नीयतसे श्रीकृष्ण और बलरामको लिवा लानेके लिये कंसने अक्रूरजीको नन्दव्रज भेजा ।

अक्रूरजी भक्त थे, वे भगवच्चरण-दर्शनकी विशुद्ध लालसा लेकर नाना प्रकारके मङ्गलमय मनोरथ करते हुए मथुरासे चले और नन्दी-गोकुलके समीप पहुँचकर श्यामसुन्दरके चरणचिह्नोंको देखते ही रथसे सहसा कूदकर प्रेमभावावेशमें धूलमें लोट गये । उन्हें कैसा और कितना विलक्षण आनन्द मिला, इसे वे ही जानते हैं ।

तदनन्तर व्रजमें वे नन्दबाबा-यशोदामैयासे मिले । उन्हें कंसका संदेश सुनाया । श्रीराम तथा श्रीकृष्णको मथुरा भेजनेकी बात पक्की हो गयी । श्रीराम-श्याम मथुरा जा रहे हैं, कब लौटेंगे यह पता नहीं——इस समाचारसे सारा नन्द-व्रज व्याकुल हो उठा । विभिन्न भावोंसे स्नेह करनेवाले सभी वर्गोंमें करुणारस फूट पड़ा । चारों ओर हाहाकार मच गया ।

वात्सल्यरसपूर्ण यशोदामैया और नन्दबाबा तथा उनके समवयस्क गोप-गोपी और भगवान्‌के बाल-सखाओंकी दशा अत्यन्त करुणोत्पादक हो गयी । प्रेमरसमयी श्रीगोपियोंकी दशाका तो संकेतसे भी वर्णन नहीं किया जा सकता और इनमें राधाकी स्थिति सबसे अधिक गम्भीर थी !

मधुपुरी गवन करत जीवनधन ।
लै दाउए संग सुफलक सुत, सुनि जरि उठी ज्वाल सब मन-तन ॥
भईं बिकल, छायौ बिषाद मुख, सिथिल भये सब अंग सु-सोभन ।
उर-रस जरयौ, रहे सूखे द्वै दृग अपलक, तम व्यापि गयौ घन ॥
लगे आय समुझावन प्रियतम, पै न सके, प्रगट्यौ, बिषाद मन ।
बानी रुकी, प्रिया लखि आरत, थिर तन भयो, मनों बिनु चेतन ॥
भावी बिरहानल पिय-प्यारी, जरन लगे, बिसरे जग-जीवन ।
कौन कहै महिमा या रतिकी, गति न जहाँ पावत सुर-मुनिजन ॥

उन्होंने जब सुना कि उनके जीवनधन श्यामसुन्दर दाऊजीको सङ्ग लेकर अक्रूरके साथ मथुरा जा रहे हैं तो उनके सारे मन-तनमें भीषण ज्वाला भड़क उठी। वे अत्यन्त व्याकुल हो गयीं, मुखपर घोर विषाद छा गया, उनके समस्त परम शोभामय अङ्ग-प्रत्यङ्ग शिथिल हो गये। हृदयका सारा रस जल गया। दोनों आँखें सूख गयीं और पलकें पड़नी बंद हो गयीं। जीवनमें घना अंधकार छा गया। (श्रीराधाकी ऐसी दशा सुन-समझकर) उनके प्रियतम श्रीश्यामसुन्दर उनके समीप उन्हें समझाने आये। कुछ कहना चाहते थे, पर बोल ही नहीं सके, राधाकी अत्यन्त आर्त दशा देखकर उनके मनमें भी अपार विषादका उदय हो आया। वे जड पाषाणवत् हो गये, मानो सारी चेतना ही विलुप्त हो गयी हो। दोनों प्रिया-प्रियतम भावी विरहकी भयानक आगसे जलने लगे। उन्हें न संसारकी सुधि रही, न अपने जीवनकी!

जिसमें सुर-मुनियोंकी भी गति नहीं है, ऐसे इस दिव्य प्रेमरसकी महिमा कौन कह सकता है!

— ——— —

झाँकी ६०

भगवान् परम प्रियतम श्यामसुन्दरके मथुरा पधार जानेपर श्रीराधाजी दिन-रात उनके विरहमें व्याकुल एवं उनके स्मृति-सुखसे सराबोर रहा करतीं। उनकी विलक्षण (युगपत् विरुद्धधर्माश्रयी) स्थिति सर्वथा अनिर्वचनीय ही नहीं, अन्य सबके लिये—बड़े-बड़े ज्ञानी महापुरुषों एवं महान् देवताओंके लिये भी अचिन्त्य है। फिर, विलास-विभ्रमरत, मोहावृत, भोग-दासतामें नित्य संलग्न एवं कामनाके विषमज्वरसे संतप्त इन्द्रियारामी प्राणी तो कल्पना ही कैसे कर सकता है? उनकी अतुल अनुकम्पासे केवल बाह्यरूपमें जो यत्किंचित् चिन्तन हो जाता है, यही परम सौभाग्य है।

जग रही थी रात भर सुधिहीन मैं। थी सुखी प्रियके स्मरणमें लीन मैं॥
नित्य ही जगते निशा यों बीतती। श्यामकी स्मृति-खान तदपि न रीतती॥
आज प्रातः सहज झपकी आ गयी। वह मुझे मधुपुरीमें पहुँचा गयी॥
देखकर मैं दशा विचलित हो गयी। उसी क्षण मन-शान्ति मेरी खो गयी॥

एक दिन श्रीराधारानीने अपनी एक प्रिय सखी (ललिताजी) को पास बुलाकर रोते-रोते अपने स्वप्नकी घटना सुनायी—'सखी ! मैं रात्रिभर अपनी सुध-बुध खोये जाग रही थी, प्रियतम श्यामसुन्दरकी स्मृतिमें लीन मैं बड़ी सुखी थी। मेरी रात्रि सदा ही यों (स्मृति-सुखमें) जागते बीतती है, पर वह स्मृतिकी खान (इतनी अनन्त है कि) कभी खाली होती ही नहीं। आज प्रातःकाल सहज ही मुझे नींदकी झपकी आ गयी और उसने मुझको मथुरापुरीमें पहुँचा दिया। वहाँ (प्रियतम) की दशा देखकर मैं विचलित हो गयी, उसी क्षण मेरी मानस-शान्ति नष्ट हो गयी।'

वाटिकामें घूमते वे श्याम थे। दुखी व्याकुल हो रहे अविराम थे॥
नेत्र थे आँसू-सलिल बरसा रहे। विकलताको और भी सरसा रहे॥
'हा प्रिये ! हा राधिके ! हृदयेश्वरी ! हा सकल सुखसाधिके ! प्राणेश्वरी !
लोग कहते यहाँ अति सुख-साज है। देखता मैं, छा रहा दुख-राज है॥
है नहीं तेरे बिना सुख एक पल। चित्त अधिकाधिक हुआ जाता विकल॥'
बिलखते यों पड़े सहसा भूमिपर। दौड़, मैंने ले लिया निज गोद सिर !
हाय ! इतनेमें तुरत मैं जग गयी। अग्नि दारुण प्राणमें बस, लग गयी॥

(मैंने देखा—) वे श्यामसुन्दर (पुष्प-) वाटिकामें घूम रहे थे और लगातार दुःखी, व्याकुल हुए जा रहे थे। उनके नेत्र (-युगल) अश्रु-जल बरसा रहे थे, जिनसे उनकी व्याकुलता और भी बढ़ी जा रही थी। (उनके मुखसे ये शब्द निकले—) हा प्रिये ! हा राधिके ! हृदयेश्वरी ! हा (मेरे) सभी सुखोंकी साधिके ! प्राणेश्वरी ! लोग कहते हैं कि यहाँ (मथुरामें) सुखके विशाल

साधन हैं, पर मैं तो यहाँ दुःखराज्य ही छाया देखता हूँ। तेरे बिना मुझे एक पल भी सुख नहीं है, मेरे चित्तकी व्याकुलता अधिक-से-अधिक बढ़ी जा रही है।' यों बिलखते हुए ही वे सहसा (मूर्च्छित होकर) भूमिपर गिर पड़े, मैंने दौड़कर उनका मस्तक अपनी गोदमें ले लिया। हाय! इतनेमें ही तुरंत मैं जग गयी, बस, मेरे प्राणोंमें दारुण दावानल जल उठा।

सोचती हूँ, तभीसे मैं मन दिये। हो रहे क्यों विकल प्रिय मेरे लिये॥
रूप-गुणसे हीन तुच्छ नगण्य मैं। कुमति, कुत्सित-भाव नित्य जघन्य मैं॥
है रिझानेको नहीं गुण एक भी। निन्दनीय नितांत दोष भरे सभी॥
हूँ नहीं मैं कभी उनको भूलती। इसी कारण, बस, जो रहती झूलती—
सदा उनके सरल मनमें मैं बुरी। (यह)स्मृति ही आघात करती बन छुरी॥
भूल उनको मैं अगर जाऊँ अभी। तो न हो फिर दुःख प्रियतमको कभी॥

मैं उसी समयसे मन लगाये सोच रही हूँ कि वे प्रियतम क्यों मेरे लिये इतने व्याकुल हो रहे हैं। मैं तो रूप-गुणसे रहित तुच्छ नगण्य हूँ, मैं कुबुद्धि तथा कुत्सित भाववाली नित्य नीच हूँ। उनके रिझानेके योग्य एक भी गुण मुझमें नहीं है, उल्टे सभी नितान्त निन्दनीय दोष भरे हैं। (हाँ एक बात है—) मैं उन्हें कभी भी भूलती नहीं हूँ। (बस, मेरी यह उनकी स्मृति ही उनके मनमें प्रतिबिम्बित होती है) बस, इसी कारण मैं नीच सदा उनके सरल हृदयमें झूलती रहती हूँ। बस, मेरी यह स्मृति ही छुरी बनकर (उनके चितपर) चोट करती रहती है। मैं यदि उन्हें अभी भूल जाऊँ तो फिर मेरे उन प्रियतमको कभी दुःख न हो।

प्राणका आधार है प्रियका स्मरण। प्राण हर लेगा तुरत ही विस्मरण ॥
किंतु दुःख-विमुक्त हों यदि प्राणधन। लाख ऐसे प्राण दूँगी सुखी मन ॥
श्यामकी स्मृति अभी तुम हर लो प्रभो! मरूँ सुखसे, हों सुखी प्रियतम विभो!

(परंतु सखी!) मेरे प्राणोंका आधार तो प्रियतमका स्मरण ही है। उनका विस्मरण तुरत ही मेरे प्राण हर लेगा। पर यदि मेरे प्राणधन दुःखसे मुक्त होते हों तो मैं सुखी मनसे ऐसे लाख-लाख प्राणोंका परित्याग कर दूँगी। हे प्रभो! (मेरे मनसे) श्यामसुन्दरकी स्मृतिको अभी हरण कर लो। मैं सुखसे मर जाऊँ और हे विभो! मेरे प्रियतम सुखी हो जायँ।

ललिताने बहुत कुछ समझाया-बुझाया, पर श्रीराधिकाजीको उससे जरा भी सान्त्वना नहीं मिली। वे दुःख-संतप्त हृदयसे अपनी आर्तनिमग्न स्थितिमें ही फिर कहने लगीं—

सखी! न कोई और जगत्में मुझ-सा कहीं अघी दुख धाम।
जिसके कारण रहते प्रियतम दुखी, नहीं पाते विश्राम ॥
भूल न सकती मैं प्रियतमको एक पलक भी आठों याम।
इसीलिये वे मेरी स्मृतिमें रहते सदा व्यथित घनश्याम ॥
सुख-साधन समग्र, सेवक शुचि, सु प्रासाद, रम्य आराम।
ललना गुण-सौन्दर्य परम माधुर्यमयी सेविका ललाम ॥
सब कुछ होनेपर भी रहती मेरी स्मृति छाई उर-धाम।
इससे कुछ न सुहाता उनको, पाते नहीं तनिक आराम ॥
मैं यदि भूल सकूँ, तो वे भी भूल जायँ मुझको सुखधाम।
पाकर नव अनुराग, बने वे सुखी सहज प्रिय प्राणाराम ॥

सखी! मेरे समान पापी तथा दुःखका धाम जगत्में अन्य कोई भी नहीं है, जिसके कारण मेरे प्रियतम दुखी रहते

शान्ति नहीं पाते। मैं आठ पहरमें एक पल भी प्रियतमको भूल नहीं सकती, यही कारण है कि मेरी स्मृतिसे वे घनश्याम सदा व्यथित रहते हैं। सुखोंके समस्त साधन, पवित्र सेवक, सुन्दर महल, रमणीय बाग-बगीचे, सदा सेवामें लगी हुई गुणसौन्दर्यसम्पन्न परम मधुरिमामयी ललाम ललनाएँ (उन्हें उपलब्ध हैं)। यह सब होनेपर भी उनके हृदय-मन्दिरमें जो मेरी स्मृति छायी रहती है, इससे उन्हें कुछ भी अच्छा नहीं लगता और वे जरा भी आराम नहीं पाते। (उनकी इस मेरी स्मृतिका कारण है मेरे हृदयमें रहनेवाली उनकी नित्य स्मृति) अतः मैं यदि उन्हें भूल सकूँ तो वे सुखधाम श्याम भी मुझे भूल जायँ, फिर तो वे मेरे प्रियतम प्राणाराम सभी अनुकूलताओंको प्राप्त करके सहज ही सुखी हो जायँ।

प्यारी सखी! करो तुम ऐसा कोई तुरत सिद्धिप्रद काम।
मेरे मनसे मृत-संजीवनि-स्मृति उनकी मिट जाय तमाम॥
मुझे बताओ या मैं जिसको करूँ अभी मनसे अविराम।
जिससे हों वे सुखी प्राणधन खिले वदन-पंकज अभिराम॥

(अतः मेरी) प्रिय सखी! तुम तुरंत ऐसा कोई सिद्धिप्रद कार्य करो, जिससे मेरे मनसे उनकी, मृतकको जिला देनेवाली सारी स्मृति मिट जाय या फिर, मुझे ही (कोई उपाय) बताओ, जिसे मैं मन लगाकर लगातार करूँ, जिससे वे मेरे प्राणधन सुखी हो जायँ और (उनका) सुन्दर मुखकमल खिल उठे।'

श्रीराधाके इन करुण उद्गारोंको सुनकर ललिताजीके नेत्रोंसे अश्रुधारा बह चली, वे कुछ भी बोल न सकीं। तब श्रीराधाजी ही

झाँकी ६१

[श्रीराधा-माधव नित्य एकतत्त्व होनेपर भी इनका नित्य लीलाविहार प्रसिद्ध है। इस लीलामें श्रीश्यामसुन्दर अभी मथुरा नहीं पधारे हैं, पर श्रीराधाकी प्रेमवैचित्त्य-स्थितिमें भविष्यमें होनेवाले श्रीश्यामसुन्दरके मथुरागमन तथा वियोगदशाका चित्र उनके अन्तः-करणमें प्रकट हो जाता है और उसीके अनुसार उनमें भावलहरियोंका उदय होता है।]

देखा स्वप्न राधिकाने हो गयी दुखित अतिशय तत्काल।
सुना रहे माधव उद्धवसे अपनी दुर्गतिका सब हाल॥
दुर्बल अति कृशकाय मलिन-मुख श्रान्तिपूर्ण मानस अति दीन।
बहा रहे थे नेत्र उष्ण जल दोनों, था सब वेश मलीन॥

श्रीराधिकाजीने एक स्वप्न देखा और वे तत्काल अत्यन्त दुखी हो गयीं। उन्होंने देखा उनके प्रियतम माधव अपने सखा उद्धवसे अपनी दुर्गतिका सारा वृत्तान्त सुना रहे हैं। वे अत्यन्त दुर्बल हो गये हैं; उनका शरीर कृश हो गया है, मुख मलिन है, मन थकावटसे भरा है, वे अत्यन्त दीन हो रहे हैं। उनके दोनों नेत्रोंसे गरम-गरम आँसू बह रहे हैं और उनका वेश मैला हो रहा है। वे बोले--

'मेरे विरह व्यथित अति राधा करती नित्य विलाप अधीर।
करती सदा स्मरण मेरा निर्दहन बहाती लोचन नीर॥
क्षण न भूल सकती वह मुझको, क्षण न कभी पाती वह शान्ति।
बढ़ता नित्य निरतिशय उसका हृदय-दाह भीषणतम भ्रान्ति॥

'उद्धव! राधा मेरे वियोगसे अत्यन्त व्यथित हुई सदा अधीर होकर विलाप करती रहती है। वह बलपूर्वक जलानेवाला मेरा स्मरण सदा करती हुई आँखोंसे जल बहाती रहती है। वह न तो क्षणभर मुझे भूल सकती है और न क्षणभरके लिये कभी उसे शान्ति ही मिलती है। उसका हृदय-दाह सदा आत्यन्तिक रूपमें बढ़ता जा रहा है और साथ ही उसमें अति भयानक भ्रान्ति बढ़ रही है।

'इसका कारण यही एक मैं भूल नहीं पाता क्षण एक।
रहता सदा धधकता उरमें विरहानल, कर भस्म विवेक॥
मेरे उरकी ज्वाला बढ़ती नित्य बढ़ाती उसका दाह।
क्योंकि मधुर स्मृति उसकी रहती मेरे उरमें भरी अथाह॥
यह स्मृति ही उसमें नित जाग्रत् करती मेरी स्मृति अविराम।
इससे जलता हृदय, सूखता जाता उसका वदन ललाम॥

'इसका एकमात्र कारण यही है कि मैं उसे एक क्षण भी भूल नहीं पा रहा हूँ। उसके वियोगकी अग्नि निरन्तर मेरे हृदयमें जलती रहती है। उसने मेरे सारे विवेकको भस्म कर दिया है। मेरे हृदयकी यह ज्वाला नित्य बढ़ती और राधाकी ज्वालाको बढ़ाती रहती है; क्योंकि राधाकी मधुर स्मृति मेरे हृदयमें इतनी भरी है कि उसकी कहीं थाह ही नहीं है। यह राधाकी स्मृति ही उसमें नित्य-निरन्तर मेरी स्मृतिको अनवरत जगाती रहती है। इसीने

उसका हृदय जलता है और उसका ललित वदन सूखता जा रहा है।

'किसी तरह यदि मैं राधाको उद्धव ! यदि जा पाऊँ भूल।
तो उर-दाह बुझे राधाका, मिटे तभी मेरा उर-शूल॥
इसी भयानक चिन्तासे हो रही दुर्दशा मेरी आज।
इसी हेतु मेरे जीवनमें अद्भुत छाया शोक-समाज॥
कितना मैं निष्ठुर निर्दय हूँ, सदा कोसता अपने-आप।
इतनी दूर मधुपुरीसे भी देता प्यारीको संताप॥'

'उद्धव ! मैं यदि किसी तरह भी राधाको भूल जा सकूँ तो राधाका यह हृदय-दाह बुझ जाय और मेरे हृदयका शूल भी शान्त हो जाय। इसी भयानक चिन्तासे मेरी आज यह दुर्दशा हो रही है और इसी कारण मेरे जीवनमें एक अद्भुत शोक-समाज छाया है। मैं कितना निष्ठुर, कितना निर्दय हूँ। मैं सदा अपने-आपको कोसता रहता हूँ, जो इतनी दूर मथुरामें रहकर भी प्रिया राधाको जलाता रहता हूँ।

× × ×

देख दशा प्रियकी, सुन उनकी व्यथापूर्ण वाणी निज कान।
हुई परम व्याकुल श्रीराधा, टूटा स्वप्न हुआ मुख म्लान॥

श्रीराधा स्वप्नमें प्रियतमकी यह दशा देखकर तथा उनकी व्यथाभरी वाणी अपने कानोंसे सुनकर अत्यन्त व्याकुल हो गयी। इतनेमें उनका स्वप्न टूट गया और उनका मुख म्लान हो उठा।

स्वप्न स्मरण कर हुई निरतिशय पीड़ित प्रेममयी राधा।
समझा उसने मैं ही हूँ बस, प्रियतमके सुखकी बाधा॥

हुआ कलेवर कम्पित कोमल बही अश्रुओंकी धारा ।
छाया मन विषाद भारी अति विस्मृति हुआ जगत् सारा ॥
लगी सोचने 'क्यों स्मृति होती मेरी उनके हृदय अपार ?
इसीलिये, मैं नहीं एक क्षण सकती उनको कभी बिसार ॥
मेरी मनकी स्मृतिसे ही उनमें मेरी स्मृति उठती जाग ।
इसीलिये उनके अन्तरमें सदा धधकती रहती आग ॥
जो मैं उन्हें भूल पाऊँ, जो करूँ नहीं उनको मैं याद ।
तो मैं पाऊँ, उनके सहज सुखी होनेका प्रिय संवाद ॥'

प्रेममयी राधा स्वप्नका स्मरण करके अत्यन्त पीड़ित हो उठी । उसने यही समझा कि प्रियतमके सुखमें बस, मैं ही एक बाधा हूँ । उसका कोमल शरीर काँप उठा और आँखोंसे आँसुओंकी धारा बह चली । मनमें बड़ा भारी विषाद छा गया, जिसने सारे जगत्‌को उसके मनसे भुला दिया । वह सोचने लगी—

'प्रियतम श्यामसुन्दरके हृदयमें मेरी इतनी अपार स्मृति क्यों होती है ? इसीलिये होती है कि मैं एक क्षण भी कभी उन्हें भूल नहीं सकती । मेरे मनकी स्मृतिसे ही उनमें मेरी स्मृति जग उठती है, इसीसे उनके हृदयमें सदा अग्नि धधकती रहती है । यदि मैं उन्हें भूल जा सकूँ और यदि मैं उन्हें याद न करूँ तो मुझे प्रियतमके सहज ही सुखी होनेका संवाद प्राप्त हो सकता है ।'

इस प्रकार निश्चय करके राधा उसी समय तुरत श्रीअम्बिकाजीके मन्दिरमें पहुँची । आँखोंसे अनवरत झरना झर रहा था, इससे उसके अरुण-अरुण कपोल गीले हो रहे थे । वह गद्गद वाणीसे प्रार्थना करने लगी—

यों निश्चय कर गयी अम्बिका-मन्दिरमें राधा तत्काल ।
आर्द्र हो गये नेत्रोंके अविरत निर्झरसे अरुणिम गाल ॥
करने लगी विनय गद्गद वाणीसे 'हे अम्बा माई !
मेरे उरसे तुरत हटा दे प्रियतमकी स्मृति सुखदाई ॥
विरहानल जलता, पर पाती उस स्मृतिसे मैं सुख अनवद्य ।
पर प्रियके सुख हेतु हरण कर मैया ! तू मेरा सुख सद्य ॥
प्रियतमकी मधुर स्मृति ही है मेरे प्राणोंका आधार ।
चले जायँगे प्राण ! भले, करते भी क्या रहकर बेकार ॥
नहीं रहेंगे प्राण, रहेगा नहीं हृदय स्मृतिका आगार ।
हो जायेंगे सुखी सदाके लिये श्रेष्ठतम प्राणाधार ॥'

'हे अम्बिका माता ! मेरे हृदयसे प्रियतमकी सुखदायिनी स्मृतिको तुरंत दूर कर दे । उनकी स्मृतिसे उनके विरहकी अग्नि भी जलती है, पर उस स्मृतिसे मुझे दूषणरहित परम सुख मिलता है; किंतु प्रियतमके सुखके लिये मैया ! तू प्रियतमकी स्मृतिरूप मेरे उस सुखको तुरंत हरण कर ले । यद्यपि प्रियतमकी मधुर स्मृति ही मेरे प्राणोंका आधार होनेके कारण स्मृति न रहनेपर मेरे प्राण चले जायँगे, और उनका जाना ठीक ही है । प्रियतमकी स्मृतिके बिना वे बेकार रहकर भी क्या करते ? जब मेरे प्राण नहीं रहेंगे तब स्मृतिका भण्डार हृदय भी नहीं रहेगा । अतएव मेरे परम प्रियतम प्राणाधार सदाके लिये सुखी हो जायँगे ।'

बोली नहीं अम्बिका कुछ, इतनेमें जगा दूसरा भाव ।
'हैं, कितना दुःखप्रद होगा प्रियको मेरा प्राणाभाव ॥

पता नहीं, कैसी होगी उत्पन्न हृदयमें उनके हूक ।
पता नहीं, कैसे बच पायेगा वह बिना हुए दो टूक ॥
बोली—'मैया ! नहीं चाहिये अब मुझको कुछ भी वरदान ।
बना रहे सब कुछ मेरा ज्यों-का-त्यों बदले नहीं विधान ॥

देवी अम्बिकाने कोई उत्तर नहीं दिया । इतनेमें ही श्रीराधाके मनमें दूसरा भाव जाग उठा—'हैं, मेरे प्राण नहीं रहेंगे और यह समाचार जब प्राणनाथको मिलेगा, तब मेरे प्राणोंका अभाव उनके लिये कितना दुःखप्रद होगा ! पता नहीं, इससे उनके हृदयमें कैसी हूक उठेगी और कौन जानता है कि उनका हृदय दो टूक हुए बिना कैसे रह जायगा । अतः मैं अपने प्राणोंको रखूँगी ही ।' उस निश्चयसे वह बोली—'मैया ! अब मुझको आपसे कुछ भी वरदान नहीं चाहिये । मेरा सब कुछ जैसा कुछ है, वह ज्यों-का-त्यों बना रहे । कोई भी विधान जरा भी न बदले ।'

× × ×

भावोदय हो उठा विलक्षण सत्वर राधाके उर-देश—
'हम दोनों हैं सदा परस्पर प्राण प्रिय प्रियतम प्राणेश ॥
सदा एक हैं, सदा साथ हैं, होता नहीं कदापि वियोग ।
वे ही एक बने प्रिय प्यारी, बन वही वियोग सयोग ॥'

× × ×

इतना होते ही वह टूटा स्वप्न दूसरा भी तत्काल ।
खोले नहीं नेत्र, वह रही सोचती निज मनमें उस काल ॥

इतना कहते ही तुरत श्रीराधाके हृदय-देशमें एक दूसरे विलक्षण भावका उदय हुआ । वह सोचने लगी—'हम दोनों तो सदा ही एक दूसरेके प्यारे प्राण तथा प्रियतम प्राणेश्वर हैं । मैं उनकी प्राण

हूँ और उनके प्राणोंकी ईश्वरी हूँ तथा वे मेरे प्राण हैं एवं मेरे प्राणेश्वर हैं । हम दोनों सदा ही एक हैं, सदा ही साथ हैं । हमारा तो कभी वियोग होता ही नहीं । यह तो वे ही एक 'प्रियतम' तथा 'प्रियतमे' बने हैं और वे ही 'संयोग-वियोग' बन जाते हैं ।

× × ×

इतना होते ही उसी क्षण यह दूसरा स्वप्न भी टूट गया । राधा कुछ मन-ही-मन सोचती रही, इसलिये उसने उस समय आँखें नहीं खोलीं ।

पूर्व स्वप्नके अंदर ही यह दीखा था फिर स्वप्न नवीन ।
स्वप्न देख जब राधा तुरत हो गयी थी बेहद गमगीन ॥
सोई थी वस्तुतः कुञ्जमें सिर रक्खे प्रियतमकी गोद ।
नींद आ गयी थी उसको, प्रिय देख रहे थे वदन समोद ॥
दीख पड़ी जब प्यारी मुख-आकृतिपर भावोंकी छाया ।
हिले जगानेको प्रियतम, था मन उनका कुछ घबराया ॥

पिछले स्वप्नके अंदर ही पुनः यह नया स्वप्न दीखा था । यह तब प्रारम्भ हुआ था, जब पहला स्वप्न देखकर राधापर असीम विषाद छा गया था । वस्तुतः राधाजी निकुञ्जमें प्रियतम श्यामसुन्दर-की गोदमें सिर रखकर सोयी थी । उसे नींद आ गयी । प्रियतम उसके मुखकी ओर देख रहे थे । जब उन्हें उसकी मुखाकृतिपर विविध भावोंकी छाया दिखायी दी, तब उसे जगानेके लिये वे कुछ हिले । उस समय उनका मन भी जरा घबरा गया था । (पता नहीं, राधाने कैसा स्वप्न देखा है ?)

× × ×

जगी, नेत्र खोले—देखा, प्रियतमका सुन्दर वदन सरोज।
जिनके सौन्दर्यांश कोटि पर न्योछावर शतकोटि मनोज॥
देखा, रहे सहेज स्वयं निज कर कमलोंसे बिखरे केश।
पोंछ रहे निज वसन स्वेद-कण, हुआ स्वप्नमें ,था उन्मेष॥
मिटा दुःख छायी प्रसन्नता बनी तुरत प्रियतम गलहार।
उमड़ा लीलोदधि, लहराने लगीं लहरियाँ मधुर अपार॥

राधा जागी, उसने नेत्र खोलते ही उन प्रियतम श्यामसुन्दरका सुन्दर मुखकमल देखा, जिनके सौन्दर्यके करोड़वें अंशपर सौ करोड़ कामदेव न्यौछावर हैं। राधाने देखा—वे प्रियतम स्वयं अपने करकमलोंसे उसके बिखरे केशोंको सहेज रहे हैं और अपने वस्त्राञ्चलसे उसके पसीनेकी बूँदोंको पोंछ रहे हैं, जो स्वप्नमें उत्पन्न हो गयी थीं।

राधाका सारा दुःख मिट गया, उसपर प्रसन्नता छा गयी और वह तुरत प्रियतमके गलेमें लिपट गयी। लीलाका समुद्र उमड़ा और उसमें अपरिमित मधुर लहरें लहरा उठीं।

× × ×

शयन स्वप्न जागरण न कुछ था, था बस शुद्ध प्रेमवैचित्त्य।
लीलारत राधा माधव थे, रहते हैं वे जैसे नित्य॥

यथार्थमें न राधा सोयी, न स्वप्न देखे और न जागी ही। यह तो उसका विशुद्ध प्रेम वैचित्त्य था, जो राधा-माधवकी सदाकी भाँति चलनेवाली लीलामें ही राधाके अंदर प्रकट हो गया था।



झाँकी ६२

यद्यपि श्रीराधाके प्रियतम श्रीश्यामसुन्दर निरन्तर उनके पास ही रहते हैं, वस्तुतः श्रीश्यामसुन्दर ही तो राधा बने हुए हैं। इन दोनोंमें नित्य अभेद है। तथापि सर्वसमर्पणकी बड़ी मधुर लीला चलती रहती है। उसमें विप्रलम्भ और मिलनके रूपमें मधुर रसका निर्मल प्रवाह बहता रहता है। जो अपने मन-इन्द्रियोंको संसारके विनाशी, दुःखयोनि भोगोंसे हटाकर श्रीराधामाधव-चरणारविन्दके ही चञ्चरीक बन जाते हैं, वे ही इस परम मधुर परम पवित्र दिव्य मधुर-रस-सरितामें अवगाहन करके अपनेको धन्य कर सकते हैं। विषयान्ध भोगी जगत्के परेकी इस दिव्य वस्तुका भोगियोंको, कामादि शत्रुओंसे परास्त विलास-विभ्रम-रत मोहावृत प्राणियोंको साक्षात्कार नहीं हो सकता। अस्तु !

श्यामसुन्दर मदनमोहन रसिकशेखर सच्चिदानन्दघन भगवान् श्रीकृष्ण मथुरा पधार गये हैं। श्रीराधिकासहित समस्त गोपाङ्गनाएँ अत्यन्त विरहसंतप्त हैं। राधिकाजी समस्त महाभाग्यवती गोपरमणियोंके प्राणोंकी भाषामें श्यामसुन्दरको सम्बोधन करके कहती हैं—

अहो हरि ! मो प्राननि के प्रान।
अब कब पुनि सुन पाऊँगी मैं मुरली की मधु तान ॥
कब मुखचंद्र निहारौंगी पुनि रसनिधि ! हौं रसराज।
कब नव नीरद तनु परसौंगी छाँड़ि लोक-कुल लाज ॥
कब त्रिभंग भंगिमा निरखि पुनि होंगे नयन निहाल।
कब हौं पुनि पहिरावौंगी गल गूँथि मालती माल ॥
कब पुनि ललित पान बीरी दै अधर करौंगी लाल।
कब मैं पद-पंकज-पराग लै तिलक करौंगी भाल ॥

अब नहिं सह्यो जात मो पै यह तेरो विषम वियोग।
छटपट करत प्रान निकसेंगे तजि सरीर संयोग॥

अहो हरि! मेरे मन-प्राणोंको हरण करनेवाले श्यामसुन्दर! मेरे प्राणोंके प्राण! अब मैं तुम्हारी मुरलीकी मीठी तान फिर कब सुन पाऊँगी! रसेन्द्रशिरोमणि! रससमुद्र! मैं अब पुनः कब तुम्हारे मुखचन्द्रके दर्शन करूँगी। समस्त लोक-कुल-लज्जाका परित्याग कर कब मैं नव-नीरद-नील श्रीविग्रहका स्पर्श प्राप्त करूँगी। मेरे ये नेत्र कब पुनः निहाल होंगे त्रिभङ्ग-भङ्गिम श्यामछविको निरखकर। अब मैं कब पुनः मालतीकी मनोहर माला गूँथकर मेरे श्यामके गलेमें पहनाऊँगी। कब मैं ललित पानका बीड़ा देकर श्यामसुन्दरके अरुणाधरोंको और भी सुन्दर लाल लाल बना दूँगी। हाय, श्यामसुन्दर! अब पुनः कब मैं तुम्हारी चरणकमल-रजको लेकर उसके अपने ललाटपर तिलक करूँगी। प्रियतम! अब तो तुम्हारा विषम वियोग मुझसे नहीं सहा जाता! निश्चय ही अब ये मेरे छटपटाते हुए प्राण इस शरीरका सम्बन्ध त्यागकर निकल ही जायँगे!!

यों कहते-कहते श्रीमती अधीर हो गयीं। उन्होंने निश्चय कर लिया अब प्राण तो निकलेंगे ही, परंतु प्रियतम मिलनकी आशा मनमें ज्यों-की-त्यों बनी रही। प्राण निकल जानेपर इसी शरीरमें पुनः कैसे प्राण आ सकते हैं और उनसे कैसे मिलन हो सकता है, यह उपाय भी उनके ध्यानमें आ गया। वे सखियोंसे बोलीं—

सखी! तुम इतनौ करियो काम।
मेरे मृत सरीर को या विधि करियो गती ललाम॥
प्रानाधिका सखी तुम सगरी मत्र दीजियो कान।
'कृष्ण' नाम अति मधुर सुनइयो, जब निकसैं ये प्रान॥

मरनोत्तर भी 'कृष्ण' नाम की अमित मधुर धुनि करियो ।
लिखियो 'कृष्ण' नाम सब अंगनि, मनमहँ धीरज धरियो ॥
मती जमुनजल देह बहइयो, मती जरैयो आग ।
व्रज-रज में लुढ़कावत ही लै जइयो देय सुभाग ॥
दोनों बाहु बाँधि रखियो तुम सुचि तमाल की डाल ।
कृष्न-चरन अति रुचिर परस करि तनु नित होय निहाल ॥
प्रतिदिन सब मिलि आय देखियो पावन ऊषा काल ।
क्रीडाभूमि स्याम की रज लै तिलक दीजियो भाल ॥
जुगल-स्रवन मधु नाम सुनइयो, कृष्न-कृष्न अभिराम ।
कृष्न-कृष्न को कीर्तन करियो चहुँ दिसि नित्य ललाम ॥
भुज-ललाट-मुख-उर पै लिखियो प्रियतम को प्रिय नाम ।
तुलसी-माल गले पहिरैयो हरि प्रिया सुखधाम ॥
कबौं जो प्रियतम कछु कारन तें पुनि वृंदावन आवैं ।
दरस-परस-संजीवनि ! पावत देह प्रान पुनि छावैं ॥
या विधि मैं पुनि जीवन-धन कौं सकृत देखि जो पाऊँ ।
चरन पकरि राखौं नित संनिधि करि अति विनय मनाऊँ ॥

प्रिय सखी ! तुम इतना काम करना । मेरे शरीरकी, मैं जैसे बतलाती हूँ, वैसे ही ललित गति करना ! तुम सभी मेरी प्राणोंसे अधिक प्यारी सखी हो, अतः जिस समय ये मेरे प्राण निकलें—उस समय मेरे कानोंमें मन्त्र देना—मधुरतम 'कृष्ण' नाम सुनाना । मेरा मरण हो जाय, उसके बाद भी 'कृष्ण' नामकी अपरिमित मधुर ध्वनि करती रहना । मनमें धैर्य धारण करके मेरे सारे अङ्गोंपर 'कृष्ण' नाम लिख देना । फिर मेरे मृत शरीरको न तो श्रीयमुनाजीमें बहाना और न आगमें जलाना । इसे व्रजरजमें लुढ़काते हुए ले जाना जिससे इसको व्रजरजके स्पर्शका सौभाग्य प्राप्त हो । जिस तमालके

नीचे श्रीश्यामसुन्दर खेला करते थे; लुढ़काते हुए ले जाकर इसकी दोनों भुजाओंको उसी पवित्र तमालकी डालीसे बाँध देना। श्रीश्यामसुन्दरके समान श्यामवर्णका अत्यन्त रुचिर स्पर्श पाकर यह निर्जीव शरीर निहाल हो जायगा। फिर प्रतिदिन पवित्र उषाकालमें तुमलोग सब मिलकर वहाँ जाना और शरीर बँधा है न, यह देखना। तदनन्तर प्रियतम श्रीश्यामसुन्दरकी क्रीडाभूमिकी धूल लेकर उससे इस शरीरके ललाटपर तिलक कर देना और दोनों कानोंमें सुन्दर 'कृष्ण-कृष्ण' यह मीठा नाम सुनाना। फिर, चारों ओर घूम-घूमकर प्रतिदिन अत्यन्त ललित 'श्रीकृष्ण-कृष्ण'का कीर्तन करना। भुजाओंपर, ललाटपर, मुखपर और वक्ष:स्थलपर प्रियतमके प्रिय नाम लिख देना और मेरे प्राणप्रियतम परम सुखनिकेतन श्रीहरिकी प्रिया श्रीतुलसीजीकी माला गलेमें पहना देना। इस प्रकार उस मृत शरीरकी सेवा करना।

सखी! कभी किसी कारणसे यदि मेरे प्रियतम श्यामसुन्दर पुनः वृन्दावन आयेंगे और तमाल-डालसे बँधे राधाके मृत शरीरके समीप पहुँच जायँगे तो उनके दर्शन तथा स्पर्शकी संजीवनीसे अवश्य ही उस देहमें पुनः प्राण छा जायँगे। इस प्रकार यदि अबकी मैं एक बार भी प्रियतमको देख पाऊँगी तो अत्यन्त विनय करके उन्हें मना लूँगी और चरण पकड़कर उन्हें नित्य निरन्तर अपने पास ही रख लूँगी।

कैसी मधुर अभिलाषा है प्रियतम भगवान्‌के मिलनकी।



मरनोत्तर भी 'कृष्ण' नाम की अमित मधुर धुनि करियो।
लिखियो 'कृष्ण' नाम सब अंगनि, मनमहँ धीरज धरियो॥
मती जमुनजल देह बहइयो, मती जरैयो आग।
ब्रज-रज में लुढ़कावत ही लै जइयो देय सुभाग॥
दोनों बाहु बाँधि रखियो तुम सुचि तमाल की डाल।
कृष्न-चरन अति रुचिर परस करि तनु नित होय निहाल॥
प्रतिदिन सब मिलि आय देखियो पावन ऊषा काल।
क्रीडाभूमि स्याम की रज लै तिलक दीजियो भाल॥
जुगल-स्रवन मधु नाम सुनइयो, कृष्न-कृष्न अभिराम।
कृष्न-कृष्न को कीर्तन करियो चहुँ दिसि नित्य ललाम॥
भुज-ललाट-मुख-उर पै लिखियो प्रियतम को प्रिय नाम।
तुलसी-माल गले पहिरैयो हरि प्रिया सुखधाम॥
कबौं जो प्रियतम कछु कारन तैं पुनि वृंदावन आवैं।
दरस-परस-संजीवनि! पावत देह प्रान पुनि छावैं॥
या विधि मैं पुनि जीवन-धन कौं सकृत देखि जो पाऊँ।
चरन पकरि राखौं नित संनिधि करि अति विनय मनाऊँ॥

प्रिय सखी! तुम इतना काम करना। मेरे शरीरकी, मैं जैसे बतलाती हूँ, वैसे ही ललित गति करना! तुम सभी मेरी प्राणोंसे अधिक प्यारी सखी हो; अतः जिस समय ये मेरे प्राण निकलें—उस समय मेरे कानोंमें मन्त्र देना—मधुरतम 'कृष्ण' नाम सुनाना। मेरा मरण हो जाय, उसके बाद भी 'कृष्ण' नामकी अपरिमित मधुर ध्वनि करती रहना। मनमें धैर्य धारण करके मेरे सारे अङ्गोंपर 'कृष्ण' नाम लिख देना। फिर मेरे मृत शरीरको न तो श्रीयमुनाजीमें बहाना और न आगमें जलाना। इसे व्रजरजमें लुढ़काते हुए ले जाना। जिससे इसको व्रजरजके स्पर्शका सौभाग्य प्राप्त हो। जिस तमालके

था, मुखसे वेदना-भरी आह निकल रही थी, आँखें आँसुओंसे भरी थीं और शरीरके कपड़े अस्त-व्यस्त थे। इस प्रकार उनके दुःखकी बेल पूर्णरूपसे लहलहा रही थी।'

वियोगदुखिनी श्रीराधाको घेरे उनकी सखियाँ बैठी थीं और वे भाँति-भाँतिसे उन्हें आश्वासन दे रही थीं।

सखी समझाने लगी, तुम हो रही क्यों हो विकल?
भूल जाओ उसे अब क्यों रट रही प्रत्येक पल?

एक सखीने समझाते हुए कहा—'राधा! (जब वह नहीं आना चाहता, तब) तुम उसके लिये इतनी व्याकुल क्यों हो रही हो? अब उसे भुला दो। क्यों प्रतिपल उसे रट रही हो?'

इसके उत्तरमें श्रीराधाजी बोलीं—

भूल जाना चाहती हूँ, भूल पर सकती नहीं।
ज्यों हटाना चाहती मन, दौड़कर जाता वहीं॥
नहीं लेना चाहती मैं उस निठुरका नाम भी।
जीभ पर रटती सदा, नहिं मानती मेरी कभी॥
रोकती हूँ कानको, पर वे न मेरी मानते।
प्रियवचन मुरली-सुधा ही सिर्फ पीना जानते॥
बंद करती हूँ निगोड़ी नासिकाको मैं सदा।
श्याम-अग सुगंधको, पर, नहीं तजती वह कदा॥

'सखी! मैं स्वयं भूल जाना चाहती हूँ, परंतु भूल सकती नहीं। मैं ज्यों-ज्यों मनको हटाना चाहती हूँ, त्यों-ही-त्यों वह दौड़कर वहीं चला जाता है। मै तो उस निष्ठुरका नाम भी नहीं लेना चाहती; परंतु जीभ मेरी बात कभी मानती ही नहीं, वह तो सदा

झाँकी ६२

मधुर प्रेमसाम्राज्यमें विप्रलम्भ-रस परम मधुर उन्माद भावसे उल्लसित है। प्रिय-वियोगकी अनुभूति तन्मयताका एक बड़ा ही सुन्दर रूप है। श्रीराधाजी इस समय प्रियतम श्यामसुन्दरके वियोग-रसनिधिमें निमग्न हैं; अतः उनके तन-मनकी क्या दशा है—

सूखकर काँटा हुआ तन था विकल बेहाल मन।
बाल बिखरे शुष्क थे मुरझा हुआ था विधु-वदन॥
मुख निकलती आह थी, थीं आँख आँसूसे भरी।
वसन अस्तव्यस्त थे, थी दुख-लता पूरी हरी॥

'शरीर सूखकर काँटा हो गया था, मन व्याकुल और व्यथित था, सिरके केश सूखे और बिखरे हुए थे, चन्द्रमुख मुरझाया हुआ

था, मुखसे वेदना-भरी आह निकल रही थी, आँखें आँसुओसे भरी थीं और शरीरके कपडे अस्त-व्यस्त थे। इस प्रकार उनके दु.खकी वेल पूर्णरूपसे लहलहा रही थी।'

वियोगदु.खिनी श्रीराधाको घेरे उनकी सखियाँ बैठी थीं और वे भाँति-भाँतिसे उन्हें आश्वासन दे रही थीं।

सखी समझाने लगी, तुम हो रही क्यों हो विकल ?
भूल जाओ उसे अब क्यों रट रही प्रत्येक पल ?

एक सखीने समझाते हुए कहा—'राधा! (जब वह नहीं आना चाहता, तब) तुम उसके लिये इतनी व्याकुल क्यो हो रही हो? अब उसे भुला दो। क्यों प्रतिपल उसे रट रही हो?'

इसके उत्तरमें श्रीराधाजी बोलीं—

भूल जाना चाहती हूँ, भूल पर सकती नहीं।
ज्यों हटाना चाहती मन, दौड़कर जाता वहीं॥
नहीं लेना चाहती मैं उस निठुरका नाम भी।
जीभ पर रटती सदा, नहिं मानती मेरी कभी॥
रोकती हूँ कानको, पर वे न मेरी मानते।
प्रियवचन मुरली-सुधा ही सिर्फ पीना जानते॥
बंद करती हूँ निगोड़ी नासिकाको मैं सदा।
श्याम-अंग सुगंधको, पर, नहीं तजती वह कदा॥

'सखी! मै स्वय भूल जाना चाहती हूँ, परतु भूल सकती नहीं। मैं ज्यों-ज्यो मनको हटाना चाहती हूँ, त्यों-ही-त्यों वह दौडकर वहीं चला जाता हे। मै तो उस निष्ठुरका नाम भी नहीं लेना चाहती; परंतु जीभ मेरी बात कभी मानती ही नहीं, वह तो सदा

उसका नाम रटती ही रहती है। मैं कानोंको भी रोकती हूँ, पर वे भी मेरी नहीं मानते। (मानें कैसे !) वे तो केवल प्रियतमके वचनामृत और मुरलीकी स्वर-सुधाका पान करना ही जानते हैं। मैं सदा ही इस निगोड़ी नासिकाको बंद रखना चाहती हूँ, पर इसको श्यामसुन्दरकी अङ्ग-सुगन्धका ऐसा चसका लग गया है कि यह कभी उसे छोड़ती ही नहीं। यों मेरे मन-इन्द्रिय बरबस श्यामसुन्दरमें लगे रहते हैं, तब मैं निरुपाय क्या करूँ !' (यही वास्तवमें प्रेम-भजनका स्वरूप है। मन-इन्द्रियोंको भजनमें लगाना नहीं पड़ता, वे हटाये ही नहीं हटते।) इतना कहते-कहते राधाजी और भी व्याकुल होकर बोलीं—

कब चरणरज सिर चढ़ाकर धन्य हूँगी मैं अमर।
कब करूँगी नेत्र शीतल निर्निमिष मुख देखकर॥
कब लगाऊँगी अगर-मृगमद-चुआ-चन्दन शरीर।
कब चढ़ाऊँगी सुमन सुरभित चरण, होकर अधीर॥
फट रहा है हृदय मेरा, जल रही ज्वाला अमित।
कहाँ जाऊँ? क्या करूँ? पाऊँ कहाँ प्रियतम अजित?॥

'सखी ! मैं प्रियतम श्यामसुन्दरकी चरण-रज सिर चढ़ाकर कब सदाके लिये धन्य होऊँगी ! कब मैं निर्निमेष नेत्रोंसे उनका मुखकमल देखकर जलते हुए नेत्रोंको शीतल करूँगी ! अगर-चन्दन-कस्तूरी-चोआ प्रियतमके शरीरपर कब लगाऊँगी और कब मैं सुगन्धित पुष्पोंको अधीर होकर उनके श्रीचरणोंपर चढ़ाऊँगी ! हाय ! सखी ! मेरा हृदय फट रहा है; उसमें अपरिमित ज्वाला जल

रही है। मैं कहाँ जाऊँ, क्या करूँ? उन अजेय प्रियतमको कहाँ प्राप्त करूँ?' इसी समय संयोग-(मिलन) रसका उदय हुआ और—

आ गये नटवर अचानक लिये मुरली मधुर कर।
वितरते आनन्द, छायी मुसकराहट मृदु अधर॥
देखते ही मिट गये संताप तन मनके सकल।
सुख-सुधोदधि उमड़ आया हो गया जीवन सफल॥
ली तुरत मधुर हृदयमें मिली खोई निधि ललाम।
सह न पायी तनिक सा अवकाश, भूली निरख श्याम॥
हुई विस्मृति सकल जगकी, 'मैं' तथा 'मेरा' गये।
एक लीलामय मधुर रस-रसिक रसनिधि रह गये॥

अकस्मात् हाथमें मधुर मुरली लिये आनन्द वितरण करते हुए नटवर (लीलामय नृत्यकुशल) श्यामसुन्दर आ गये। उनके मृदु अधरोंपर मुस्कान छायी हुई थी। उन्हें देखते ही श्रीराधाके तन-मनके सारे संताप मिट गये। सुख-सुधाका समुद्र उमड़ पड़ा और जीवन सफल हो गया। श्रीराधाजीने अपनी खोयी हुई परम सुन्दर अमूल्य निधिको पाकर तुरत ही उसे अपने मधुर हृदयमें छिपा लिया। वे श्यामसुन्दरको निरखते ही इतना भूल गयीं कि तनिक-सा अवकाश भी सहन नहीं कर सकीं। सारे जगत्की विस्मृति हो गयी। 'मैं' और 'मेरा'—दोनों चले गये। रह गये केवल एक लीलामय मधुर रस-रसिक रसनिधि श्रीश्यामसुन्दर!

'जय जय'!



झाँकी ६४

श्रीकृष्ण मथुरा पधार गये और वहीं रह गये। परंतु महाभाग्यवती परम प्रेमरूपा श्रीगोपीजनोंको एवं उनकी आत्मस्वरूपा श्रीराधिकाजीकी स्मृति एक क्षणके लिये भी त्याग नहीं सके। उन्होंने अपना प्रेम-संदेश देकर श्रीउद्धवजीको वहाँ भेजना चाहा। उद्धवजीको भाँति-भाँतिसे वहाँकी सब बातें समझाकर, किन-किनसे कैसे मिलकर क्या कहना है—यह सब बतलाते हुए वे प्रेमसागरमें निमग्न हो गये और गद्गद-कण्ठसे गोपी तथा राधाके दिव्य विशुद्ध प्रेमकी महिमा गाते हुए अपना मनोरथ बतलाने लगे। बोले—

ऊधौ ! तुम तें कहौं का गोपी-प्रेम-महत्व।
जिन जान्यौ केवल परम सुद्ध प्रेम कौ तत्त्व॥
मो में ही अनुराग सुचि ममता अमल अनन्य।
सेवत सरबस सौंपि सो मोय गोपिका धन्य॥
मो मन नित्य मनस्विनी मानवती मम मान।
मेरे ही हित कर्म सब करत विगत अभिमान॥

असन-बसन तन-धन सकल धारत मम-सुख-काज।
निज सुख-इच्छारहित नित तजि सब विषय-समाज॥
राग न नैकहु कितहुँ कछु अग-जग ममताहीन।
इह-पर-भोग-विराग नित सहज नेह-रस-लीन॥
मम महिमा, सेवा, परम श्रद्धा, मनकी बात।
केवल गोपीजनन कौं सबै तत्त्वतः ज्ञात॥

उद्धव! मैं तुमसे उन गोपिकाओंके प्रेमकी महिमा क्या कहूँ। केवल उन गोपियोंने ही परम विशुद्ध प्रेमके तत्त्वको जाना है। उनका सारा पवित्र अनुराग केवल मुझमें ही है और मुझमें ही उनकी निर्मल अनन्य ममता है। उन्होंने अपना सर्वस्व समर्पण कर दिया है और वे केवल मेरी सेवामें लगी हैं। उन गोपिकाओंको धन्य है। उनमें उनका अपना मन नहीं रहा, वे मेरे ही मनसे मनवाली हैं। इसी प्रकार वे ही प्राणोंसे प्राण धारण करती हैं। वे समस्त कर्म केवल मेरे ही लिये करती हैं, उनमें जरा भी अभिमान नहीं है। वे तन, मन, धन, भोजन, वस्त्र केवल मेरे ही सुखके लिये धारण किये हुए हैं। अपने सुखकी उनको तनिक भी इच्छा नहीं है। उन्होंने सम्पूर्ण विषय-समूहका त्याग कर दिया है। उनकी जरा-सी भी, कहीं भी, कुछ भी आसक्ति नहीं है, वे सारे अग-जगकी ममताको छोड़ चुकी हैं। इस लोक और परलोकके भोगोंसे उनका नित्य ही सहज वैराग्य है और सहज ही वे स्नेह-सुधा-रसमें लीन हो रही हैं। मेरी सारी महिमा, मेरी सेवा, मेरी परम श्रद्धा और मेरे मनकी बातको केवल वे गोपाङ्गनाएँ ही तत्त्वसे जानती हैं।

मधुर

तिन में सबकी आत्मा सब की परमाधार ।
महाभावमयि राधिका रस-पर-पारावार ॥
तिनके मन-बच-कर्ममें उमगत नित रस-सिंधु ।
धन्य भयो मैं पाय कछु तिन तें मधु-रस-बिंदु ॥
परम त्यागमय प्रेम कौ सुख-सागर लहरात ।
वा सुख चाखन कौं सदा मम मन अति ललचात ॥
बनौं कबौं जो राधिका मैं लै तिन कौ भाव ।
कृष्न मानि सेवौं तिनहिं तब पूरै मन चाव ॥
जाउ सखा, धनि होउ, लै सिर तिन चरनन-धूरि ।
दरसन करि दृग-फल लहौ जो मम जीवन-मूरि ॥

उन श्रीगोपाङ्गनाओंमें सबकी आत्मा और सबकी परम आधार हैं—प्रेमके सर्वोच्च स्वरूप महाभावकी मूर्ति श्रीराधिकाजी, जो परम (भगवत्-प्रेम) रसकी समुद्र हैं। उनके मन, वाणी, कर्ममें प्रेम-रस-सुधाका समुद्र उमड़ता रहता है। उन्हींसे कुछ मधुर रस-बूँदोंको प्राप्त करके मैं धन्य हो गया हूँ। उनमें परम त्यागमय प्रेमसे उत्पन्न सुखका समुद्र लहराता है। उनके उस सुखका रसास्वादन करनेके लिये मेरा मन सदा ही अत्यन्त ललचाता रहता है। मैं य[...] कभी उनके भावोंको ग्रहण करके राधिका बन सकूँ और उन[...] कृष्ण मानकर उनकी सेवा कर सकूँ, तब मेरे मनका चाव पूरा ह[...] सखा उद्धव! तुम जाओ और जो मेरे जीवनकी मूल हैं[...] श्रीराधिकाजीकी चरण-धूलिको अपने सिरपर धारण करके धन्य[...] और उनके दर्शन करके आँखोंका वास्तविक फल प्राप्त करो।

झाँकी ६५

उद्धवजी भगवान् श्यामसुन्दरका प्रेम-संदेश लेकर वृन्दावन पधारे। उनसे भावमयी—रसमयी श्रीगोपाङ्गनाओंकी जो बातचीत हुई, उसके अनेक रूप हैं। वे सभी मधुरतम, दिव्यतम, पवित्रतम प्रेमसागरकी विभिन्न तरङ्गें हैं, जो एक-से-एक बढ़कर उत्तम, एक-से-एक बढ़कर रसोत्पादिनी और रसोन्मादिनी हैं। उनकी एक तरङ्गका यह नगण्य-सा दर्शन है—

महाभागा गोपियोंकी और श्रीराधारानीकी श्याम-वियोगमें दीनदशा देखकर (क्योंकि अबतक वे उसी रूपमें उद्धवके सामने

लीला कर रहीं थीं) उद्धवजी बड़े दुखी हुए और श्यामसुन्दरकी निन्दा करते हुए श्रीराधा तथा गोपाङ्गनाओंके प्रति सहानुभूति प्रकट करने लगे। मानो वस्तुतः ही इनका श्यामसुन्दरसे वियोग हो गया है, वे निष्ठुर इन्हें सदाके लिये त्यागकर चले गये हैं। सहानुभूति प्रकट करनेके साथ-साथ वे गोपाङ्गनाओंको ज्ञानयोगका उपदेश भी करने लगे। उद्धवजीको यह पता नहीं था कि श्रीराधारानी तथा श्रीगोपाङ्गनाओंके प्रियतम श्यामसुन्दर उनको छोड़कर एक पल भी, एक पैंड भी अलग नहीं जा सकते। वे तो सदा ही उनके समीप रहकर रसास्वादन करते-कराते रहते हैं। उनका-इनका नित्य-संयोग सहज है। उद्धवजीको यही बतानेके लिये श्रीराधा तथा गोपाङ्गनाओंने कहा।

एक बोली—

ऊधौ ! कहा सिखावौ जोग ।
हमरो नित्य-जोग प्रियतम सौं, होय न पलक वियोग ॥
वे ही हमरे मति-मन इंद्रिय, वे ही जीवन-प्रान ।
वे ही अंग-अंग सब हमरे, सेवैं बिनु व्यवधान ॥
रहैं सदा हिय माँझ हमारे, भरे परम अनुराग ।
रहि न सकैं वे मोहन हमकूँ, कबहूँ त्रुटि भर त्याग ॥
वे हममें, हम उनमें निसिदिन, हम वे सदा अभिन्न ।
सूर्य सूर्यकी किरन सदस हम, रहैं कदापि न भिन्न ॥
नित्य विहार, नित्य नव लीला, नित नव सुख-संजोग ।
जोग-विधान करौ तुम उनकूँ, जिनके स्याम-वियोग ॥

'उद्धवजी ! तुम हमें क्या योगकी शिक्षा देते हो ? हमा

तो प्रियतमसे नित्य-योग है, (हम नित्य ही उनसे जुड़ी हैं) एक पलके लिये कभी वियोग नहीं होता। वे श्यामसुन्दर ही हमारी बुद्धि हैं, मन हैं, इन्द्रियाँ हैं और वे ही हमारे जीवन हैं—प्राण हैं। हमारे एक-एक अङ्ग वे ही हैं और बिना किसी व्यवधान नित्य सेवन करते हैं। वे परम अनुराग भरकर सदा-सर्वदा हमारे हृदयमें निवास करते हैं। वे मोहन एक त्रुटिके लिये भी कभी हमारा त्याग करके नहीं रह सकते। वे रात-दिन हममें हैं। हम उनमें हैं। हम और वे सदा ही अभिन्न हैं। सूर्य तथा सूर्यकी किरणोंके सदृश हम कभी पृथक् रहते ही नहीं। हमारा-उनका नित्य विहार है, नित्य नयी लीला है और नित्य नवीन सुख-संयोग है। तुम यह योग-विधान उनके लिये करो, जिनको श्यामसुन्दरका वियोग हो रहा है।'

दूसरीने अपना अनुभव बतलाया—

ऊधौ! मोहन स्याम हमारे।
लिपटे रहत अंग-अंग निसिदिन, होत न कबहूँ न्यारे॥
मधुरा जाय मिले कुबजा तें, ये बाहर के खेल।
हमरौ उनकौ छुटत न कबहूँ, हिय तें हिय कौ मेल॥
उनके बिना न सत्ता हमरी, छोड़ कहाँ वे जावें।
वे न रहें तो हमहूँ जीवित कोई कैसे पावें॥
ऊधौ! तुम्हरे नहीं नेत्र सो, हमहिं स्याम जो दीन्हें।
या तें भरम परे तुम डोलत, ग्यान-जोग पद लीन्हें॥
हम मैं उन मैं दीखत जो, कछु कबहुँ वियोग विछोह।
रसवर्धन हित उदय होत, सो लीला-रस-संदोह॥

'उद्धवजी ! वे मनमोहन श्यामसुन्दर हमारे हैं, वे रात-दिन हमारे एक-एक अङ्गसे लिपटे रहते हैं, कभी अलग होते ही नहीं। वे मथुरा जाकर कुब्जासे मिले—यह सब तो उनके बाहरके खेल हैं—बाह्य लीलामात्र हैं। वस्तुतः हमारा-उनका जो हृदयसे हृदयका मिलाप है, वह कभी छूटता ही नहीं। (हमारी सत्ता ही उनसे है—) जब उनके बिना हमारा अस्तित्व ही नहीं, तब वे हमें छोड़कर कहाँ जायँ ? वे यदि चले जायँ, वे न रहें तो हमको कोई जीवित ही कैसे पा सकता है ? उद्धवजी ! श्यामसुन्दरने हमें जो नेत्र दे रक्खे हैं, वे तुम्हारे पास हैं ही नहीं, (इसीसे तुम उनको हमसे दूर समझते हो और) ज्ञानयोगका पदक लिये भ्रममें पड़े भटक रहे हो। हममें और उनमें यदि कभी कुछ वियोग-बिछोह दिखायी देता है तो (वस्तुतः वियोग नहीं है) वह तो रसवृद्धिके लिये लीला-रस-समूहका उदय है।

तीसरी (श्रीराधारानी) ने अपना नित्य श्याम-संयोग और उनके सुखसे सुखी होना बतलाते हुए कहा—

ऊधौ ! हम क्यों स्यामवियोगिनि ?
हम तो स्यामसुहागिनि नित ही, नित ही स्याम-सँजोगिनि ॥
स्याम हमारे बाहर-भीतर, रहत नित्य ही छाये।
कायामें, मनमें, जीवनमें, केवल स्याम समाये ॥
रमत सदा हममें वे मोहन, हम नित उनमें खेलैं।
पै वे रमन न, नहिं हम रमनी, एक बने दो खेलैं ॥
मथुरागमन, कंसवध, कुबरी तें जो उनको नेह।
हमरे मन न अर्थ कछु इनको, नहिं कछु मन संदेह ॥

स्याम नित्य ही हमरे हैं, हमरे ही नित्य रहैंगे।
बिछुरैंगे न पलक भर हम तें, बिछुरन की न कहैंगे॥
लीला करैं कितहुँ वे कैसी लीलामय मनमोहन।
यातें परमाह्लाद बढ़े नित, देखि हँसी मुख सोहन॥
सब कूँ वे सुख देयँ, सबहि तें वे प्यारे सुख पावैं।
उनके मनकी होय सदा, यह अति हमरे मन भावै॥
हमतें होय न बिलग कबहुँ जब, तब हम क्यों रिस मानैं।
हमरे धन कूँ भले अन्य सब, अपनौ ही धन जानैं॥

'उद्धवजी! हम श्याम-वियोगिनी क्यों हैं? हम तो सदा-सर्वदा ही श्याम-सुहागिनी हैं और नित्य-निरन्तर ही श्यामसुन्दरके संयोगमें रहती हैं। हमारे बाहर-भीतर नित्य ही श्यामसुन्दर छाये रहते हैं; हमारे तनमें, मनमें, जीवनमें केवल श्यामसुन्दर ही समाये हुए हैं। वे मोहन सदा-सर्वदा हममें रमण करते हैं और हम नित्य ही उनमें घुली-मिली रहती हैं, तथापि न तो वे रमण हैं और न हम रमणी ही हैं। एक ही दो बनकर खेल करते हैं—लीला-रसास्वादन करते हैं। उनका जो मथुरा जाना, कंस-वध करना और कुब्जासे स्नेह करना है, इन बातोंका हमारे मनमें अन्य कुछ भी न तो अर्थ ही है और न कुछ भी संदेह है कि (वे पराये हो गये हैं या अलग चले गये हैं।) वे श्यामसुन्दर नित्य हमारे ही हैं, हमारे ही नित्य रहेंगे। वे पलभर भी न कभी हमसे बिछुड़ेंगे, न बिछुड़नेकी कहेंगे ही। वे लीलामय मनमोहन कहीं कैसी भी मनमानी लीला करें, उनके मुखपर शोभामयी हँसी देखकर उससे हमारा तो परमाह्लाद ही बढ़ेगा। वे प्रियतम सबको सुख दें और

सब उनसे सुख प्राप्त करें। सदा उनके मनकी ही होती रहे, यह तो हमारे लिये बड़ी ही मनभावनी बात है। वे जब हमसे कभी अलग होते ही नहीं, तब हम क्यों बुरा मानें, भले ही हमारे इस धनको दूसरे सभी अपना ही धन जानते रहें।'

फिर एक प्रेमरसमयी गोपीने कहा—

ऊधौ ! प्रिय तें कहियो जाय।
है बाहरकी बात जदपि यह, पै सुनियो मन लाय॥
ऊधौ कूँ पठाय सुधि लीन्हीं, पठई निज कुसलात।
या तें अति सुख भयौ हृदय में नहिं आनंद समात॥
कंस मारि, वसुदेव-देवकी कूँ जो तुम सुख दीन्हौं।
उग्रसेन कूँ राज दियो सो सब ही अति भल कीन्हौं॥
वृंदावन तजि बसे जाय मथुरा हो सत्ताधारी।
सुखी देखि यातें तुम कूँ हम सुखी भईं अति भारी॥
जदपि वियोग तुम्हारो दुःसह, हृदयँ आग भभकावत।
पै तुम्हरो मुख सुखी देख वह रस-सुखमयी सुहावत॥
कुबरी तें करि नेह प्रानधन ! जो तुम छिन सुख पायौ।
हमरे मन उमग्यौ सुख-सागर, भयौ देखि मन भायौ॥
धन्य कूबरी नमन-जोग नित, बनी जु प्रिय-सुख-साधन।
हम तो चरनसेविका ताकी, कौं समुद्र आराधन॥
सुखी रहौ तुम प्राणनाथ ! नित एक यही हम चाहें।
जो तुम्हरे सुखके कारन हों, तिन कूँ सदा सराहें॥

"उद्धवजी ! तुम जाकर प्रियतमसे कह देना कि 'यद्यपि यह है तो बाहरी बात, तथापि तुम सुनना मन लगाकर। तुमने जो

उद्धवको भेजकर हमारी सुधि ली एवं अपना कुशल-समाचार भेजा, इससे हमें बड़ा ही सुख मिला। यह आनन्द हमारे हृदयमें समा नहीं रहा है। तुमने जो कंसको मारकर वसुदेव-देवकीको सुख प्रदान किया, उग्रसेनको राज्य दिया सो सभी बहुत अच्छा किया। वृन्दावनका त्याग कर मथुरामें सत्ताधीश होकर बस गये, इससे तुमको सुख मिला, यह देखकर हम बहुत भारी सुखका अनुभव कर रही हैं। यद्यपि तुम्हारा वियोग दुःसह है और वह हृदयमें अग्निको भभकाता है; परंतु तुम्हारे मुखको सुखी देखकर वह अग्नि रस-सुखमयी और सुहावनी बन गयी है। प्राणधन! कुब्जासे प्रेम करके जो तुमने क्षणभर सुख प्राप्त किया, हमारी यह मनचाही चीज देखकर हमारे मनमें सुख-सागर उमड़ पड़ा; क्योंकि हम तो तुमको सुखी ही देखना चाहती हैं। कुब्जाको धन्य है, वह नित्य नमस्कारके योग्य है; क्योंकि वह हमारे प्रियतमका सुख-साधन बनी। हम तो उसकी चरणसेविका हैं और प्रसन्नतापूर्वक उसकी आराधना करना चाहती हैं। प्राणनाथ! तुम सुखी रहो, बस, हम सदा-सर्वदा यही चाहती हैं, और जो कुछ भी जो कोई भी तुम्हारे सुखमें कारण हो, उनकी सदा प्रशंसा करती हैं।"

प्रियतम श्यामसुन्दरकी नित्य संनिधिका अनुभव करनेवाली और प्रियतम श्यामसुन्दरके सुखको ही अपना परम सुख माननेवाली श्रीगोपाङ्गनाओंके पद-रज-कणको लाख-लाख नमस्कार!



झाँकी ६६

भगवान्‌के सखा श्रीउद्धवजीसे राधाने पुनः पूछा—'प्राणनाथने और कुछ कभी मेरे लिये कहा हो तो उसे भी सुनाओ।' उद्धवजी बोले—'महामति राधिके! जब मैं आने लगा तब आपकी स्मृतिमें श्यामसुन्दर अत्यन्त विह्वल हो गये। उन्होंने अश्रुविगलित नेत्रोंसे न जाने कितना कहा—क्या-क्या कहा। मैं आपको कहाँतक सुनाऊँ। आपका स्मरण आते ही श्यामसुन्दरकी विलक्षण स्थिति हो जाती है। वे आपका गुणगान करते हुए अपने प्रेमियोंकी व्याख्या करने लगे और बोले —

मुझसे करके प्रेम, चाहता जो उसका बदला पाना।
वह भी सुकृति पुण्यजन, जिसने मुझको फलदाता जाना॥
उससे ऊँचा वह प्रेमी है, जो निष्काम प्रेम करता।
सेवा करके मुक्ति चाहता, मायिक जगसे जो डरता॥
उससे भी ऊँचा वह मेरा प्रेमी शुद्ध हृदय प्यारा।
देते-देते मुझे मधुरतम वस्तु कभी न थका-हारा॥
उससे भी उच्चस्तरपर वह, जो सेवा करता दिन-रात।
सेवाका फल सदा चाहता, सेवाकी बढ़ती अभिजात॥
जो न किसीका दास, किसीको नहीं बनाता दास कभी।
युग-युग सेवा ही जो करता त्याग अन्य व्यवहार सभी॥

'उद्धव! मुझसे प्रेम करके जो उसका कोई बदला चाहता है, वह पुण्यात्मा भी सुकृति ही है; क्योंकि उसने मुझको फल देनेवाला समझा है। उससे भी ऊँचा प्रेमी वह है, जो मायिक जगत्‌से डरा हुआ है और लौकिक-पारलौकिक सभी कामनाओंको छोड़कर मेरी सेवाके द्वारा मुक्ति चाहता है। उससे भी ऊँचा वह

विशुद्धान्त करणवाला मेरा प्रेमी है, जो मुझको मधुरतम वस्तुएँ देते देते कभी थकता ही नहीं, हारता ही नहीं (पर अपनेको देनेवाला मानता है)। उससे ऊँचे स्तरपर वह प्रेमी है, जो दिन-रात (सेवाके लिये ही) सेवा करता है और सेवाका फल भी सदा सेवाकी सुन्दर वृद्धि ही चाहता है, जो (मेरे सिवा) न किसीका दास है और न किसीको दास बनाता है, जो अन्य सारे व्यवहारोंका त्याग करके युग युग मेरी सेवा ही करता है।

उससे ऊँची प्रेममयी हैं वे सौभाग्यवती गोपी।
जो निज सुखको भूल सर्वथा, सबसे बढ़कर हैं ओपी॥
स्नेह-राग-अनुराग-भावकी, उठती जिनमें अमित तरङ्ग।
जिनका मुझसे छाया सारा जीवन, सभी अङ्ग-प्रत्यङ्ग॥
केवल यही चाहतीं, मैं बस, रहूँ देखता उनकी ओर।
बढ़ता रहे नित्य प्रेमार्णव, रहे कहीं भी ओर न छोर॥

'उससे ऊँची वे सौभाग्यवती प्रेमस्वरूपा गोपाङ्गनाएँ हैं, जो अपने सुखको सर्वथा भूल गयी हैं और प्रेम (त्यागमय प्रेम-राज्यमें) सबसे बढ़कर शोभा पा रही हैं, जिनके जीवनमें पवित्र स्नेह, राग, अनुराग तथा भावरूपी प्रेमकी अपरिमित तरङ्गें उठती रहती हैं और जिनका समस्त जीवन और एक एक अङ्ग-प्रत्यङ्ग मुझसे ही छाया है। वे केवल बस, यही चाहती हैं कि मैं (प्रसन्न मुखसे) उनकी ओर देखता रहूँ—जिससे उनके प्रेमसमुद्रमें बाढ़ आती रहे और उसका कहीं ओर-छोर न रह जाय।

पर राधा तो उन सबकी है दिव्याधार-भूमि भावन।
जिसके स्नेह सुधाका है शुचि एक-एक कण अति पावन॥

निरवधि, नित्य नवीन, नित्य निरुपम निरुपाधिक नित्य उदार ।
नित्यानन्त-अचिन्त्य-अनिर्वचनीय अतुल रस-पारावार ॥
राधाप्रेम परम उज्ज्वलतम विधि-हरि-हर-अविगत-गति रूप ।
परमहंस-तापस-योगी-मुनि-मति-दुर्गम आश्चर्य स्वरूप ॥

"परंतु उद्धव ! श्रीराधा तो उन सभीकी सुन्दर दिव्य आधार-भूमि हैं। (राधासे ही गोपाङ्गनाओंका और उनके प्रेमका अस्तित्व है।) वह राधा ऐसी है कि जिसके स्नेहामृतका एक-एक कण पवित्र है और अत्यन्त पवित्र करनेवाला है। राधाका प्रेम-रस-समुद्र सीमारहित है, नित्य नूतन है, नित्य उपमारहित है, नित्य उपाधि-रहित है और नित्य उदार है; वह नित्य अनन्त-अचिन्त्य और अनिर्वचनीय, अतुलनीय रस-सागर है। राधाका प्रेम परम उज्ज्वलतम है। (सर्वथा विशुद्धतम है) ब्रह्मा-विष्णु-महेश भी उस प्रेमकी गतिको नहीं जानते। परमहंस, तपस्वी, योगी और मुनियोंकी (विशुद्ध) बुद्धिके लिये भी वह दुर्गम तथा आश्चर्यस्वरूप है।

पर इससे उसका न तनिक भी परिचय कभी हुआ, होता ।
बहता सहज तीव्रगति, मंजुल मधुर दिव्य यह रस-सोता ॥
चौंसठ-कला चतुर स्वाभाविक, पर वह मनकी अति भोली ।
नहीं जानती दंभ-कपट वह, नहिं बनावटी कुछ बोली ॥
सहज विनम्र सरल शुचि अंतर, निश्छल सुधासनी वाणी ।
मधुर सुधास्रावी स्वभावसे आप्यायित सब ही प्राणी ॥
सदा दीखती रहती उसको निजमें दोषावलि भारी ।
समझ न पाती कैसे क्यों उससे प्रसन्न सब नर-नारी ॥

(इतनी उच्चस्तरकी मूर्तिमान् प्रेमस्वरूपा होनेपर भी) राधाको अपने इस प्रेमका न तो कभी तनिक परिचय प्राप्त हुआ

और न कभी होता ही है। वह मधुर मनोहर दिव्य प्रेम-रसका स्रोत तो सहज ही—अनायास ही बड़ी तीव्रगतिसे बहता रहता है। राधा चौसठ कलाओंमें स्वभावसे ही चतुर है। (उसे कोई कला सीखनी नहीं पड़ी) तथापि वह मनकी अत्यन्त ही भोली है। दम्भ और कपट क्या होता है, इसका उसे पता ही नहीं है और बनावटी बोली—बनाकर बात करना भी वह नहीं जानती। उसका हृदय सहज ही विनम्र, सरल और पवित्र है एवं उसकी वाणी भी सहज ही छलरहित और मधुर अमृतमयी है। उसमें स्वभावसे सहज ही मधुर अमृत बहता रहता है; जिससे सभी प्राणी आप्यायित रहते हैं। (यह सब होनेपर भी) उसको तो अपनेमें सदा भारी-भारी दोषोंकी ही पंक्तियाँ दीखती हैं। वह समझ ही नहीं पाती कि उससे सभी नर-नारी इतने प्रसन्न—संतुष्ट क्यों रहते हैं !

मेरे प्रति क्यों प्यार, उसे है पता नहीं कैसे इतना ?
पता नहीं मैं स्वयं खिंचा रहता क्यों उसके प्रति कितना ? ॥
चकित, किंतु अति सहज प्रेमकी बनी दिव्य वह पावन मूर्ति।
करती सदा सहज ही मेरे मनमें नव-नव रसकी स्फूर्ति ॥
राधा गुण-गण विमल अमोलक रत्न विलक्षण पारावार।
जितना गहरा जभी डूबता, पाता नव नव रत्न अपार ॥
नहीं पा सका, पा न सकूँगा कभी गुणगणोंकी मैं थाह।
बनी रहेगी राधा गुण-निधिमें डूबे रहनेकी चाह ॥
कैसे मैं क्या क्या गुण गाऊँ, क्या भेजूँ उसको संदेस।
जीवन ओतप्रोत सदा है उसमें सभी काल सब देस ॥

निरवधि, नित्य नवीन, नित्य निरुपम निरुपाधिक नित्य उदार ।
नित्यानन्त-अचिन्त्य-अनिर्वचनीय अतुल रस-पारावार ॥
राधाप्रेम परम उज्ज्वलतम विधि-हरि-हर-अविगत-गति रूप ।
परमहंस-तापस-योगी-मुनि-मति-दुर्गम आश्चर्य स्वरूप ॥

"परंतु उद्धव ! श्रीराधा तो उन सभीकी सुन्दर दिव्य आधार-भूमि हैं । (राधासे ही गोपाङ्गनाओंका और उनके प्रेमका अस्तित्व है ।) वह राधा ऐसी है कि जिसके स्नेहामृतका एक-एक कण पवित्र है और अत्यन्त पवित्र करनेवाला है । राधाका प्रेम-रस-समुद्र सीमारहित है, नित्य नूतन है, नित्य उपमारहित है, नित्य उपाधि-रहित है और नित्य उदार है; वह नित्य अनन्त-अचिन्त्य और अनिर्वचनीय, अतुलनीय रस-सागर है । राधाका प्रेम परम उज्ज्वलतम है । (सर्वथा विशुद्धतम है) ब्रह्मा-विष्णु-महेश भी उस प्रेमकी गतिको नहीं जानते । परमहंस, तपस्वी, योगी और मुनियोंकी (विशुद्ध) बुद्धिके लिये भी वह दुर्गम तथा आश्चर्यस्वरूप है ।

पर इससे उसका न तनिक भी परिचय कभी हुआ, होता ।
बहता सहज तीव्रगति, मंजुल मधुर दिव्य यह रस-सोता ॥
चौंसठ-कला चतुर स्वाभाविक, पर वह मनकी अति भोली ।
नहीं जानती दंभ-कपट वह, नहिं बनावटी कुछ बोली ॥
सहज विनम्र सरल शुचि अंतर, निश्छल सुधासनी वाणी ।
मधुर सुधास्रावी स्वभावसे आप्यायित सब ही प्राणी ॥
सदा दीखती रहती उसको निजमें दोषावलि भारी ।
समझ न पाती कैसे क्यों उससे प्रसन्न सब नर-नारी ॥

(इतनी उच्चस्तरकी मूर्तिमान् प्रेमस्वरूपा होनेपर भी) राधाको अपने इस प्रेमका न तो कभी तनिक परिचय प्राप्त हुआ

और न कभी होता ही है। यह मधुर मनोहर दिव्य प्रेम-रसका स्रोत तो सहज ही—अनायास ही बड़ी तीव्रगतिसे बहता रहता है। राधा चौंसठ कलाओंमें स्वभावसे ही चतुर है। (उसे कोई कला सीखनी नहीं पड़ी) तथापि वह मनकी अत्यन्त ही भोली है। दम्भ और कपट क्या होता है, इसका उसे पता ही नहीं है और बनावटी बोली—बनाकर बात करना भी वह नहीं जानती। उसका हृदय सहज ही विनम्र, सरल और पवित्र है एवं उसकी वाणी भी सहज ही छलरहित और मधुर अमृतमयी है। उसमें स्वभावसे सहज ही मधुर अमृत बहता रहता है; जिससे सभी प्राणी आप्यायित रहते हैं। (यह सब होनेपर भी) उसको तो अपनेमें सदा भारी-भारी दोषोंकी ही पंक्तियाँ दीखती हैं। वह समझ ही नहीं पाती कि उससे सभी नर-नारी इतने प्रसन्न—संतुष्ट क्यों रहते हैं!

मेरे प्रति क्यों प्यार, उसे है पता नहीं कैसे इतना?
पता नहीं मैं स्वयं खिंचा रहता क्यों उसके प्रति कितना? ॥
चकित, किंतु अति सहज प्रेमकी बनी दिव्य वह पावन मूर्ति।
करती सदा सहज ही मेरे मनमें नव-नव रसकी स्फूर्ति ॥
राधा गुण-गण विमल अमोलक रत्न विलक्षण पारावार।
जितना गहरा जभी डूबता, पाता नव नव रत्न अपार ॥
नहीं पा सका, पा न सकूँगा कभी गुणगणोंकी मैं थाह।
बनी रहेगी राधा गुण-निधिमें डूबे रहनेकी चाह ॥
कैसे मैं क्या क्या गुण गाऊँ, क्या भेजूँ उसको संदेश।
जीवन ओतप्रोत सदा है उसमें सभी कार[illegible]

निरवधि, नित्य नवीन, नित्य निरुपम निरुपाधिक नित्य उदार ।
नित्यानन्त-अचिन्त्य-अनिर्वचनीय अतुल रस-पारावार ॥
राधाप्रेम परम उज्ज्वलतम विधि-हरि-हर-अविगत-गति रूप ।
परमहंस-तापस-योगी-मुनि-मति-दुर्गम आश्चर्य स्वरूप ॥

"परंतु उद्धव ! श्रीराधा तो उन सभीकी सुन्दर दिव्य आधार-भूमि हैं । (राधासे ही गोपाङ्गनाओंका और उनके प्रेमका अस्तित्व है ।) वह राधा ऐसी है कि जिसके स्नेहामृतका एक-एक कण पवित्र है और अत्यन्त पवित्र करनेवाला है । राधाका प्रेम-रस-समुद्र सीमारहित है, नित्य नूतन है, नित्य उपमारहित है, नित्य उपाधि-रहित है और नित्य उदार है; वह नित्य अनन्त-अचिन्त्य और अनिर्वचनीय, अतुलनीय रस-सागर है । राधाका प्रेम परम उज्ज्वलतम है । (सर्वथा विशुद्धतम है) ब्रह्मा-विष्णु-महेश भी उस प्रेमकी गतिको नहीं जानते । परमहंस, तपस्वी, योगी और मुनियोंकी (विशुद्ध) बुद्धिके लिये भी वह दुर्गम तथा आश्चर्यस्वरूप है ।

पर इससे उसका न तनिक भी परिचय कभी हुआ, होता ।
बहता सहज तीव्रगति, मंजुल मधुर दिव्य यह रस-सोता ॥
चौंसठ-कला चतुर स्वाभाविक, पर वह मनकी अति भोली ।
नहीं जानती दंभ-कपट वह, नहिं बनावटी कुछ बोली ॥
सहज विनम्र सरल शुचि अंतर, निश्छल सुधासनी वाणी ।
मधुर सुधास्रावी स्वभावसे आप्यायित सब ही प्राणी ॥
सदा दीखती रहती उसको निजमें दोषावलि भारी ।
समझ न पाती कैसे क्यों उससे प्रसन्न सब नर-नारी ॥

(इतनी उच्चस्तरकी मूर्तिमान् प्रेमस्वरूपा होनेपर भी) राधाको अपने इस प्रेमका न तो कभी तनिक परिचय प्राप्त हुआ

और न कभी होता ही है। यह मधुर मनोहर दिव्य प्रेम-रसका स्रोत तो सहज ही—अनायास ही बड़ी तीव्रगतिसे बहता रहता है। राधा चौंसठ कलाओंमें स्वभावसे ही चतुर है। (उसे कोई कला सीखनी नहीं पड़ी) तथापि वह मनकी अत्यन्त ही भोली है। दम्भ और कपट क्या होता है, इसका उसे पता ही नहीं है और बनावटी बोली—बनाकर बात करना भी वह नहीं जानती। उसका हृदय सहज ही विनम्र, सरल और पवित्र है एवं उसकी वाणी भी सहज ही छलरहित और मधुर अमृतमयी है। उसमें स्वभावसे सहज ही मधुर अमृत बहता रहता है; जिससे सभी प्राणी आप्यायित रहते हैं। (यह सब होनेपर भी) उसको तो अपनेमें सदा भारी-भारी दोषोंकी ही पंक्तियाँ दीखती हैं। वह समझ ही नहीं पाती कि उससे सभी नर-नारी इतने प्रसन्न—संतुष्ट क्यों रहते हैं!

मेरे प्रति क्यों प्यार, उसे है पता नहीं कैसे इतना ?
पता नहीं मैं स्वयं खिंचा रहता क्यों उसके प्रति कितना ? ॥
चकित, किंतु अति सहज प्रेमकी बनी दिव्य वह पावन मूर्ति।
करती सदा सहज ही मेरे मनमें नव नव रसकी स्फूर्ति ॥
राधा गुण-गण विमल अमोलक रत्न विलक्षण पारावार।
जितना गहरा जभी डूबता, पाता नव नव रत्न अपार ॥
नहीं पा सका, पा न सकूँगा कभी गुणगणोंकी मैं थाह।
बनी रहेगी राधा गुण-निधिमें डूबे रहनेकी चाह ॥
कैसे मैं क्या कथा गुण गाऊँ, क्या भेजूँ उसको संदेश।
जीवन ओतप्रोत सदा है उसमें सभी काल सब देश ॥

(इतना ही नहीं,) उसको इसका भी पता नहीं है कि मेरे प्रति उसका इतना प्रेम क्यों है ? और न इस बातका ही पता है कि मैं स्वयं उसके प्रति क्यों कितना (अधिक) खिंचा रहता हूँ। (वह यह सब देखकर) चकित हुई रहती है ; परंतु उद्धव ! राधा सहज ही दिव्य प्रेमसे विनिर्मित सबको पवित्र करनेवाली मूर्ति है। वह मेरे मनमें सदा नये-नये रसकी सहज ही स्फूर्ति करती रहती है। राधाके निर्मल अमूल्य गुण-समूह एक विलक्षण समुद्र हैं। मैं जब उसमें जितनी गहरी डुबकी लगाता हूँ, तब उतने ही नये-नये रत्न प्राप्त करता हूँ। मैं राधाके गुणोंकी थाह न तो पा सका हूँ और न कभी आगे पा ही सकूँगा। राधाके उस गुण-समुद्रमें सदा डूबे रहनेकी ही मेरी चाह बनी रहेगी। (तब फिर) मैं कैसे राधाके क्या-क्या गुण गाऊँ और उसे क्या संदेश भेजूँ। मेरा जीवन तो सभी देश, सभी काल उसीमें ओतप्रोत है।

मेरी उस भोली-भाली प्राणेश्वरिसे यह कहना सत्य।
मधुर तुम्हारी ही स्मृतिमें है जीवन लगा निरन्तर नित्य ॥

"हाँ, उद्धव ! तुम मेरी उस भोली-भाली प्राणेश्वरी राधासे यह सत्य संदेश अवश्य कह देना कि राधे ! मेरा जीवन नित्य-निरन्तर तुम्हारी ही मधुर स्मृतिमें संलग्न है।"

उद्धव भी यह कहते-कहते अश्रुपूर्णलोचन और गद्गद हो गये और श्रीराधा तो भावावेशमें मधुर मूर्छाको प्राप्त हो गयीं।



झाँकी ६७

उद्धवजी व्रज पधारे। यशोदा मैया-नन्दबाबासे मिले, गोपी-गोपबालक तथा श्रीगोपाङ्गनाओंसे मिले। फिर एकान्तमें महामहिमामयी श्रीकृष्णकी नित्य अभिन्नस्वरूपा श्रीराधारानीसे मिले। राधाजी प्रेममें उन्मादिनी हो रही हैं, वे कभी तो ऐसा अनुभव करती हैं कि मैं प्रेमसे सर्वथा शून्य हूँ, केवल प्रेमका दम्भ करती हूँ; कभी प्रेमसरिताके एक विमल वियोग-तटपर अपनेको रोती-बिलखती पाती

हैं और कभी श्यामसुन्दरके मिलनका मधुर अनुभव कर आनन्दमत्त हो जाती हैं। बातचीतके सिलसिलेमें उन्होंने उद्धवसे कहा—

उद्धव ! मुझमें तनिक नहीं है, प्रियतमके प्रति सच्चा स्नेह।
इसीलिये ये नहीं निकलते निष्ठुर प्राण छोड़कर देह ॥
रथपर चढ़े जा रहे थे वे मथुरा जब अक्रूरके संग।
फिर फिर देख रहे थे मेरी ओर दूरसे विगत उमंग ॥
मैं जीवित ही लौटी प्रियतम-शून्य भवनमें लेकर प्राण।
हुआ न हृदय विदीर्ण उसी क्षण मेरा पामर वज्र-समान ॥
मनमें भरा लोभ जीवनका तनमें अतिशय ममता-मोह।
इसीलिये ये प्राण अभागे सहते दारुण व्यथा-बिछोह ॥
दम्भपूर्ण यह रोना-धोना है सब मेरा करुण विलाप।
भोले माधव समझ नहीं पाते हैं मेरे मनका पाप ॥
प्रियतमके वियोगमें भी मैं चला रही निज योगक्षेम।
उद्धव ! तुम ही समझो मेरा कहाँ श्यामसुन्दरमें प्रेम ॥

'उद्धवजी ! प्रियतम श्यामसुन्दरके प्रति मेरा सच्चा प्रेम तनिक भी नहीं है। इसीलिये तो मेरे ये निष्ठुर प्राण शरीरको त्यागकर निकल नहीं रहे हैं। उस दिन जब श्यामसुन्दर रथपर सवार होकर अक्रूरके साथ मथुराको जा रहे थे, (तब मैंने देखा) वे दूरसे बार-बार पीछेको मुँह फिरा-फिराकर मेरी ओर देख रहे थे। उनकी दृष्टिमें कोई उमंग—उत्फुल्लता नहीं रह गयी थी। वे बड़े उदास थे। इसपर भी मैं जीती-जागती अपने प्राणोंको लेकर प्रियतम श्यामसुन्दरसे शून्य इस भवनमें लौट आयी। उसी क्षण मेरा हृदय विदीर्ण नहीं हो गया। अवश्य ही वह पामर वज्रके समान कठोर

है। हृदय विदीर्ण कैसे होता? मेरे मनमें तो जीवनका लोभ भरा है और शरीरमें मेरी अतिशय ममता तथा मोह है। इसीलिये ये अभागे प्राण दारुण विछोह-व्यथा सहते हुए रह रहे हैं। (यह मेरी सच्ची व्याकुलता—सच्ची विरह-पीड़ा नहीं है।) मेरे सम्पूर्ण रोने-धोनेमें और करुणापूर्ण विलापमें दम्भ भरा है। मैं दिखानेके लिये ही सब करती हूँ और मेरे माधव बड़े सीधे हैं, वे मेरे मनके इस पापको समझ ही नहीं पाते। (समझते होते तो मुझे सान्त्वना देनेके लिये तुमको क्यों भेजते।) प्रियतमके वियोगमें भी मैं अपने योगक्षेमका वहन कर रही हूँ। (सचमुच वियोगपीड़ा होती तो योगक्षेम किसे सूझती?) इसीसे उद्धव! तुम समझ लो कि मेरा प्रियतम श्याम-सुन्दरमें (सच्चा) प्रेम कहाँ है! (इतनेमें भाव बदला और वे विरहव्याकुल होकर बोलीं—)

सत्य, हृदय छिदता है, होते नहीं किंतु उसके दो टूक।
जिससे विरह-मुक्त हो जाती, मरकर मन हो जाता मूक॥
विरह-विकल मूर्छा होती है, पर न चेतना करती त्याग।
अन्तर सदा जलाती रहती, भीषण बढ़ती उरमें आग॥
मेरे प्रियतमके समीपसे, आये हो उद्धव! बड़भाग।
कुशल, और संदेश सुनाओ यदि मेरा हो कर अनुराग॥

'सचमुच हृदय तो विदीर्ण होता है, परंतु उसके दो टूक नहीं हो जाते। (दो टूक हो जाते तो) मैं विरहसे छूट जाती और मेरा मन भी मरकर चुप हो जाता। (विलाप-प्रलाप नहीं करता।) विरहसे व्याकुल होनेपर मुझे मूर्छा तो होती है, परंतु

हैं और कभी श्यामसुन्दरके मिलनका मधुर अनुभव कर आनन्दमत्त हो जाती हैं। बातचीतके सिलसिलेमें उन्होंने उद्धवसे कहा—

उद्धव ! मुझमें तनिक नहीं है, प्रियतमके प्रति सच्चा स्नेह।
इसीलिये ये नहीं निकलते निष्ठुर प्राण छोड़कर देह॥
रथपर चढ़े जा रहे थे वे मथुरा जब अक्रूरके संग।
फिर फिर देख रहे थे मेरी ओर दूरसे विगत उमंग॥
मैं जीवित ही लौटी प्रियतम-शून्य भवनमें लेकर प्राण।
हुआ न हृदय विदीर्ण उसी क्षण मेरा पामर वज्र-समान॥
मनमें भरा लोभ जीवनका तनमें अतिशय ममता-मोह।
इसीलिये ये प्राण अभागे सहते दारुण व्यथा-विछोह॥
दम्भपूर्ण यह रोना-धोना है सब मेरा करुण विलाप।
भोले माधव समझ नहीं पाते हैं मेरे मनका पाप॥
प्रियतमके वियोगमें भी मैं चला रही निज योगक्षेम।
उद्धव ! तुम ही समझो मेरा कहाँ श्यामसुन्दरमें प्रेम॥

'उद्धवजी ! प्रियतम श्यामसुन्दरके प्रति मेरा सच्चा प्रेम तनिक भी नहीं है। इसीलिये तो मेरे ये निष्ठुर प्राण शरीरको त्यागकर निकल नहीं रहे हैं। उस दिन जब श्यामसुन्दर रथपर सवार होकर अक्रूरके साथ मथुराको जा रहे थे, (तब मैंने देखा) वे दूरसे बार-बार पीछेको मुँह फिरा-फिराकर मेरी ओर देख रहे थे। उनकी दृष्टिमें कोई उमंग—उत्फुल्लता नहीं रह गयी थी। वे बड़े उदास थे। इसपर भी मैं जीती-जागती अपने प्राणोंको लेकर प्रियतम श्यामसुन्दरसे शून्य इस भवनमें लौट आयी। उसी क्षण मेरा हृदय विदीर्ण नहीं हो गया। अवश्य ही वह पामर वज्रके समान कठोर

है। हृदय विदीर्ण कैसे होता ? मेरे मनमें तो जीवनका लोभ भरा है और शरीरमें मेरी अतिशय ममता तथा मोह है। इसीलिये ये अभागे प्राण दारुण विछोह-व्यथा सहते हुए रह रहे हैं। (यह मेरी सच्ची व्याकुलता—सच्ची विरह-पीड़ा नहीं है ।) मेरे सम्पूर्ण रोने-धोनेमें और करुणापूर्ण विलापमें दम्भ भरा है । मैं दिखावेके लिये ही सब करती हूँ और मेरे माधव बड़े सीधे हैं, वे मेरे मनके इस पापको समझ ही नहीं पाते। (समझते होते तो मुझे सान्त्वना देनेके लिये तुमको क्यों भेजते ।) प्रियतमके वियोगमें भी मैं अपने योगक्षेमका वहन कर रही हूँ। (सचमुच वियोगपीड़ा होती तो योगक्षेम किसे सूझती ?) इसीसे उद्धव ! तुम समझ लो कि मेरा प्रियतम श्याम-सुन्दरमें (सच्चा) प्रेम कहाँ है ! (इतनेमें भाव बदला और वे विरहव्याकुल होकर बोलीं—)

सत्य, हृदय छिदता है, होते नहीं किंतु उसके दो टूक ।
जिससे विरह-मुक्त हो जाती, मरकर मन हो जाता मूक ॥
विरह-विकल मूर्छा होती है, पर न चेतना करती त्याग ।
अन्तर सदा जलाती रहती, भीषण बढ़ती उरमें आग ॥
मेरे प्रियतमके समीपसे, आये हो उद्धव ! बड़भाग ।
कुशल, और संदेश सुनाओ यदि भेजा हो कर अनुराग ॥

'सचमुच हृदय तो विदीर्ण होता है, परन्तु उसके दो टूक नहीं हो जाते । (दो टूक हो जाते तो) मैं [illegible] हो जाती और मेरा मन भी मरकर चुप हो जाता । [illegible]-प्रलाप नहीं करता ।) विरहसे व्याकुल होनेपर मुझे [illegible] होना है, परंतु

(भीतरी चेतना मुझे त्यागकर नहीं जाती। हृदयमें विरहकी भीषण आग बढ़ती रहती है, जो हृदयको सदा जलाती रहती है। बड़भागी उद्धव ! तुम मेरे प्रियतमके पाससे आये हो। उनका कुशल-समाचार सुनाओ और उन्होंने अनुराग करके कोई संदेश भेजा हो तो उसे भी सुनाओ।'

उद्धवजीने श्रीराधाको उनके प्रियतम श्रीकृष्णका कुशल-संवाद सुनाकर फिर उनका निम्नलिखित मधुर गम्भीर संदेश सुनाया—

राधे ! क्या संदेश सुनाऊँ क्या कहलाऊँ मनकी बात।
छिपा नहीं तुमसे कुछ भी जब घुलामिला रहता दिनरात॥
नित्य अहैतुक हम दोनोंका, प्रिये ! प्रेम यह अति पावन।
नित्य निरन्तर बढ़ता रहता, सहज मधुरतम मनभावन॥
नहीं घटा सकते इसको हैं, कैसे भी शत-शत अपराध।
अनुनय-विनय— विषय-सुख मिथ्या नहीं बढ़ा सकते कर साध॥
निष्कारण, निरुपाधिक, निर्मल, नीरव, नित्य, इयत्ताहीन।
अपरिमेय, अनवद्य, अनिर्वचनीय, अनन्त, अकाम, अदीन॥

राधिके ! तुम्हें क्या संदेश सुनाऊँ, मनकी कौन-सी बात तुमको कहलाऊँ ! जब मैं दिन-रात तुमसे घुला-मिला ही रहता हूँ, तब मेरा कुछ भी तुमसे छिपा नहीं है। (मेरे सभी रहस्योंको तुम जानती हो।) प्रियतमे ! तुम्हारा और मेरा यह प्रेम नित्य है, अहैतुक है। (किसी भी हेतुसे बना हुआ घटने-बढ़नेवाला नहीं है !) यह अत्यन्त पवित्र करनेवाला है। यह मधुरतम मनभावन प्रेम नित्य-निरन्तर सहज ही बढ़ता रहता है। सैकड़ों-सैकड़ों कैसे भी अपराध इसको जरा भी नहीं घटा सकते और न झूठे अनुनय-विनय

तथा विषय-सुख ही इच्छा करके भी इसे बढ़ा सकते हैं। यह प्रेम कारणरहित है, उपाधिरहित है, मत्सररहित है, बाहर बोलनेवाला न होकर मनकी चीज है, नित्य है, सीमारहित है, परिमाणरहित है, दोषरहित है, वाणीमें नहीं आनेवाला है, अन्तरहित है, कामनारहित है और उदार है।

अति शुचि गुरुतर प्रेम दिव्य यह दुर्लभ सुधाविनिन्दक स्वाद।
वाणीमें ला कैसे कर दूँ, इसे अशुचि, लघु, मैं अस्वाद॥
मथुरामें रहकर रहता मैं प्रिये! तुम्हारे संतत पास।
इसी प्रेमसे बँधा, न पाता मैं अन्यत्र कदापि सुपास॥
पर मैं करता नित्य प्रेममें अपने अति अभावका बोध।
राधे! बढ़ते ऋण अपारका कभी न कर पाऊँगा शोध॥

'यह दिव्य प्रेम अत्यन्त पवित्र है, गुरुतर है और अमृतको भी निन्दनीय कर देनेवाले दुर्लभ स्वादसे पूर्ण है। इसे वाणीमें लाकर मैं कैसे अपवित्र, लघु और स्वादरहित बना दूँ। (जो प्रेम वाणीमें आ जाता है, वह अशुद्ध, क्षुद्र तथा स्वादशून्य हो जाता है।) प्रिये! मैं मथुरामें रहकर भी इस पवित्र प्रेममें बँधा हुआ सदा तुम्हारे पास रहता हूँ। मुझे अन्यत्र कहीं भी कभी आराम नहीं मिलता। परंतु राधे! मैं तुम्हारे प्रति अपने प्रेममें सदा ही अत्यन्त कमीका बोध करता हूँ, तुम्हारा मुझपर अपार ऋण बढ़ा ही जा रहा है। इस ऋणको मैं कभी भी चुका नहीं सकूँगा।'

प्रियतम श्रीकृष्णका प्रेम-संदेश सुनकर राधा कुछ समयके लिये भावमग्न हो गयीं। तदनन्तर उन्हें दिखायी दिया, स-

श्रीकृष्ण सदा मेरे पास ही तो रहते हैं। परंतु फिर भावान्तर-सा हो गया। वे उद्धवसे कहने लगीं—

उद्धव ! सत्य सुनाया तुमने, मुझको प्रियतमका संदेश।
घुले-मिले रहते मुझमें वे प्रियतम सर्व काल, सब देश॥
पर मैं प्रेमशून्य रसवर्जित रसमय दिव्य चक्षुसे हीन।
उन्हें, निरन्तर रहते भी मैं देख न पाती मलिना दीन॥
कभी विरह-व्याकुल हो जाती कर उठती तब करुण पुकार।
हा प्राणोंके प्राण ! दयित हे दीनदयार्द्र हृदय सुकुमार॥
यमुनापुलिन नाचते सुन्दर नटवर वेश धरे घनश्याम।
नहीं दिखाओगे क्या दुःखिनिको अब वह मुखचन्द्र ललाम॥

‘उद्धवजी ! तुमने प्रियतमका यह सच्चा संदेश ही सुनाया है। सत्य ही, वे प्रियतम सब समय और सर्वत्र मुझमें घुले-मिले ही रहते हैं। पर मैं प्रेमशून्य हूँ, मुझमें प्रेम-रसका सर्वथा अभाव है और मैं प्रेमानन्दमय दिव्य चक्षुओंसे रहित हूँ। अतएव निरन्तर पास रहनेपर भी मैं दीना-मलिना उन्हें देख नहीं पाती। कभी विरह-व्याकुल हो जाती हूँ—तब करुण-स्वरसे पुकारने लगती हूँ—‘हा मेरे प्राणोंके प्राण ! हे प्रियतम ! हे दीनदयार्द्र कोमलहृदय ! हे घनश्याम ! तुम सुन्दर नटवर वेश धारण करके यमुना-तटपर नाचा करते थे, क्या अब अपना वह ललित मुखचन्द्र इस दुःखिनीको नहीं दिखाओगे ?’

(मेरे दीन होकर ऐसा कहते ही——)

कोटि-कोटि विधु-सुधा मधुर हो सहसा उदय श्याम रस-सार।
लगते सतत अमित बरसाते शीतल परम सुधाकी धार॥

युगपत् बाह्याभ्यन्तर होता उनका मधुर मिलन अश्रान्त।
विरह-यन्त्रणाकी सब ज्वाला हो जातीं तुरंत ही शान्त॥
उठतीं प्रेम-सुधा-रस-सागरमें उत्ताल अनन्त तरंग।
हो जाते प्रफुल्ल सब अवयव पाकर प्रिय आलिङ्गन-संग॥
उठता नाच प्रेमसागर तब बढ़ जाती रस-राशि अपार।
विस्मृत हो जाता तब सब कुछ कौन कहाँ शरीर-संसार॥

'करोड़ों-करोड़ों चन्द्रमाओंकी मधुर सुधाको लिये रस-सार श्यामसुन्दर श्रीकृष्णचन्द्र प्रकट हो जाते हैं और अपरिमित रूपमें अविराम परम शीतल अमृतकी धारा बरसाने लगते हैं। बाहर और भीतर एक ही साथ उनका मधुर मिलन होता है। मैं और वे मिलते-मिलते कभी थकते ही नहीं। मेरी विरह-यन्त्रणाकी सारी ज्वालाएँ तुरंत ही शान्त हो जाती हैं। तब उस प्रेमामृतरस-समुद्रमें अनन्त ऊँची-ऊँची तरङ्गें उठने लगती हैं। मेरे सारे अवयव (आत्मा, बुद्धि, मन, इन्द्रिय) प्रियतमका मधुर आलिङ्गन तथा सङ्ग प्राप्त करके प्रफुल्लित हो जाते हैं। प्रेमसमुद्र नाच उठता है और उसमें रसकी अपार बाढ़ आ जाती है। उस समय कौन है, कहाँ है, शरीर है या संसार है, यह सब कुछ विस्मृत हो जाता है। (रह जाता है केवल रस-ही-रस—'रसो वै सः।' रसरूप श्यामसुन्दर)।

इसी समय सहसा फिर मन-मोहन हो जाते अन्तर्धान।
जल उठती फिर वही विरहकी ज्वाला, अति मन होता म्लान॥
फिर मनमें आती—मैं क्यों हूँ जलती उनको करके याद?
नहीं योग्य मैं उनके किंचित् दोषमयी नित भरी विषाद॥
रूप-शील-गुणहीन कहाँ मैं, कहाँ रूप-गुण शील-निधान।
कहाँ प्रेमसागर सुचित्र वे, कहाँ प्रेमविरहित अज्ञान॥

श्रीकृष्ण सदा मेरे पास ही तो रहते हैं। परंतु फिर भावान्तर-सा हो गया। वे उद्धवसे कहने लगीं—

उद्धव ! सत्य सुनाया तुमने, मुझको प्रियतमका संदेश।
घुले-मिले रहते मुझमें वे प्रियतम सर्व काल, सब देश॥
पर मैं प्रेमशून्य रसवर्जित रसमय दिव्य चक्षुसे हीन।
उन्हें, निरन्तर रहते भी मैं देख न पाती मलिना दीन॥
कभी विरह-व्याकुल हो जाती फिर उठती तब करुण पुकार।
हा प्राणोंके प्राण! दयित हे दीनदयार्द्र हृदय सुकुमार॥
यमुनापुलिन नाचते सुन्दर नटवर वेश धरे घनश्याम।
नहीं दिखाओगे क्या दुःखिनिको अब वह मुखचन्द्र ललाम॥

'उद्धवजी ! तुमने प्रियतमका यह सच्चा संदेश ही सुनाया है। सत्य ही, वे प्रियतम सब समय और सर्वत्र मुझमें घुले-मिले ही रहते हैं। पर मैं प्रेमशून्य हूँ, मुझमें प्रेम-रसका सर्वथा अभाव है और मैं प्रेमानन्दमय दिव्य चक्षुओंसे रहित हूँ। अतएव निरन्तर पास रहनेपर भी मैं दीना-मलिना उन्हें देख नहीं पाती। कभी विरह-व्याकुल हो जाती हूँ—तब करुण-स्वरसे पुकारने लगती हूँ—'हा मेरे प्राणोंके प्राण! हे प्रियतम! हे दीनदयार्द्र कोमलहृदय! हे घनश्याम! तुम सुन्दर नटवर वेश धारण करके यमुना-तटपर नाचा करते थे, क्या अब अपना वह ललित मुखचन्द्र इस दुःखिनीको नहीं दिखाओगे?'

(मेरे दीन होकर ऐसा कहते ही—)

कोटि-कोटि विधु-सुधा मधुर हो सहसा उदय श्याम रस-सार।
लगते सतत अमित बरसाते शीतल परम सुधाकी धार॥

युगपत् बाह्याभ्यन्तर होता उनका मधुर मिलन अश्रान्त।
विरह-यन्त्रणाकी सब ज्वाला हो जाती तुरंत ही शान्त॥
उठतीं प्रेम सुधा-रस-सागरमें उत्ताल अनन्त तरंग।
हो जाते प्रफुल्ल सब अवयव पाकर प्रिय आलिङ्गन-संग॥
उठता नाच प्रेमसागर तब बह जाती रस-राशि अपार।
विस्मृत हो जाता तब सब कुछ कौन कहाँ शरीर-संसार॥

'करोड़ों-करोड़ों चन्द्रमाओंकी मधुर सुधाको लिये रस-सार श्यामसुन्दर श्रीकृष्णचन्द्र प्रकट हो जाते हैं और अपरिमित रूपमें अविराम परम शीतल अमृतकी धारा बरसाने लगते हैं। बाहर और भीतर एक ही साथ उनका मधुर मिलन होता है। मैं और वे मिलते-मिलते कभी थकते ही नहीं। मेरी विरह-यन्त्रणाकी सारी ज्वालाएँ तुरत ही शान्त हो जाती हैं। तब उस प्रेमामृतरस-समुद्रमें अनन्त ऊँची-ऊँची तरङ्गें उठने लगती हैं। मेरे सारे अवयव (आत्मा, बुद्धि, मन, इन्द्रिय) प्रियतमका मधुर आलिङ्गन तथा सङ्ग प्राप्त करके प्रफुल्लित हो जाते हैं। प्रेमसमुद्र नाच उठता है और उसमें रसकी अपार बाढ़ आ जाती है। उस समय कौन है, कहाँ है, शरीर है या संसार है, यह सब कुछ विस्मृत हो जाता है। (रह जाता है केवल रस-ही-रस—'रसो वै सः।' रसरूप श्यामसुन्दर)।

इसी समय सहसा फिर मनमोहन हो जाते अन्तर्धान।
जल उठती फिर वही विरहकी ज्वाला, अति मन होता म्लान॥
फिर मनमें आती—मैं क्यों हूँ जलती उनको करके याद?
नहीं योग्य मैं उनके किंचित् दोषमयी नित भरी विषाद॥
रूप-शील-गुणहीन कहाँ मैं, कहाँ रूप-गुण शील-निधान।
कहाँ प्रेमसागर सुविज्ञ वे, कहाँ प्रेमविरहित अज्ञान॥

उद्धव ! इसी दुःख-सुख-सागरमें मैं रहती नित्य निमग्न ।
इतना है संतोष, वृत्ति अविरत रहती उनमें संलग्न ॥

'इसी समय मनमोहन श्यामसुन्दर सहसा अन्तर्धान हो जाते और विरहकी भारी ज्वालाएँ जल उठतीं । मेरा (खिला हुआ) मुख तुरंत अत्यन्त मलिन हो जाता । फिर मनमें आती—मैं उनके योग्य ही नहीं हूँ, (तब वे मुझसे क्यों मिलते ?) तब फिर उनकी याद करके मैं क्यों जलती रहती हूँ । मैं तो जरा भी उनके योग्य नहीं हूँ, दोषोंसे भरी हूँ और सदा विषादमें डूबी रहती हूँ । (जो उनकी हो जाती है, वह तो सदा आनन्दमें ही डूबी रहती है ।) कहाँ मैं रूप, शील तथा गुणोंसे रहित और कहाँ वे रूप, शील, गुणोंके भण्डार ! कहाँ वे प्रेमसमुद्र, महान् ज्ञानी और कहाँ मैं प्रेमसे सर्वथा रहित गँवार । उद्धवजी ! (अधिक क्या कहूँ) मैं इसी प्रकार निरन्तर दुःख-सुख-सागरमें डूबी रहती हूँ । पर इतना संतोष है कि (चाहे दुःखमें रहूँ, चाहे सुखमें) मेरी वृत्ति रहती है सदा अविराम उन 'प्रियतम श्यामसुन्दरसे ही चिपटी हुई ।' (इतना कहकर राधा प्रेमविह्वल हो गयीं और उधर—)

सुनते ही उद्धवके अन्तरमें उमड़ा अतिशय अनुराग ।
पड़े मुग्ध हो श्रीराधा-चरणोंमें तुरत चेतना त्याग ॥

'इतना सुनते ही उद्धवजीके हृदयमें अत्यन्त अनुराग उमड़ आया और वे मुग्ध होकर श्रीराधाजीके चरणप्रान्तमें अचेतन होकर गिर पड़े ।'

झाँकी ६८

उद्धव वृन्दावनसे लौटकर मथुरा आ गये। विरहानल-विदग्ध वृन्दावनवासियोंको मधुरतम प्रेमगोडाने उद्धवको इतना प्रभावित कर दिया कि वे अपने सारे ज्ञानके गौरवको भूलकर व्रजाङ्गनाओंकी चरणरज प्राप्त करनेके लिये वृन्दावनमें लता-गुल्म-ओषधि बननेको तैयार हो गये और मथुरा लौटकर व्रजवासियोंको, गोपाङ्गनाओंको खास करके श्रीराधारानीको विविध विचित्र मधुर मनोहर मनोवृत्तियों और भाव-भङ्गिमाओंका वर्णन श्रीश्यामसुन्दरको सुनाने लगे। उन्होंने श्रीराधारानीके भयानक विरह-संताप, भीषण विरह-पीड़ाजनित दुर्बलता और तनुता, करुणक्रन्दन, नित्य-मिलन, नित्य-संयोग-सुख, नित्यानन्दानुभूतिकी बातें सुनायीं। उन्होंने कहा—एक दिन श्रीराधारानी भावावेशमें रो-रोकर तुमसे पुकारकर कह रही थीं—

प्रानधन ! सुन्दर स्याम सुजान ।
छटपटात तुम बिना दिवस निसि मेरे दुखिया प्रान ॥
बिदरत हियो दरस बिनु छिन छिन दुस्सह दुखमय जीवन ।
अमिलनके अति घोर दाह तें दहत देह इंद्रिय मन ॥
कलपत बिलपत ही दिन बीतत, निसा नींद नहिं आवै ।
सुपन दरसहू भयौ असंभव, कैसें मन सचु पावै ॥
अब जनि बेर करौ मनमोहन, दया नैंकु हिय धारौ ।
सरस सुधामय दरसन दै निज, उर की अगिनि निवारौ ॥

'प्राणधन ! चतुरशिरोमणि श्यामसुन्दर ! मेरे ये दुखिया प्राण तुम्हारे वियोगमें दिन-रात छटपटाते रहते हैं। तुम्हारे दर्शनके बिना हृदय प्रतिक्षण विदीर्ण हो रहा है तथा जीवन असह्य दुःखमय हो

गया है। अमिलनकी अत्यन्त दारुण ज्वालासे देह, इन्द्रिय, मन—सभी दग्ध हुए जा रहे हैं। सारा दिन कलपते और विलाप करते बीतता है। रात्रिको नींद नहीं आती, इसलिये स्वप्नमें होनेवाले दर्शन भी असम्भव हो गये हैं। बताओ फिर यह मन कैसे सुखी हो? मनमोहन! अब देर न करो, हृदयमें तनिक दयाको स्थान दो और अपने सुधा-रसमय दर्शन देकर हृदयकी अग्निको शान्त कर दो।'

सखियाँ एकत्र हो गयीं। भाँति-भाँतिसे आश्वासन देकर समझाने लगीं। इधर श्रीराधारानीका भाव बदला। नये भावकी तरङ्ग आ गयी। उन्हें विरह-संतापमें ही परम सुखकी अनुभूति होने लगी।

वे बोलीं—

विरह दुख सजनी! अति सुखरूप।
प्रियतम की प्रिय सुधि को सुंदर साधन परम अनूप॥
गृह धन जन परिजन सबकी सुधि बिसरावत ततकाल।
हिय महँ लाय बसावत मंजुल मोहन सुधि सब काल॥
सकल अंग नित रहत रस भरित जगकी सुरत बिसार।
बिरहानल अति प्रबल करत जगकी ज्वाला को छार॥
दरसन रुचि पल पल बाढ़त, पल पल उत्कंठा जोर।
निसिदिन एक मधुर चिंतन, कब मिलिहैं नंदकिसोर॥

'सजनी! यह विरह-दुःख मेरे लिये अत्यन्त सुख-रूप है; क्योंकि यह प्रियतमकी प्रिय स्मृतिका परम अनुपम सुन्दर साधन है। यह घर, धन, कुटुम्ब, परिवार—सबकी स्मृतिको तत्काल भुला देता है और प्रियतम मोहनकी मञ्जुल स्मृतिको सदाके लिये लाकर हृदयमें बसा देता है। इससे सुख-सारस्वरूप पवित्र प्रेमामृतरस

हृदयमें सदा छलकता रहता है और जगतकी सुरत विसारकर समस्त अङ्ग नित्य दिव्य रससे भरे रहते हैं। यह श्यामसुन्दरका अत्यन्त प्रबल विरहानल जगतकी सारी ज्वालाको जलाकर भस्म कर देता है और उसे गम्भीर रूप-सुधा-समुद्रमें डुबाकर सुशीतल किये रखता है। पल-पल दर्शनकी रुचि बढ़ती है, पल-पल उत्कण्ठा उत्कट होती जाती है और रात-दिन एक ही मधुर चिन्तन बना रहता है कि मधुर मनोहर श्रीनन्दकिशोर कब मिलेंगे।'

उद्धवने भावविह्वल होकर न मालूम कितने श्रीराधा-भावतरङ्गोंके सुखमय स्पर्शसे श्रीश्यामसुन्दरको सुखी किया, और पता नहीं कितनी भीषण विरह-ज्वाला-जनित उनकी दुःख-दावानलमें भस्म कर देनेवाली दुर्दशाका वर्णन करके श्रीश्यामसुन्दरको विषादमग्न कर दिया। श्यामसुन्दर रस-सागरमें निमग्न हो गये, उनको वृन्दावनकी एक-एक बात प्रत्यक्ष दीखने लगी। अन्तमें उनके सामने वह दृश्य आया, जब बलरामजीके साथ रथपर सवार होकर सारे वृन्दावनको रोते-कलपते छोड़कर वे चल दिये थे। उस समयकी वृन्दावनकी दुःस्थिति समस्त वनके विषादमय दृश्य, पशु-पक्षियोंकी ही नहीं, समस्त प्रकृतिकी विकलता और अपनी कायव्यूहरूपा गोपाङ्गनाओंके सहित श्रीराधारानीकी करुणमूर्ति, उनका ज्वालामय अश्रुपात और करुणदृष्टियुक्त असहाय मुखमण्डल श्यामसुन्दरकी आँखोंके सामने आ गया। वे अपनेको घोर निष्ठुर और अपराधी समझकर रोने लगे और पश्चात्ताप करते हुए अपने प्रिय सखा उद्धवजीसे बोले—

२९६

ऊधौ ! निठुर मो सम कौन ?
कोटि कुलिसहु तें कठिन, तेहि छिन रह्यो धरि मौन ॥
ले चल्यौ बैठारि रथ मोहि क्रूर अति अक्रूर ।
दौरि आई व्रजवधू सब, रहीं नैकहिं दूर ॥
धैर्यमूरति राधिका, नहिं राखि पाई धीर ।
चली बिलपति करति क्रंदन, बहत दृग द्रुत नीर ॥
गिरति, उठति, दहाड़ मारति, उच्च स्वर बेहाल ।
दौरि आवति अति उतावरि जुग सहस पल काल ॥
उष्न अँसुअन ताप तें तरु लता सब मुरझाय ।
सूखि गइ पल माहिं, रोवत बिहगकुल बिलखाय ॥
वत्स-गो-वृष भए ब्याकुल, रहे करुन डकार ।
भये जीवन हीन-से सब, बहि चली दृग धार ॥
लगे रोवन नेह पूरित वन्यचर तजि धीर ।
नभ घटा घन छई असमय, बढ़यौ जमुना नीर ॥
बाँस बन में जनल प्रगट्यो, पड़ो बरति पषार ।
धरा हृदय तुरंत बिदर्‌यौ, परी प्रचुर दरार ॥
रोय दीन्ही प्रकृति सब, बुधजन बिसार्‌यौ बोध ।
रोकि लीन्हीं गोपिका गुरुजनन करि पथ रोध ॥
राधिका सब सखिनके सँग भई अति निरुपाय !
रही कातर दृगनि देखत गमन पथ असहाय ॥
हृदयबेधी देखि यह, नहिं फट्यौ हिय हहराइ ।
रह्यौ देखत हौं मृतक सो, दियो रथहि चलाइ ॥
उतरि रथ तें हौं पलक भर दई ताहि न धीर ।
कौन मो सो निरदई निर्मम निपट बेपीर ॥
राधिका की बिकल आकृति अकथ निज अपराध ।
छिन न भूलत मोय ऊधौ करत रुदन अगाध ॥

देखि पायौं सकृत पद युग, अश्रु जल सौं धोय।
करौं कछु हलकौ हियौ, नीरव नयन सौं रोय॥
किंतु डर यह लगत भारी, देखि रोवत मोय।
अमित हिय संताप, ताकौ अमल नहिं कछु होय॥

उद्धव ! मेरे समान निष्ठुर कौन होगा ! करोड़ों वज्रोंसे भी कठिन हूँ मैं। इसीसे उस समय मैंने मौन धारण कर लिया था। जब अक्रूर नामधारी क्रूर मुझे रथमें बैठाकर ले चला, उस समय तमाम व्रज-वधुएँ दौड़ी आयीं, वे थोड़ी ही दूर रही थीं। धैर्यकी मूर्तिमान् प्रतिमा राधिकाजी भी उस समय धैर्य धारण नहीं कर सकीं। वे विलाप करती, क्रन्दन करती चलीं; आँखोंसे बड़ी तेजीसे अश्रु-जल बह रहा था। वे बार-बार गिर पड़तीं; फिर उठतीं और दहाड़ मारकर ऊँचे स्वरसे रो उठतीं; बुरा हाल था उनका। वे बड़ी उतावलीसे दौड़ी चली आ रही थीं। एक-एक पलका समय युगके समान लग रहा था उन्हें, उनके नेत्रोंसे जो आँसुओंकी धारा बह रही थी, वह इतनी उष्ण थी कि उसके तापसे सब वृक्ष-वल्लरियाँ मुरझाकर पलक मारते-मारते सूख गयीं। समस्त पक्षी-समुदाय बिलख-बिलखकर रो उठा। गाय-बैल-बछड़े सब व्याकुल होकर अत्यन्त करुण स्वरसे डकारने लगे। वे जीवन-हीन-से हो गये और सबके नेत्रोंसे धारा बह चली। स्नेहसे पूरित समस्त वनचरवृन्द धीरज छोड़कर रोने लगा। आकाशमें असमय घनी घटा छा गयी, यमुनाजी क्षुब्ध हो गयीं, उनका जल बढ़ गया। बाँसके वनमें दावानल दहक उठा, जलती हवा चलने लगी। और धरणीका

हृदय विदीर्ण हो गया, उसमें जगह-जगह बहुत-सी दरारें पड़ गयीं। सारांश यह कि सम्पूर्ण प्रकृति रो उठी। ज्ञानियोंका बोध भी भुला गया।

'उसी समय बड़े-बूढ़े गोपोंने आकर रास्ता रोक लिया गोपियोंका। सम्पूर्ण सखियोंके सहित राधिकाजी अब नितान्त निरुपाय हो गयीं और वे असहाय होकर कातर नेत्रोंसे मेरे गमन-मार्गकी ओर देखती रह गयीं। इस हृदयभेदी दृश्यको देखकर भी मेरा हृदय हहराकर फट नहीं गया। मैं मुर्दा-सा देखता रहा और अक्रूरने रथ हाँक दिया। हाय! मैंने पलभरके लिये रथसे उतरकर उन्हें सान्त्वना भी नहीं दी। मेरे समान निर्दयी निर्मम और दूसरेकी पीड़ाको जरा भी न देखने-समझनेवाला बिल्कुल बेपीर और कौन होगा?

'उद्धव! राधिकाकी उस समयकी वह व्याकुल आकृति और मेरा वह अपराध—दोनों ही अकथनीय हैं। मैं क्षणभर भी उन्हें भूल नहीं पाता और मेरा हृदय असीम रूपमें जलता रहता है। यदि एक बार उनके चरणकमल-युगल देख पाऊँ तो उन्हें अश्रु-सलिलसे धोकर, नीरव नेत्रोंसे रोकर कुछ तो हृदयको हल्का करूँ, परंतु इसके लिये भी मुझे भारी भय यह लग रहा है कि मुझे रोते देखकर उनके हृदयमें अपरिमित संताप होनेके कारण कहीं उनका कुछ अनिष्ट न हो जाय!'

झाँकी ६६

प्रियतम श्यामसुन्दरके द्वारा स्तुति-वन्दनाकी तो श्रीराधाके मनमें कल्पना भी नहीं है, वरं वे प्रायः इसी विचारमें चिन्तित रहती हैं कि 'मैं सर्वथा श्यामसुन्दरके लिये अयोग्य हूँ; मुझमें कहीं कोई भी गुण, शील, सौन्दर्य नहीं है। श्रीश्यामसुन्दर अपने सरल स्वभावसे ही मुझपर इतनी प्रीति करते हैं। उन्हें यदि उनके रूप-गुण-शील-सौन्दर्य-स्वभाव-भावके अनुरूप कोई सुन्दरी रमणी प्राप्त होती तो वे वस्तुतः सुखका अनुभव करते।' कई बार तो उनको ऐसा लगता कि प्रियतम श्यामसुन्दरको मोहका विकार हो गया है। इस मोह-विकारको दूर करनेके लिये वे चिकित्साकी बात सोचतीं, ग्रह-दोषकी कल्पना करतीं और किसी अनुष्ठानका विचार करतीं। ऐसे ही विचारोंमें डूबी हुई एक दिन वे अपनी एक अन्तरङ्ग सखीसे कहने लगीं—

सखी ! मैं भई अति असहाय ?
त्रिभुवनमोहन स्याम हमारे भए बावरे हाय !!
सहज चतुर चूड़ामनि चिन्मय सहज महामतिमान ।
सकल ग्यान-आधार, ग्याननिधि आप स्वयं भगवान ॥
संभव भयौ असंभव, तिन कौं निश्चै भयौ विकार ।
भूले भले बुरे के सगरे या तें सोच-बिचार ॥
मो में सदा रूप-गुन-सुंदरताको सहज अभाव ।
तो भी बढ़त रहत नित मो तन तिनमें नित नव चाव ॥
मो में वृथा प्रेम करि मोहन रहे दुसहि सुख जान ।
कैसें मिटै मोह-व्याधी यह तिनकी विषम महान ॥
नहिं कोऊ दैवज्ञ, वैद्य लो करैं जथार्थ निदान ।
होय चिकित्सा, जा सौं प्रियतम बनैं स्वस्थ धीमान ॥

'सखि ! मैं अत्यन्त असहाय हो गयी हूँ—मेरी इस अवस्थामें कोई भी मेरी सहायता नहीं करता । हाय ! हाय ! तीनों लोकोंको मोहित करनेवाले मेरे श्यामसुन्दर बावले हो गये हैं । (भगवान् श्रीकृष्णकी परम बुद्धिमत्ता, उनकी ज्ञानगरिमा और साथ ही भगवत्ताकी ओर क्षणिक दृष्टि जाते ही वे कहती हैं—) वे त सहज ही चतुरोंके चूड़ामणि हैं, सहज ही महान् बुद्धिमान् हैं, इत ही नहीं, वे सम्पूर्ण ज्ञानके आधार, ज्ञाननिधि, आप स्वयं चिन भगवान् हैं । इतनेपर भी, यह असम्भव सम्भव हो गया । सर्वथा निर्विकारको निश्चय ही मस्तिष्क-विकार हो गया । इसी वे अच्छे-बुरेका सारा सोच-विचार भूल गये । यह सत्य है कि सहज ही रूप-गुण-सौन्दर्यका सदा अभाव है, तो भी मेरे

नित्य ही उनका नित्य-नवीन चाव बढ़ता रहता है ! सचमुच इसी मोह-विकारके वश ये मोहन व्यर्थमें ही मुझसे प्रेम करके दुःखको सुख जान रहे हैं। उनकी यह भयानक मोहकी बीमारी कैसे मिटे? न तो कोई ज्योतिर्विद् है, न कोई सद्वैद्य ही है जो उनके रोगका सच्चा-सच्चा निदान कर दे, जिससे चिकित्सा की जाय और मेरे वे प्रियतम श्यामसुन्दर पुनः स्वस्थ और बुद्धिमान् हो जायँ।'

मेरे कारन सुखबंचित, जो जग-जगके सुख-मूल।
कहा करूँ कछु बस नहिं मेरो, चुभत रहत हिय सूल॥
चतुरभुजा नारायन कौं, मैं पूजूँगी सविधान।
करुन पुकार सुनत ही तिनके पिघल जायँगे प्रान॥
दै बरदान करेंगे मो कौं कृपानिधान निहाल।
बरन करेंगे रस-सुखदायिनि सुंदरि कोउ नँदलाल॥
सुख साँचिलो मिलैगो तिन कौं पाइ सरस रसखान।
सुखी होयगौ तब मन मेरौ तिनकौ सुखिया जान॥
यौं निश्चै कर करन लगी यह जप तप परमानंद।
एक लालसा—पावैं प्रियतम अनुपम सुख स्वच्छन्द॥

'समस्त विश्व-ब्रह्माण्डके सुखके मूल वे आज मेरे ही कारण सुखसे वञ्चित हो रहे हैं। मैं क्या करूँ, हाय! मेरा कुछ भी वश नहीं चलता, पर मेरे हृदयमें सदा यह शूल चुभता रहता है। हाँ, अब मैं विधि-विधानसहित चतुर्भुज भगवान् नारायणका पूजन करूँगी। मेरी करुण पुकार सुनते ही उनके प्राण पिघल जायँगे; क्योंकि वे कृपानिधान हैं। वे मुझको मनमाना वरदान देकर निहाल कर देंगे

उनके वरदानसे प्रियतम नन्दलाल किसी रस और सुख देनेवाली सुन्दरीको वरण कर लेंगे। तब उस रसीली रसकी खानको पाकर उन्हें सच्चा सुख प्राप्त होगा। इस प्रकार उनको जब मैं सुखी जानूँगी तो मेरा मन परम सुखी हो जायगा। यों निश्चय करके राधाजी श्रीनारायणका जप तथा तप करने लगीं। उनके मनमें एक ही लालसा है—'मेरे प्रियतम श्यामसुन्दर स्वच्छन्दतासे अनुपम सुख प्राप्त करें।'

इस उद्देश्यसे वे नारायणकी प्रसन्नताके हेतु अनुष्ठान करने लगीं।

मधुर मधुर, सुंदर सुंदर प्रियतमके मोह-मिटनके काज।
करन लगी राधा आराधन नारायन कौ सब विधि साज॥
व्रत-उपवास-नेम तन धारे, एक हि रही लालसा जाग!
त्याग करैं मोहन जो करते मोह विवस मो में अनुराग॥
अतुलनीय सुख लाभ करैं वे पाय जोग्य संगिनि कौ संग।
तब मैं परम सुखी होऊँगी, नाच उठैंगे सगरे अंग॥
एक लगन सौं चली साधना प्रियतम-सुख-वाञ्छा मन लीन।
परम त्यागमय स्व-सुख-कल्पनालेश-गंध-संबंध-विहीन॥

'उन केवल मधुरिमामय मधुर और केवल सुन्दरतामय सुन्दर प्रियतम श्यामसुन्दरके मोहका नाश करनेके उद्देश्यसे श्रीराधा सब प्रकारकी सामग्री तथा पूजाके साधनसे सम्पन्न होकर श्रीनारायणकी आराधना करने लगीं। उन्होंने शरीरके लिये व्रत-उपवास तथा नियमोंको धारण कर लिया। उनके मनमें केवल एक यही लालसा

जग रही थी कि—'भगवान् नारायण ऐसी कृपा करें जिससे हमारे मोहन, जो मोहवश होकर मुझमें अनुराग रखते हैं, उसका त्याग करके और अपने योग्य किसी संगिनीका संग प्राप्त करके अतुलनीय सुख प्राप्त करें ।' ऐसा होनेपर मैं परम सुखी हो जाऊँगी, मेरे सारे अङ्ग आनन्दसे नाच उठेंगे ।'

'राधाकी यह साधना एक लगनके साथ चलने लगी । उनका परम त्यागमय मन केवल प्रियतमके सुखकी वाञ्छामें विलीन था और वे अपने सुखकी कल्पनाकी लेशमात्र गन्धके सम्बन्धसे भी रहित थीं ।'

विविध पवित्र भाव-तरङ्गोंमें और रस-लीला-लहरियोंमें दिन बीतने लगे । अन्यान्य विचित्र रस-लहरोंके साथ नारायणाराधनकी यह लहर भी लहराती रही । कुछ दिनों बाद अक्रूरजीके साथ प्रियतम श्यामसुन्दर मथुरा पधार गये । तदनन्तर वहाँसे यह निश्चित समाचार मिला कि उन्होंने मथुरामें ही रहनेका निश्चय कर लिया है और अब वे वृन्दावन नहीं लौटेंगे । तब श्रीराधाको बड़ी प्रसन्नता हुई और वे नारायणकी कृपासे अपनी मनोकामना पूर्ण हुई जान कर सखियोंसे बोलीं—

प्रानप्रिय मथुरा जाय बसे !
भयौ मनोरथ सफल पुरानौ हृदैके सन्ताप नसे ॥
जद्यपि ज्वाला जरी हिये बिच स्याम-बिरह की भारी ॥
दियौ परम सुख तदपि स्याम-सुख काम-जरनि कौं जारी ॥

पाइ सुजोग्य संगिनी सुख सौं करत होइँगे लीला।
बिसरि गये होंगे हरि मो सौं जो गुनरहित असीला॥
नारायनकी परम कृपा तैं मन की आसा पूरी।
राधा सुखी भई अब सब विधि करि प्रिय-सुख-सुध रूरी॥
काल अनन्त जरौं विरहानल, कह्यौ सखिन सौं राधा।
प्रियतम सुखी रहैं, निज नव सुख लाभ करैं बिनु बाधा॥

'सखी ! प्राणप्रियतमने मथुरामें स्थिर निवास कर लिया है—वे वहीं जाकर बस गये हैं। अच्छा ! आज मेरा पुराना मनोरथ सफल हो गया और मेरे हृदयके सारे संताप दूर हो गये। यद्यपि प्रियतम श्यामसुन्दरके विरहकी भयानक ज्वाला मेरे हृदयमें जल उठी, परंतु उस ज्वालाने, मेरे हृदयमें जो प्रियतम श्यामसुन्दरको सुखी देखनेकी कामनाकी आग जल रही थी, उस आगको जलाकर मुझे म सुख प्रदान किया। अब वे प्रियतम सुयोग्य संगिनीको प्राप्त रके सुखसे लीला करते होंगे। मुझ गुण-शीलरहितको वे हरि भूल गये होंगे। भगवान् नारायणकी कृपासे मेरी मनकी आशा पूरी हुई। आज राधा प्रियतम श्यामसुन्दरकी वर्तमान श्रेष्ठ सुखकी स्थितिका स्मरण करके सब प्रकारसे सुखी हो गयी है। सखियों राधाने कहा—'मैं अनन्तकालतक विरहानलसे जलती रहूँगी, पर प्रियतम श्यामसुन्दर सदा सुखी रहें और बिना किसी बाधाके नित्य नूतन सुख प्राप्त करते रहें।'

यह प्रियतम-सुख-लालसा और प्रियतम-सुखके लिये निज-वाञ्छा-परित्यागका परम त्यागमय आदर्श अतुलनीय है।

झाँकी ७०

यों तो श्रीराधा-माधवका कभी वियोग होता ही नहीं, पर प्रेमलीला-राज्यमें लीलामाधुरी-रसके आस्वादनार्थ वियोग-संयोगके कटु-मधुर, मधुर-मधुर प्रसङ्ग आते रहते हैं। मथुरा पधारनेके बाद एक दिन प्रियतम श्रीकृष्णका श्रीराधाजीसे मिलन हुआ। पहले बीती मधुर लीलाकी बातें चल पड़ीं। तब श्रीकृष्णके मथुरा पधारनेपर श्रीराधाजीके मनमें कैसे किन भावोंका उदय हुआ था और श्रीश्यामसुन्दरने प्रकट होकर क्या कहा था। श्रीकृष्णके पूछनेपर श्रीराधाजीने ऐसे एक प्रसङ्गको यों सुनाया—

नहीं तुम्हारा अन्तर देखा, देखे नहीं भीतरी भाव।
भूलभरी अपनी आँखोंसे देखा बाहरका बर्ताव॥
भूल गयी मैं शील तुम्हारा सहज नित्य निर्मल निर्दोष।
अपने दृष्टिदोषसे मुझको दिये दिखायी तुममें दोष॥
जाने लगे श्यामसुन्दर जब तुम मथुरा, हो रथ आरूढ़।
लगी समझने निष्ठुर निर्दय प्रेमशून्य मैं तुमको मूढ़॥

श्यामसुन्दर! मैंने न तो तुम्हारे हृदयको देखा, न तुम्हारे भीतरके भाव ही देखे। अपनी उन आँखोंसे, जो केवल भूलोंसे भरी थीं, तुम्हारा बाहरी बर्तावमात्र देखा। मैं तुम्हारे सहज दोषरहित नित्य निर्मल शील-स्वभावको भूल गयी और अपने ही दृष्टिदोषसे मुझको तुममें दोष दिखायी देने लगे। प्रियतम! जब तुम रथपर चढ़कर मथुराको जाने लगे, तब मुझ मूढ़ने यही

समझ लिया कि तुम प्रेमसे शून्य हो और बड़े ही निष्ठुर तथा निर्दय हो ।

यद्यपि तुम निज आत्मा-मनको छोड़ गये थे मेरे पास ।
लोगदिखाऊ तनसे जाते भी, थे अतिशय खिन्न, उदास ॥
मेरे शुद्ध प्रेमका करके जान-बूझकर तुम अपमान ।
जाते हो, माना, अकुलायी, लगी चोट भड़का अभिमान ॥
प्रेमरहित मिथ्या अभिमानिनि मुझ कुटिलाका यह दुर्भाव ।
डाल न सका तुम्हारे निर्मल प्रेम-सूर्यपर किंतु प्रभाव ॥

श्यामसुन्दर ! यद्यपि तुम अपने आत्मा तथा मनको मेरे ही पास छोड़ गये थे; (क्योंकि वे तो सदा मेरे पास ही रहते हैं, वस्तुतः शरीर भी मेरे ही साथ रहता है) तुम तो केवल लोगोंको दिखानेभरके लिये जा रहे थे। पर इस लोगदिखाऊ जानेमें भी तुमको अत्यन्त खेद हो रहा था और तुम उदास थे। किंतु मैंने तो यही माना कि तुम जान-बूझकर मेरे विशुद्ध प्रेमका तिरस्कार करके जा रहे हो । इससे मैं व्याकुल हो गयी । मुझे बड़ी चोट लगी और मेरा अभिमान (चोट खाकर) भड़क उठा (और मैं तुममें दोष-ही-दोष देखने लगी) । वस्तुतः मैं प्रेमसे रहित थी और प्रेमका मिथ्या अभिमान करनेवाली थी । मुझ कुटिलाका यह दुर्भाव था, परंतु मेरा यह दुर्भाव तुम्हारे निर्मल प्रकाशमय प्रेम-सूर्यपर तनिक भी असर नहीं डाल सका । (तुम्हारी प्रेम-ज्योतिमें इससे जरा भी मलिनता नहीं आयी ।)

हुए म्लान, नित नव-वर्धन-सौन्दर्य कमल-मुख किये मलान ।
अपराधी-से खड़े हो गये, मस्तक नीचा किये अमान ॥

नित्य अधर मुसकान मधुरयुत मदनमनोहर नित्य किशोर।
क्यों हो रहे खिन्न यों ? परमानन्दसिन्धु मुनि-मानस-चोर॥
देख सहम मैं गयी, मलिन मुख-शशि, मन उमड़ा दुःख अपार।
बोल न सकी, बह चली नेत्रोंसे उष्ण अश्रुकी धार॥

तुम सहसा प्रकट हो गये; परंतु तुम्हारा मुखकमल, जिसका सौन्दर्य नित्य नवीनरूपसे बढ़ता रहता है, म्लान हो रहा था। तुम अपराधीके सदृश मेरे सामने सर्वथा मान छोड़कर (दीन भावसे) सिर नीचा करके खड़े हो गये। तुम कामदेवके भी मनको हरण करनेवाले परम सुन्दर नित्य नवकिशोर हो, तुम्हारे अधरोंपर नित्य-निरन्तर मधुर मुसुकान खेलती रहती है, तुम परमानन्द-समुद्र हो और अपने सौन्दर्य-माधुर्यसे मुनियोंके मनको चुरा लेते हो। ऐसे तुम आज खिन्न क्यों हो रहे हो? तुम्हारे म्लान मुखचन्द्रको देखकर मैं सहम गयी; मेरे मनमें दुःख उमड़ आया, मेरी वाणी रुक गयी और मेरे नेत्रोंसे गरम-गरम आँसुओंकी धारा बह चली।

बोले—'अति अगाध प्रेमोदधि-रूपे हे राधे! सुखखान।
तेरे गुण-सौन्दर्य-सुधा अनुपमसे पोषित मेरे प्रान॥
तेरे बिना नहीं क्षण भर भी है मेरा सम्भव अस्तित्व।
तू ही मेरी जीवन-जीवन, तू ही मेरी जीवन-तत्त्व॥
आत्मा तो तू ही है मेरी, तू ही मेरी है आधार।
तुझसे ही मैं हूँ, तुझसे ही चलते ये सारे व्यापार॥

तब तुम बोले—'हे अत्यन्त अगाध प्रेमसमुद्र-रूपिणी राधे! हे मेरे सुखकी खान! तेरे अनुपम गुण और सुन्दरताकी सुधासे ही मेरे प्राणोंका पोषण होता है। तेरे बिना एक क्षणके लिये भी

अस्तित्व सम्भव नहीं है । तू ही मेरे जीवनकी जीवन है, तू मेरे जीवनकी तत्त्व है और मेरी आत्मा तो तू ही है, अतः तू ही मेरी आधार है । मैं तुझ (शक्ति) से ही (प्रकट) हूँ और तुझ (शक्ति) से ही मेरे ये समस्त लीला-व्यापार चल रहे हैं ।

नहीं गया था तुझे त्याग मैं, नहीं कहीं जा सकता त्याग ।
मेरे प्राणोंका है बस, परमाश्रय, तेरा ही अनुराग ॥
देह गया था मथुरा, सो भी लोकदृष्टिसे ही केवल ।
पर कर दिया उसीने आह्लादिनि ! तुझको अत्यन्त विकल ॥
तेरी इस व्याकुलतासे ये प्राण रो उठे, हो उद्विग्न ।
प्राणरूप-अनुराग इसीसे हुआ तुरंत शोकसंलग्न ॥
शोकाकुल अनुराग-प्राणमें उठी त्वरित आतुरता जाग ।
खड़ा कर दिया मुझे उसीने तेरे सम्मुख ला, बड़भाग ॥

असलमें मैं तुझे छोड़कर नहीं गया था, मैं तुझे छोड़कर कहीं जा भी नहीं सकता; क्योंकि मेरे प्राणोंका एकमात्र आश्रय तेरा अनुराग (प्रेम) ही है (तेरा प्रेम ही मेरे प्राण हैं) । मथुरा तो केवल शरीर गया था, सो भी केवल लोकदृष्टिसे ही । किंतु इस दिखाऊ देहगमनने ही हे आह्लादिनी ! तुझको अत्यन्त व्याकुल कर दिया । तेरी इस व्याकुलताने मेरे प्राणोंमें व्याकुलत उत्पन्न कर दी, वे उद्विग्न होकर रो पड़े । मेरे प्राण तो तेरा अनुरा ही हैं, अतः वह प्राणरूप प्रेम स्वयं उसी क्षण शोकमें डूब गया । उस शोकाकुल अनुरागमय प्राणमें तुरंत मिलनकी आतुरता उठी और हे बड़भागी ! उसीने मुझको तेरे सामने लाकर खड़ा दिया है ।

कर अपराध क्षमा हे करुणामयी ! क्षमामयि ! स्नेहागार !
निज-स्वरूप-महिमामयि स्वामिनि! नित्य सहज ही रहित विकार॥
हो प्रसन्न-मुख पेख सकृत इस अपने आश्रित तनकी ओर ।
ह्लादिनि ! मुझे हँसा दे, हँसकर, रससागरे ! न जिसका छोर॥
नहीं समझना कभी मुझे रंचक भर भी अपनेसे भिन्न ।
दिव्य अभिन्न प्रेमरस-सागर नित्य-निरन्तर अपरिच्छिन्न ॥

हे करुणामयी ! क्षमामयी ! हे स्नेहकी भण्डार ! मेरा अपराध क्षमा कर दे । हे अपनी स्वरूपमहिमासे पूर्ण स्वामिनि ! तू सहज ही सदा निर्विकार है । हे आनन्दमयी ! प्रसन्नवदन होकर एक बार अपने आश्रित इस तनको ओर निहार ले, जिस रसकी कोई सीमा नहीं है, ऐसे रसको समुद्र ! एक बार तू हँसकर मुझको हँसा दे । (अपसे) मुझको कभी भी तनिक भी अपनेसे पृथक् मत समझना । (तू और मैं दो नहीं हैं, हम दोनोंके रूपमें एक ही) दिव्य अभिन्न प्रेमरस-समुद्र नित्य-निरन्तर असीमरूपसे लहरा रहा है ।

प्रियतमके सुन वचन, भाव-दर्शन कर, मैं हो गयी निहाल ।
सदा बिकी बेमोल, पड़ी आतुर प्रिय-पद-पंकज तत्काल ॥

श्यामसुन्दर ! तुम प्रियतमके इन वचनोंको सुनकर और भावोंके दर्शन कर मैं कृतकृत्य हो गयी । मैं सदा ही बेमोल बिकी हुई हूँ । आतुर होकर तुम प्रियतमके पदपङ्कजमें पड़ गयी !

इस प्रेम-संवादकी व्याख्या सम्भव नहीं ।

झाँकी ७१

श्रीराधा एकान्तमें एक दिन अपनी एक अन्तरङ्ग प्रिय सखीसे बातचीत कर रही थी। बात चल रही थी मन-इन्द्रियके निग्रहपर। प्रसङ्गतः श्रीराधाने कहा—

समझ रही मैं लाभ चित्त-इन्द्रिय-निग्रहका सहित विवेक।
रोके भी रखती हूँ इनको, सदा सर्वदा रखकर टेक॥
जगत्-भोग सब असत्, तुच्छ अति, सभी नगण्य स्वर्गके भोग।
अपुनर्भवमें भी आकर्षित हो न चित्त करता संयोग॥

"सखि! मैं चित्त और इन्द्रियोंके निग्रहका लाभ समझती हूँ और रोककर (हठसे नहीं) विवेकपूर्वक सदा-सर्वदा अपनी टेकपर दृढ

रहकर इनको रोके रखती हूँ। (विवेक ही 'वैराग्य'का जनक है) अतः मर्त्यलोकके सब भोग तो अत्यन्त तुच्छ तथा असत् लगते ही हैं, स्वर्गके सभी भोग भी मेरे लिये नगण्य हैं। यहाँतक कि मेरा मन अपुनर्भव (मोक्ष) में भी आकर्षित होकर कभी संयोग नहीं करता (मोक्षकी ओर भी कभी मन नहीं जाता)।

पर प्रिय-गुणगण, मुरली-रव कर देते सभी अङ्ग चञ्चल।
श्रोत्र मानते नहीं, चित्त हो जाता विकल परम विह्वल॥
मन करता—यदि रोम-रोम हो जाता केवल श्रोत्र-स्वरूप।
पीता वह अविरत प्रिय-गुण-गण-मुरली-रव-रस मधुर अनूप॥

परंतु प्रियतम (श्यामसुन्दर) का गुणानुवाद तथा उनकी मुरली-ध्वनि कानोंमें पड़ते ही सभी अङ्गोंको चञ्चल कर देते हैं। कान मानते ही नहीं और चित्त (उन्हें सुनते रहनेके लिये) व्याकुल और परम विह्वल हो जाता है। उस समय मन करता है, यदि मेरे रोम-रोममें कान हो जाते—प्रत्येक रोम कर्णरूप बन जाता तो वे कान निरन्तर प्रियतमके गुणगणोंके तथा मुरलीरवके मधुर एवं अनुपम रसको ही पीते रहते।

कभी देख पाती यदि प्रियको मनमें उठती एक तरंग।
हो जाता यदि तुरत नयनमय मेरे तनका अंग प्रत्यङ्ग॥
फिर तो डूबी रहती मैं उस रूप अनन्त सिन्धुमें नित्य।
उठ जाती मायाकी सारी मेहनतें यह हाट अनित्य॥

सखि! यदि मैं कभी प्रियतम (श्यामसुन्दर) के दर्शन कर पाती हूँ, तब तो मनमें उसी समय यह एक अनन्य लालसा

झाँकी ७१

श्रीराधा एकान्तमें एक दिन अपनी एक अन्तरङ्ग प्रिय सखीसे बातचीत कर रही थी। बात चल रही थी मन-इन्द्रियके निग्रहपर। प्रसङ्गतः श्रीराधाने कहा—

समझ रही मैं लाभ चित्त-इन्द्रिय-निग्रहका सहित विवेक।
रोके भी रखती हूँ इनको, सदा सर्वदा रखकर टेक॥
मर्त्य-भोग सब असत्, तुच्छ अति, सभी नगण्य स्वर्गके भोग।
बन्धुजनोंमें भी आकर्षित हो न चित्त करता संयोग॥

सखि! मैं चित्त और इन्द्रियोंके निग्रहका लाभ समझती हूँ और केवल (हठसे नहीं) विवेकपूर्वक सदा-सर्वदा अपनी टेकपर दृढ

रहकर इनको रोके रखती हूँ। (विवेक ही 'वैराग्य'का जनक है) अतः मर्त्यलोकके सब भोग तो अत्यन्त तुच्छ तथा असत् लगते ही हैं, स्वर्गके सभी भोग भी मेरे लिये नगण्य हैं। यहाँतक कि मेरा मन अपुनर्भव (मोक्ष) में भी आकर्षित होकर कभी संयोग नहीं करता (मोक्षकी ओर भी कभी मन नहीं जाता)।

पर प्रिय-गुणगण, मुरली-रव कर देते सभी अङ्ग चञ्चल।
श्रोत्र मानते नहीं, चित्त हो जाता विकल परम विह्वल ॥
मन करता—यदि रोम-रोम हो जाता केवल श्रोत्र-स्वरूप।
पीता वह अविरत प्रिय-गुण-गण-मुरली-रव-रस मधुर अनूप ॥

परंतु प्रियतम (श्यामसुन्दर) का गुणानुवाद तथा उनकी मुरली-ध्वनि कानोंमें पड़ते ही सभी अङ्गोंको चञ्चल कर देते हैं। कान मानते ही नहीं और चित्त (उन्हें सुनते रहनेके लिये) व्याकुल और परम विह्वल हो जाता है। उस समय मन करता है, यदि मेरे रोम-रोममें कान हो जाते—प्रत्येक रोम कर्णरूप बन जाता तो वे कान निरन्तर प्रियतमके गुणगणोंके तथा मुरलीरवके मधुर एवं अनुपम रसको ही पीते रहते।

कभी देख पाती यदि प्रियको मनमें उठती एक तरंग।
हो जाता यदि तुरत नयनमय मेरे तनका अँग-प्रत्यङ्ग ॥
फिर तो डूबी रहती मैं उस रूप अनन्त सिन्धुमें नित्य।
उड़ जाती मायाकी सारी मोहमयी यह हाट अनित्य ॥

सखि ! यदि मैं कभी प्रियतम (श्यामसुन्दर) के दर्शन कर पाती हूँ, तब तो मनमें उसी समय यह एक अनन्य कामना-तरंग

जग उठती है कि तुरंत मेरे शरीरका एक-एक अङ्ग-अवयव नयनमय बन जाता, तब फिर मैं श्यामसुन्दरके उसी नित्य अनन्त रूप-सिन्धुमें ही डूबी रहती और तब यह (जगत्प्रपञ्चरूपी) मायाकी सारी मोहमयी अनित्य हाट ही उठ जाती (यह बाजार ही बंद हो जाता सदाके लिये) ।

प्रियकी प्रिय इच्छासे मैं करती यदि उनसे वार्तालाप ।
मनमें आता बने तुरत, सारा तन 'मुखमय' अपने-आप ॥
करती रहूँ बात प्रियतमसे मधुर-मधुर मैं अनियत काल ।
दिव्य प्रेमरस रहूँ पिलाती-पीती, होती रहूँ निहाल ॥

'सखि ! यदि प्रियतम (श्यामसुन्दर) की प्रिय इच्छासे मैं कभी उनसे बातचीत करने लगती हूँ, तब तो यह मनमें आता है कि मेरा सारा शरीर अपने आप ही तुरंत 'मुखमय' बन जाय और फिर मैं प्रियतमसे अनिश्चित कालतक मधुर-मधुर बात ही करती रहूँ: एवं इस प्रकार उन्हें दिव्य प्रेमरस पिलाती रहूँ, स्वयं पीती रहूँ और सदा कृतार्थ होती रहूँ ।'

सखिसे यों कह, ध्यानमग्न हो, राधा मौन हुई तत्काल ।
प्रकट हो गये तभी अमित सौन्दर्य-सुधा-सागर नँदलाल ॥

'सखीसे इस प्रकार कहकर राधाजी अचानक तत्काल ध्यानमग्न होकर मौन हो गयीं और बस, उसी समय अपार सौन्दर्य-सुधा-सागर नन्दकुमार प्रकट हो गये ।'



झाँकी ७२

मथुरामें भगवान् श्रीकृष्ण अपने सखा उद्धवसे वृन्दावनके माता-पिता नन्द-यशोदा, वहाँके गोप-बाल-सखा तथा प्रेममयी गोपाङ्गनाओंकी प्रेमचर्चा करते हुए उनसे कहने लगे कि 'वहाँके सभी लोग मुझसे बड़ा प्रेम करते हैं, उनका स्नेह सच्चा है, पर वे मेरे वियोगसे अत्यन्त दुखी हैं।' इस तरहकी बातोंको सुनकर उद्धवजीके मनमें उनको जाकर देखने तथा उन्हें उपदेश देकर उनका दुःख दूर करनेकी इच्छा उत्पन्न हुई, उसी प्रसङ्गका यह एक चित्र है—

माधव-सखा मनीषी उद्धव सहज ज्ञान-विज्ञान-निधान।
सदाचार-रत शुचितम नैष्ठिक वाग्मी सुप्रसिद्ध विद्वान॥
हरिसे सुनकर व्रजकी बातें उनके मन आया आवेश।
कहा—'मिटा दूँगा मैं उनका दुःख वहाँ जा, दे उपदेश'॥
बतलाया हरिने इङ्गितसे उद्धवको गोपिका-महत्त्व।
ज्ञान-गर्व कुछ था, इससे वे समझ नहीं पाये पर तत्त्व॥

माधवके सखा उद्धव मनीषी, सहज ही ज्ञान-विज्ञानके भण्डार, सदाचारपरायण, परम पवित्र, निष्ठावान्, सुवक्ता तथा सुप्रसिद्ध विद्वान् थे। भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा व्रजकी बातें सुनकर उनके मनमें आवेश आ गया और वे कहने लगे—'मैं वहाँ जाकर उपदेश देकर उनका सारा दुःख मिटा दूँगा।' (भगवान् श्रीकृष्णने जानेकी अनुमति दे दी; क्योंकि वे श्रीराधाजी तथा गोपाङ्गनाओंका महत्त्व तथा परम प्रेमतत्त्व उद्धवको दिखलाना चाहते

थे, परंतु जाते समय) संकेतसे उन्हें गोपदेवियोंका महत्त्व बतला भी दिया कि 'वे मेरे मनवाली हैं, मेरे प्राणोंवाली हैं, मेरे लिये अपने शरीरके सारे सम्बन्ध त्याग चुकी हैं—वे मुझको ही अपना प्रिय, प्रियतम और आत्मा मानती हैं ।—

ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः ।
मामेव दयितं प्रेष्ठमात्मानं मनसा गताः ॥

परंतु उद्धवजीमें कुछ ज्ञानका अभिमान था, इससे वे गोपाङ्गनाओंके परम तत्त्वको समझ नहीं पाये ।

पहुँचे व्रज बाबा-मैयासे मिले, देख उनका शुचि स्नेह ।
देख बालकोंकी गति उद्धव चकित थकित हो गये विदेह ॥
गलित-ज्ञान-गौरव उद्धव व्रज-वनिताओंके आये पास ।
देख श्याम-रसमय शुचि जीवन मन-ही-मन हो गये निराश ॥
क्या सिखलाऊँगा मैं इनको—प्रेम दिव्यतमकी ये मूर्ति ।
नहीं अभाव-कामना कुछ जिसकी हो इनको इच्छित पूर्ति ॥
त्यागमयी प्रतिमा ये सचमुच, कृष्ण-प्राण-मनसे संयुक्त ।
इनके सम्मुख ज्ञान छाँटना है निश्चय अज्ञान, अयुक्त ॥
तदपि गोपिका-मुख-निःश्रित रस-सुधा दिव्यका करने पान ।
मचल उठे ज्ञानी उद्धवके प्राण-चित्त-मन दोनों कान ॥

उद्धवजी वृन्दावन पहुँचकर नन्दबाबा और यशोदा मैयासे मिले, उनके पवित्र (निष्काम कृष्णसुखार्थ त्यागमय) स्नेहको देखकर और फिर गोपबालकोंकी (प्रेमपूरित) गतिविधि देखकर वे चकित हो गये, उनकी बुद्धि हार खाने लगी और वे देहकी सुधि भूल गये । उद्धवजीके ज्ञानका गौरव (अभिमान तो इन्हें देखकर ही) गलित हो गया, (फिर भी) वे गोपाङ्गनाओंके समीप आये ।

(उनकी सारी स्थितिका निरीक्षण-परीक्षण समास्वादन सादर किया ।) उन्होंने श्रीगोपाङ्गनाओंके पवित्र (सर्वथा आत्यन्तिक त्यागयुक्त) श्रीश्यामके प्रेम-रसमय जीवनको देखा । तब वे मन-ही-मन निराश हो गये । (ज्ञानदानकी कोई योग्यता ही अपनेमें नहीं दिखायी दी, उन्होंने निश्चय किया—) मैं इन प्रेमकी दिव्यतम (जहाँ किसी भी छोटे-बड़े कैसे भी स्वसुखकी किसी प्रकारकी भी कामना-वासनाकी कल्पनाका भी लेश-गन्ध नहीं है) मूर्तियोंको क्या ज्ञान सिखाऊँगा ! इनमें न किसी अभावकी कल्पना है और न कोई ऐसी कामना-कल्पना है जिसकी ये पूर्ति चाहती हों । सचमुच ये तो श्रीकृष्णके प्राणोंसे प्राणवती हैं और श्रीकृष्णके मनसे ही मनस्विनी हैं । ये प्रत्यक्ष त्यागमयी सजीव प्रतिमा हैं । इनके सामने ज्ञान बघारने जाना निश्चय ही अज्ञान है और अनुचित है । तथापि (उद्धवका मन वहाँसे जानेका नहीं हुआ) श्रीगोपाङ्गनाओंके श्रीमुखसे निकले हुए दिव्य रसामृतका पान करनेके लिये उन ज्ञानी उद्धवके प्राण, चित्त, मन और दोनों कान मचल उठे ।

अति विनम्र वे बैठ निकट, फिर करने लगे विविध आलाप ।
देख-देख गोपीजन-मुख-भंगिमा खो गये निजमें आप ॥

फिर वे अत्यन्त विनम्रताके साथ श्रीगोपाङ्गनाओंके समीप बैठकर विविध वार्तालाप करने लगे और बातचीतके समय श्रीगोपियोंकी मुखभंगिमाको निरख-निरखकर वे अपने-आपमें ही खो गये । (भूल गये—मैं कौन यहाँ हूँ । फिर चेत होनेपर—)

कहने लगे राधिकासे फिर कर अभिनन्दन आदर मान ।
हरिने भेजा मुझे आपको देने यह संदेश महान—

थे, परंतु जाते समय) संकेतसे उन्हें गोपदेवियोंका महत्त्व बतला भी दिया कि 'वे मेरे मनवाली हैं, मेरे प्राणोंवाली हैं, मेरे लिये अपने शरीरके सारे सम्बन्ध त्याग चुकी हैं—वे मुझको ही अपना प्रिय, प्रियतम और आत्मा मानती हैं।—

ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः।
मामेव दयितं प्रेष्ठमात्मानं मनसा गताः॥

परंतु उद्धवजीमें कुछ ज्ञानका अभिमान था, इससे वे गोपाङ्गनाओंके परम तत्त्वको समझ नहीं पाये।

पहुँचे व्रज बाबा-मैयासे मिले, देख उनका शुचि स्नेह।
देख बालकोंकी गति उद्धव चकित थकित हो गये विदेह॥
गलित-ज्ञान-गौरव उद्धव व्रज-वनिताओंके आये पास।
देख श्याम-रसमय शुचि जीवन मन-ही-मन हो गये निराश॥
क्या सिखलाऊँगा मैं इनको—प्रेम दिव्यतमकी ये मूर्ति।
नहीं अभाव-कामना कुछ जिसकी हो इनको इच्छित पूर्ति॥
त्यागमयी प्रतिमा ये सचमुच, कृष्ण-प्राण-मनसे संयुक्त।
इनके सम्मुख ज्ञान छाँटना है निश्चय अज्ञान, अयुक्त॥
तदपि गोपिका-मुख-निःश्रित रस-सुधा दिव्यका करने पान।
मचल उठे ज्ञानी उद्धवके प्राण-चित्त-मन दोनों कान॥

उद्धवजी वृन्दावन पहुँचकर नन्दबाबा और यशोदा मैयासे मिले, उनके पवित्र (निष्काम कृष्णसुखार्थ त्यागमय) स्नेहको देखकर और फिर गोपबालकोंकी (प्रेमपूरित) गतिविधि देखकर वे चकित हो गये, उनकी बुद्धि हार खाने लगी और वे देहकी सुधि भूल गये। उद्धवजीके ज्ञानका गौरव (अभिमान तो इन्हें देखकर ही) गलित हो गया, (फिर भी) वे गोपाङ्गनाओंके समीप आये।

उनकी सारी स्थितिका निरीक्षण-परीक्षण समास्वादन सादर किया।) उन्होंने श्रीगोपाङ्गनाओंके पवित्र (सर्वथा आत्यन्तिक त्यागयुक्त) श्रीश्यामके प्रेमरसमय जीवनको देखा। तब वे मन-ही-मन निराश हो गये। (ज्ञानदानकी कोई योग्यता ही अपनेमें नहीं दिखायी दी, उन्होंने निश्चय किया—) मैं इन प्रेमकी दिव्यतम (जहाँ किसी भी छोटे-बड़े कैसे भी स्वसुखकी किसी प्रकारकी भी कामना-वासनाकी कल्पनाका भी लेश-मात्र नहीं है) मूर्तियोंको क्या ज्ञान सिखाऊँगा ? इनमें न किसी अभावकी कल्पना है और न कोई ऐसी कामना-कल्पना है जिसकी ये पूर्ति चाहती हों। सचमुच ये तो श्रीकृष्णके प्राणोंसे प्राणवती हैं और श्रीकृष्णके मनसे ही मनस्विनी हैं। ये प्रत्यक्ष त्यागमयी सजीव प्रतिमा हैं। इनके सामने ज्ञान बघारने जाना निश्चय ही अज्ञान है और अनुचित है। तथापि (उद्धवका मन वहाँसे जानेका नहीं हुआ) श्रीगोपाङ्गनाओंके श्रीमुखसे निकले हुए दिव्य रसामृतका पान करनेके लिये उन ज्ञानी उद्धवके प्राण, चित्त, मन और दोनों कान मचल उठे।

अति विनम्र वे बैठ निकट, फिर करने लगे विविध व्यवहार।
देख-देख गोपीजन-मुख-महिमा खो गये निजमें आप॥

फिर वे अत्यन्त विनम्रताके साथ श्रीगोपाङ्गनाओंके समीप बैठकर विविध वार्तालाप करने लगे और बातचीतके समय श्रीगोपियोंकी मुखभंगिमाको निरख-निरखकर वे अपने-आपमें ही खो गये। (भूल गये—मैं कौन कहाँ हूँ। फिर चेत होनेपर—)

कहने लगे राधिकासे फिर कर अभिनन्दन आदर मान।
हरिने भेजा मुझे आपको देने यह संदेश महान॥

थे, परंतु जाते समय) संकेतसे उन्हें गोपदेवियोंका महत्त्व बतला भी दिया कि 'वे मेरे मनवाली हैं, मेरे प्राणोंवाली हैं, मेरे लिये अपने शरीरके सारे सम्बन्ध त्याग चुकी हैं—वे मुझको ही अपना प्रिय, प्रियतम और आत्मा मानती हैं ।—

ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः ।
मामेव दयितं प्रेष्ठमात्मानं मनसा गताः ॥

परंतु उद्धवजीमें कुछ ज्ञानका अभिमान था, इससे वे गोपाङ्गनाओंके परम तत्त्वको समझ नहीं पाये ।

पहुँचे व्रज बाबा-मैयासे मिले, देख उनका शुचि स्नेह ।
देख बालकोंकी गति उद्धव चकित थकित हो गये विदेह ॥
गलित-ज्ञान-गौरव उद्धव व्रज-वनिताओंके आये पास ।
देख श्याम-रसमय शुचि जीवन मन-ही-मन हो गये निराश ॥
क्या सिखलाऊँगा मैं इनको—प्रेम दिव्यतमकी ये मूर्ति ।
नहीं अभाव-कामना कुछ जिसकी हो इनको इच्छित पूर्ति ॥
त्यागमयी प्रतिमा ये सचमुच, कृष्ण-प्राण-मनसे संयुक्त ।
इनके सम्मुख ज्ञान छाँटना है निश्चय अज्ञान, अयुक्त ॥
तदपि गोपिका-मुख-निःश्रित रस-सुधा दिव्यका करने पान ।
मचल उठे ज्ञानी उद्धवके प्राण-चित्त-मन दोनों कान ॥

उद्धवजी वृन्दावन पहुँचकर नन्दबाबा और यशोदा मैयासे मिले, उनके पवित्र (निष्काम कृष्णसुखार्थ त्यागमय) स्नेहको देखकर और फिर गोपबालकोंकी (प्रेमपूरित) गतिविधि देखकर वे चकित हो गये, उनकी बुद्धि हार खाने लगी और वे देहकी सुधि भूल गये । उद्धवजीके ज्ञानका गौरव (अभिमान तो इन्हें देखकर ही) गलित हो गया, (फिर भी) वे गोपाङ्गनाओंके समीप आये ।

(उनकी सारी स्थितिका निरीक्षण-परीक्षण समास्वादन सादर किया।) उन्होंने श्रीगोपाङ्गनाओंके पवित्र (सर्वथा आत्यन्तिक त्यागयुक्त) श्रीश्यामके प्रेम-रसमय जीवनको देखा। तब वे मन-ही-मन निराश हो गये। (ज्ञानदानकी कोई योग्यता ही अपनेमें नहीं दिखायी दी, उन्होंने निश्चय किया—) मैं इन प्रेमकी दिव्यतम (जहाँ किसी भी छोटे-बड़े कैसे भी स्वसुखकी किसी प्रकारकी भी कामना-वासनाकी कल्पनाका भी लेश-गन्ध नहीं है) मूर्तियोंको क्या ज्ञान सिखाऊँगा ! इनमें न किसी अभावकी कल्पना है और न कोई ऐसी कामना-कल्पना है जिसकी ये पूर्ति चाहती हों। सचमुच ये तो श्रीकृष्णके प्राणोंसे प्राणवती हैं और श्रीकृष्णके मनसे ही मनस्विनी हैं। ये प्रत्यक्ष त्यागमयी सजीव प्रतिमा हैं। इनके सामने ज्ञान बघारने जाना निश्चय ही अज्ञान है और अनुचित है। तथापि (उद्धवका मन वहाँसे जानेका नहीं हुआ) श्रीगोपाङ्गनाओंके श्रीमुखसे निकले हुए दिव्य रसामृतका पान करनेके लिये उन ज्ञानी उद्धवके प्राण, चित्त, मन और दोनों कान मचल उठे।

अति विनम्र वे बैठ निकट, फिर करने लगे विविध आलाप।
देख-देख गोपीजन-मुख-भगिमा खो गये निजमें आप॥

फिर वे अत्यन्त विनम्रताके साथ श्रीगोपाङ्गनाओंके समीप बैठकर विविध वार्तालाप करने लगे और बातचीतके समय श्रीगोपियोंकी मुखभगिमाको निरख-निरखकर वे अपने आपमें ही खो गये। (भूल गये—मैं कौन कहाँ हूँ। फिर चार दिन [illegible]—)

कहने लगे राधिकासे फिर कर अभिनन्दन [illegible]।
हरिने भेजा मुझे आपको देने यह [illegible] मदन॥

गये साथ अक्रूर चचाके मथुरा कंसयज्ञके हेतु।
राज-रजक वधकर पहने सब नूतन वसन, उड़ा यशकेतु॥
धनुष भंग कर, मारे मुष्टिक तथा मल्ल चाणूर विशाल।
गज कुवलया कदन कर, मारे मामा कंस वीर विकराल॥
माता-पिता देवकीजी वसुदेव हुए फिर कारामुक्त।
प्रणत हुए उनके श्रीचरणोंमें हरि आदर-श्रद्धायुक्त॥
उग्रसेनका किया कृष्णने फिर सिंहासनपर अभिषेक।
त्राण किया द्विज-साधुवर्गका, रखी धर्मकी पावन टेक॥
अज, अविनाशी, अखिल भुवनपति, ब्रह्म परात्पर सर्वाधार।
दुष्कृतनाश, साधु-संरक्षण-हित लेकर मानव अवतार॥
करते धर्म-स्थापना वे पर रहते सदा स्वमहिमा-लीन।
चिदानन्दघन घट-घटवासी सम माया-ममतासे हीन॥
कहलाया है—मोह त्याग कर करो निरन्तर मनमें ध्यान।
ब्रह्मरूपका जो व्यापक निर्गुण निरुपाधि नित्य निर्मान॥

तदनन्तर श्रीराधाजीका अभिनन्दन तथा आदर-सम्मान करके उनसे कहने लगे कि—'श्रीकृष्णने मुझे आपको यह महान् संदेश देनेके लिये भेजा है। वे यहाँसे चाचा श्रीअक्रूरजीके साथ कंसके यज्ञमें सम्मिलित होनेके लिये गये थे। वहाँ जाकर उन्होंने राज्यके धोबीको मार दिया और नवीन राजकीय वस्त्र धारण करके अपने साहसके यशकी ध्वजा फहरा दी। फिर कंसके धनुषको तोड़कर बड़े विशालकाय और महान् बलवान् पहलवान् मुष्टिक और चाणूरको मार डाला। फिर कुवलयापीड़ नामक गजराजका कचूमर निकालकर बड़े भयानक वीर मामा कंसका वध किया। तदनन्तर उनके माता-पिता श्रीदेवकी और श्रीवसुदेवजी कारागारसे छूटे, तब

श्रीकृष्णने श्रद्धा-समादरके साथ उनके श्रीचरणोंमें प्रणाम किया। तत्पश्चात् श्रीकृष्णने उग्रसेनका सिंहासनपर राज्याभिषेक किया। इस प्रकार (असुरोंका संहार कर) ब्राह्मण तथा साधुहृदय लोगोंको बचाया और धर्मकी पवित्र मर्यादाकी रक्षा की। भगवान् श्रीकृष्ण अजन्मा, अविनाशी, अखिल विश्वब्रह्माण्डोंके अधीश्वर, परात्पर ब्रह्म हैं। वे ही सर्वाधार हैं। वे दुष्कृतोंका नाश और साधुओंका परित्राण करनेके लिये मानव-अवतारके रूपमें प्रकट होकर धर्मका संस्थापन करते हैं। ये सब करते हुए भी वे सदा अपनी महिमामें ही प्रतिष्ठित रहते हैं। वे चिदानन्दघन हैं। समरूपमें घट-घटमें निवास करते हैं और माया-ममतासे रहित हैं। उन्होंने आपलोगोंसे कहलाया है कि तुमलोग मोहका त्याग करके मेरे ब्रह्मरूपका ध्यान किया करो, जो सर्वव्यापक, निर्गुण, उपाधिरहित, नित्य और अनन्त है।'

सुन उद्धवकी बात विस्मय-विचकित राधिका।
हर्ष-प्रफुल्लित गात बोलीं—मधुर सरल वचन॥

उद्धवजीकी बात सुनकर (प्रियतम वृन्दावनविहारी श्रीकृष्णको नित्य समीप साथ देखनेवाली) श्रीराधिका एक बार तो आश्चर्य-चकित और थकित-सी रह गयीं (कि ये किसकी बात कहते हैं, प्रियतम हमारे साथ हैं, फिर ये किसका संदेश सुनाने आये हैं— फिर श्यामसुन्दर प्रियतमका संकेत पाकर) हर्ष-प्रफुल्लित शरीरसे (आनन्दमग्न होकर) बड़े मीठे मधुर और सरल (जिनमें कहीं भी बनावट नहीं है ऐसे) शब्दोंमें कहने लगीं—

उद्धवजी ! हम समझ न पायीं आप सुनाते किसका हाल ।
कौन ब्रह्म व्यापक :निर्गुण निरुपाधि कुवलयाके हैं काल ॥
आकर श्रीअक्रूर ले गये जिनको मथुरा अपने संग ।
रजक-प्राणहर, वसन पहनकर, किया जिन्होंने धनुका भंग ॥
होंगे कोई वीर जिन्होंने मार दिये मुष्टिक चाणूर ।
वध कर कंस नरेश किये वसुदेव-देवकीके दुख दूर ॥

उद्धवजी ! हम समझ नहीं पा रही हैं, आप यह किसकी बात हमें सुना रहे हैं। वे ब्रह्म व्यापक निर्गुण उपाधिरहित कौन हैं और कौन कुवलयापीडको मारनेवाले हैं ? श्रीअक्रूरजी जिनको मथुरा अपने साथ ले गये, जिन्होंने धोबीके प्राण हरणकर नये वस्त्र पहनकर धनुषका भङ्ग किया, जिन्होंने मुष्टिक और चाणूरको मार दिया एवं जिन्होंने कंसराजाका वध करके वसुदेव-देवकीके दुःख दूर कर दिये—वे कोई वीर पुरुष होंगे।

नहीं जानते उद्धवजी ! वे प्रियतम-श्याम नित्य मनचोर ।
रहते आठों याम हमारे भीतर-बाहर शुचि सब ओर ॥
ललित त्रिभङ्ग अङ्ग सुषमानिधि गुणनिधि शुचि सौन्दर्यनिधान ।
नव-नव नित माधुर्य, मुरलिधर, मोर मुकुटवर, शोभाखान ॥
गुंजमाल, लकुटी कर शोभित, अधरोंपर मधुमय मुसकान ।
वन-वन विचरण कर, देते वे जीवमात्रको शुचि रसदान ॥
आते सदा घरोंमें प्यारे, खाते वे नित माखन चोर ।
देख-देख उनकी लीला हम रहती नित आनन्दविभोर ॥
कालिन्दीके कूल खेलते, मधुर मनोहर रचते रास ।
निभृत निकुञ्जोंमें लीला कर मधुर बढ़ाते अति उल्लास ॥

उद्धवजी ! आप नहीं जानते (इसीसे हमें समझानेका प्रयास कर रहे हैं)। वे हमारे पवित्रतम प्रियतम हमारे मनको चुरानेवाले

श्यामसुन्दर तो सदा-सर्वदा आठों पहर हमारे भीतर-बाहर सब ओर बसे रहते हैं। आप किनकी बात कहते हैं—यह आप जानते हैं—हम अपने प्रियतमके रूप-गुण-वेश-आचरणका किञ्चित् वर्णन सुनाती हैं—(आप अपनेवालेसे मिलाकर देखिये, हमारे वे) श्यामसुन्दर तीन जगहसे बड़ी सुन्दर टेढ़ रखकर खड़े होते हैं, उनका एक-एक अङ्ग सुषमाका सागर है, वे गुणके समुद्र हैं, पवित्र सौन्दर्यके भण्डार हैं, उनमें नित्य नया-नया माधुर्य प्रकट होता है, वे मुरली धारण करते हैं, सिरपर मोरका मुकुट पहने हैं, शोभाकी खान हैं, उनके गलेमें गुंजाकी माला और हाथमें लकुटिया सुशोभित हैं, अधरोंपर सदा मीठी मुसकान छिटकी रहती है। वे वन-वन विचरण करके पशु-पक्षी-कीट-पतङ्ग—जीवमात्रको पवित्र रसका दान करते रहते हैं; वे प्रियतम सदा हमारे घरोंमें आते और चुरा-चुराकर माखन खाते हैं और हम उनकी लीलाएँ देख-देखकर आनन्दमें डूबी रहती हैं। वे यमुनाजीके किनारे नये-नये खेल खेला करते हैं, मधुर-मनोहर रास रचाया करते हैं और निभृत निकुञ्जोंमें मधुर-मधुर लीला करके अत्यन्त उल्लास बढ़ाते रहते हैं।

नहीं जानतीं हम वे क्या हैं? ब्रह्म परात्पर अज अखिलेश।
हम तो नित्य देखतीं पातीं उनको निज प्रियतम हृदयेश॥
श्रीवसुदेव-देवकीके हैं कौन सुपुत्र तेज-बल-धाम?
नन्द-यशोदाके लाला हैं मधुर हमारे वो घनश्याम!॥
वे न छोड़ सकते हैं हमको, हम न छोड़ सकतीं पल एक।
रहते सदा मिले वे प्रियतम, भूल सभी कुछ त्याग विवेक॥

नहीं चाहतीं भोग मोक्ष कुछ, करतीं नहीं धारणा-ध्यान ।
जब प्रियतमका सङ्ग प्राप्त है नित्य मधुरतम अव्यवधान ॥

हम नहीं जानती हैं कि वे ब्रह्म, परात्पर अजन्मा या अखिल विश्वपति क्या हैं ! हम तो सदा-सर्वदा अपने परम-प्रियतम हृदयेश्वरको ही देखती हैं और इसी रूपमें उनको प्राप्त करती हैं। श्रीदेवकी-वसुदेवजीके वे तेज-बलके धाम सुपुत्र कौन हैं। (हमें पता नहीं) हमारे तो मधुर-मधुर घनश्याम श्रीनन्द-यशोदाजीके लाला हैं। न वे हमको छोड़ सकते हैं, न हम उनको एक पलके लिये छोड़ सकती हैं। वे प्रियतम तो सब कुछ भूलकर विवेकका त्याग करके सदा हमसे मिले ही रहते हैं। जब कि हमें अपने प्रियतम श्यामसुन्दरका मधुरतम सङ्ग नित्य निर्बाध रूपसे प्राप्त है, तब हम न तो भोग या मोक्ष कुछ भी चाहती हैं और न हम धारणा या ध्यान ही करती हैं।

प्रियतम श्याम हमारे वे कर रहे यहींपर नित्य निवास ।
किनका क्या संदेश सुनें हम, हों फिर किसके लिये उदास ?॥
किसका ध्यान करें ? क्यों ? हम क्यों जानें किसी ब्रह्मका रूप।
मन-छाये—तन-मिले निरन्तर जब प्राणप्रिय श्याम अनूप ॥

वे हमारे प्रियतम श्यामसुन्दर नित्य यहींपर निवास कर रहे हैं। फिर हम किसका संदेश सुनें और फिर किसके लिये उदास हों ! हम किसका ध्यान करें। क्यों ध्यान करें और क्यों हम किसी ब्रह्मका रूप जानें, जब कि हमारे प्राणप्रिय अनुपम श्यामसुन्दर निरन्तर हमारे मनमें छाये और तनमें मिले रहते हैं।

सुनकर राधाकी रसवाणी पाकर पावन प्रेम-समीर।
ज्ञान-गर्व उड़ गया, हो उठे उद्धव सहसा प्रेम-अधीर॥

श्रीराधाजीकी इस रसमयी वाणीको सुनने और प्रेमकी पवित्र करनेवाली वायुका झोंका लगनेसे उद्धवजीका ज्ञान-गर्व उड़ गया और वे सहसा प्रेमके कारण अधीर हो उठे। (वे मन-ही-मन बोले—)

कैसा अनुपम त्याग परम है, कैसा परम दिव्य अनुराग।
कैसी प्रिय-उपलब्धि सहज है नहीं कहीं भी कुछ भी दाग॥
धन्य धन्य इन गोपीजनको, सफल इन्हींका जीवन श्रेष्ठ।
बने प्रेमवश सर्वात्मा भगवान् स्वयं हैं जिनके प्रेष्ठ॥
श्रुतियाँ ढूँढ़ रहीं नित जिसको पातीं नहीं कहीं संधान।
उस दुर्लभ मुकुन्दपदवीको पा प्रत्यक्ष भजा अम्लान॥
दुस्त्यज स्वजन-समूह—आर्य-पथका कर त्याग बिना आयास।
पाया माधवके शुचि हृदयभवनमें इसीलिये शुभ वास॥
मेरे लिये यही सर्वोत्तम लाभ, यही है परम श्रेय।
पड़ती रहे चरण-रज मेरे मस्तकपर इनकी—यह ध्येय॥
बन जाऊँ मैं वृन्दावनमें लता-गुल्म-औषधि सामान्य।
मिलती रहे सतत मुझको इनकी पदधूलि नित्य सुरमान्य॥

इन श्रीगोपाङ्गनाओंका कैसा अनुपमेय त्याग है, कैसा इनका परम दिव्य (वासना-लेश-गन्धशून्य) अनुराग है, कैसी सहज प्रियतम श्रीकृष्णकी प्राप्ति है। कहीं भी कुछ भी तनिक-सा भी कोई भी कलङ्क (कामना-वासनाकी कालिमा) नहीं है। इन गोपाङ्गनाओंको धन्य है, धन्य है, इन्हींका जीवन सफल है,

श्रेष्ठ है, जिनके प्रेमके वश होकर सर्वात्मा भगवान् स्वयं जिनके प्रेष्ठ—प्रियतम बने हैं। श्रुतियाँ जिसको ढूँढ़ रही हैं, पर कहीं पता नहीं पा रही हैं, उस दुर्लभ मुकुन्दपदवी—भगवान्के परम प्रेममय स्वरूपको इन्होंने प्रत्यक्ष प्राप्त करके सदा निर्दोष रूपसे उसकी सेवा की। भगवान्के लिये बिना ही प्रयासके इन्होंने अपने समस्त स्वजन-समुदायका तथा आर्य-पथका—आर्यकुल-मर्यादाका सहज ही त्याग कर दिया। इसीसे इन्होंने श्रीमाधवके पवित्र भगवत्स्वरूप हृदयमें मङ्गल निवास प्राप्त किया। मेरे लिये बस यही सर्वोत्तम लाभ है। यही परम श्रेय है कि इनकी चरणरज मेरे मस्तकपर पड़ती रहे—यही एकमात्र ध्येय है। (पर यह देव-मानव आदि शरीरोंमें भी मिलनी कठिन है (इसलिये) मैं वृन्दावनमें कोई साधारण-सी बेल—जड़ी-बूटी, ओषधिका छोटा-सा पौधा ही बन जाऊँ, जिससे मुझको सदा-सर्वदा इनकी देवताओंद्वारा भी सम्मान्य चरणधूलि मिलती रहे।

दिव्य मनोरथ कर यों मनमें कर राधापदमें प्रणिपात।
चले नमन कर गोपीजनको उद्धव हर्षित पुलकित गात॥

इस प्रकार मनमें दिव्य मनोरथ कर (और मानो सफलताका आशीर्वाद प्राप्त कर उद्धवजीने) राधाजीके श्रीचरणोंमें प्रणाम किया, फिर गोपाङ्गनाओंको नमन करके हर्षित और रोमाञ्चित-शरीर होकर वहाँसे मथुराको चले गये।

